दृष्टिकोण

कला, मानविकी एवं वाणिज्य की मानक शोध पत्रिका

प्रधान संपादक

डॉ. अश्विनी महाजन

दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

संपादक

प्रो. प्रसून दत्त सिंह

महात्मा गांधी केन्द्रीय विश्वविद्यालय, मोतिहारी

डॉ. फूल चन्द

दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

दृष्टिकोण प्रकाशन

वर्ष : 18 अंक : 2 ❑ मार्च–अप्रैल, 2026

दृष्टिकोण

संपादक मंडल

डॉ. अरुण अग्रवाल
ट्रेन्ट विश्वविद्यालय, पीटरबरो, ओंटारियो
डॉ. दया शंकर तिवारी
दिल्ली विश्वविद्यालय
डॉ. आनंद प्रकाश तिवारी
काशी विद्यापीठ विश्वविद्यालय, वाराणसी
डॉ. प्रकाश सिन्हा
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
डॉ. दीपक त्यागी
दीन दयाल उपाध्याय विश्वविद्यालय, गोरखपुर
डॉ. अरुण कुमार
रांची विश्वविद्यालय, रांची
डॉ. महेश कुमार सिंह
सिद्धू कान्हू विश्वविद्यालय, दुमका
डॉ. हरिश्चन्द्र अग्रहरि
अवधेश प्रताप सिंह विश्वविद्यालय, रीवा
डॉ. पूनम सिंह
बी.आर.ए. बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर
डॉ. एस. के. सिंह
पटना विश्वविद्यालय, पटना
डॉ. अनिल कुमार सिंह
जे.पी. विश्वविद्यालय, छपरा
डॉ. मिथिलेश्वर
वीर कुंअर सिंह विश्वविद्यालय, आरा
डॉ. अमर कान्त सिंह
तिलका मांझी भागलपुर विश्वविद्यालय, भागलपुर
डॉ. ऋतेश भारद्वाज
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
डॉ. स्वदेश सिंह
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
डॉ. विजय प्रताप सिंह
छत्रपति साहूजी महाराज विश्वविद्यालय, कानपुर

संपादकीय सम्पर्क:

220, पॉकेट-5, मयूर विहार, फेज-I, दिल्ली-110091
फोन : 011-22753916, 40564514, 35522994 Mobile: 9710050610, 9810050610
e-mail : editorialindia@yahoo.com; editorialindia@gmail.com; delhijournals@gmail.com

©Editorial India
Editorial India is a content development unit of Permanence Education Services (P) Ltd.

ISSN 0975-119X

नोट: पत्रिका में प्रकाशित लेखकों के विचार अपने हैं। उसके लिए पत्रिका/संपादक/संपादक मंडल को उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता। पत्रिका से सम्बंधित किसी भी विवाद के निपटारे के लिए न्याय क्षेत्र दिल्ली होगा।

सम्पादकीय

रुका हुआ वादा: संसद में क्यों फेल हुआ नारी शक्ति वंदन विधायक?

नारी शक्ति वंदन विधेयक, जिसे महिला आरक्षण विधेयक के नाम से भी जाना जाता है, शायद पहला संवैधानिक संशोधन विधेयक है जिसे नरेंद्र मोदी के प्रधानमंत्री बनने के बाद से संसद की मंजूरी नहीं मिल पाई है। इससे पहले एक बार, जीएसटी अधिनियम के संदर्भ में, जब राज्यसभा में बहुमत सरकार के पक्ष में नहीं था, तब भी सरकार ने शुरुआती बाधाओं के बाद विधेयक पारित कराने में सफलता प्राप्त कर ली थी। सवाल यह उठता है कि नारी शक्ति वंदन विधेयक इस बार क्यों पारित नहीं हो पाया, जिसके कारण सरकार को इससे संबंधित दो अन्य विधेयक भी वापस लेने पड़े?

इस स्थिति को समझने के लिए, हमें इस कानून को इसके ऐतिहासिक संदर्भ में देखना होगा। 2023 में, श्महिला आरक्षण अधिनियमश पारित किया गया, जिसमें लोकसभा और राज्य विधानसभाओं में महिलाओं के लिए 33 प्रतिशत आरक्षण का प्रावधान किया गया। यद्यपि यह कानून बन गया, लेकिन इसे तुरंत लागू नहीं किया जा सका। इसका कारण यह था कि अधिनियम में स्पष्ट रूप से कहा गया था कि यह नई जनगणना पूरी होने और उसके बाद परिसीमन प्रक्रिया (चुनावी क्षेत्रों की सीमाओं का पुनर्निर्धारण) के पूरा होने के बाद ही प्रभावी होगा। 2021 में होने वाली जनगणना कोविड-19 महामारी के कारण स्थगित कर दी गई थी। जनगणना प्रक्रिया वर्तमान में जारी है, लेकिन इसके 2028 से पहले पूरा होने की संभावना नहीं है। परिसीमन की बात करें तो, यह जनगणना पूरी होने के बाद ही किया जा सकता है, क्योंकि संसदीय और विधानसभा क्षेत्रों का सीमांकन जनगणना के आंकड़ों के संकलन के बाद ही संभव है। स्पष्ट रूप से, यह पूरी प्रक्रिया 2029 के आम चुनावों तक समय पर पूरी नहीं हो सकती।

इस संदर्भ में, महिला आरक्षण कानून के कार्यान्वयन में तेजी लाने के उद्देश्य से सरकार ने एक नया महिला आरक्षण विधेयक (नारी शक्ति वंदन विधायक) पेश किया। इसमें प्रावधान था कि लोकसभा और राज्य विधानसभाओं के निर्वाचन क्षेत्रों का परिसीमन 2011 की जनगणना के आधार पर किया जाएगा। हालांकि, दो-तिहाई बहुमत न मिलने के कारण यह विधेयक 17 अप्रैल 2026 को लोकसभा में पारित नहीं हो सका, जिससे निकट भविष्य में लोकसभा और राज्य विधानसभाओं में महिलाओं के लिए आरक्षण की संभावना समाप्त हो गई।

सत्ताधारी गठबंधन के भीतर और साथ ही महिलाओं में भी इस मुद्दे को लेकर तीव्र असंतोष है। ऐसे में यह जानना आवश्यक है कि क्या विपक्ष के पास इस विधेयक के विरुद्ध मतदान करने का कोई ठोस आधार है, या उनका विरोध केवल राजनीतिक उद्देश्यों से प्रेरित है। विपक्षी दल इस संबंध में क्या तर्क प्रस्तुत करते हैं? क्या संसद द्वारा अस्वीकृत विधेयक में संशोधन या स्पष्टीकरण करके महिला आरक्षण पर कोई समाधान निकाला जा सकता है?

विपक्ष ने संसद के अंदर और बाहर, इस विधेयक के संबंध में कई तर्क प्रस्तुत किए हैं, और इन तर्कों की प्रासंगिकता की जांच करना आवश्यक है। लोकसभा के जिन 230 सदस्यों ने विधेयक के विरुद्ध मतदान किया, उनमें कांग्रेस, डीएमके, समाजवादी पार्टी और तृणमूल कांग्रेस सहित अन्य दलों के सदस्य शामिल हैं। विपक्षी सदस्यों, विशेष रूप से डीएमके के सदस्यों का तर्क है कि यदि यह विधेयक पारित हो जाता है, तो परिसीमन प्रक्रिया में तमिलनाडु जैसे दक्षिणी राज्यों को सीटों का आनुपातिक हिस्सा और इस प्रकार लोकसभा में प्रतिनिधित्व खोना पड़ेगा। इसका कारण यह है कि उन्होंने जनसंख्या वृद्धि को सफलतापूर्वक नियंत्रित किया है, जबकि उत्तर प्रदेश और बिहार जैसे उत्तरी राज्यों, जिन्होंने तीव्र जनसंख्या वृद्धि का अनुभव किया है, को लाभ होगा।

इन चिंताओं को दूर करने के लिए, सरकार ने संसद में '50 प्रतिशत फॉर्मूला' प्रस्तावित किया, जिसके तहत लोकसभा सीटों की कुल संख्या 543 से बढ़कर 850 हो जाएगी, जबकि दक्षिणी राज्यों को उनकी वर्तमान संख्या के अनुपात में अतिरिक्त 50 प्रतिशत सीटें आवंटित की जाएंगी। इस फॉर्मूले के अनुसार, कर्नाटक को 28 के बजाय 42 सीटें; तमिलनाडु को 39 के बजाय 59; आंध्र प्रदेश को 25 के बजाय 38; तेलंगाना को 17 के बजाय 26; और केरल को 20 के बजाय 30 सीटें मिलेंगी। इससे पहले, एन.के. सिंह की अध्यक्षता में 15वें वित्त आयोग ने वित्तीय संसाधनों के आवंटन के लिए जनसंख्या के अलावा अन्य मापदंडों को भी महत्व दिया था, जिससे कम जनसंख्या होने के बावजूद इन राज्यों को पर्याप्त हिस्सा प्राप्त हुआ था। इस संदर्भ में, ऐसे आधारों पर अधिनियम का विरोध अनुचित प्रतीत होता है।

कांग्रेस और अन्य विपक्षी दलों का कहना है कि यद्यपि वे सैद्धांतिक रूप से महिला आरक्षण के विरोध में नहीं हैं, फिर भी इसे परिसीमन और जनगणना से जोड़ना अनुचित है। उनका तर्क है कि विधेयक ने महिला आरक्षण को राष्ट्रव्यापी परिसीमन प्रक्रिया से अटूट रूप से जोड़ दिया है - एक ऐसी प्रक्रिया जो उनके विचार में महिला सशक्तिकरण से असंबंधित है - और यह भारत के चुनावी मानचित्र को मौलिक रूप से बदलने का प्रयास है। हालांकि, यह तर्क सही नहीं ठहरता, क्योंकि 2023 के अधिनियम में भी आरक्षण के कार्यान्वयन को जनगणना और परिसीमन से स्पष्ट रूप से जोड़ा गया था। 17 अप्रैल 2026 को पारित निरस्त विधेयक में केवल इस प्रक्रिया को गति देने के लिए 2011 की जनगणना का उपयोग करने का प्रस्ताव था। यह परिसीमन का पहला मामला नहीं है। 1951 से, परिसीमन प्रत्येक जनगणना के बाद 1971 तक आयोजित की जाने वाली एक नियमित प्रशासनिक प्रक्रिया रही है। 1976 में, इस प्रक्रिया को 2001 तक रोक दिया गया था और बाद में संवैधानिक संशोधनों के माध्यम से इसे 2026 तक बढ़ा दिया गया। हालांकि 2002 और 2008 के बीच सीमित परिसीमन प्रक्रिया हुई थी, लेकिन इससे लोकसभा सीटों की कुल संख्या में कोई बदलाव नहीं आया। 2026 में परिसीमन पर लगी रोक हटने के साथ ही, अब एक नई परिसीमन प्रक्रिया होनी है।

इसलिए, कांग्रेस पार्टी का यह दावा कि महिला आरक्षण को परिसीमन से मनमाने ढंग से जोड़ा जा रहा है, निराधार प्रतीत होता है। परिसीमन संवैधानिक रूप से अनिवार्य प्रक्रिया है, न कि विवेकाधीन उपाय। यह एक आवश्यक प्रक्रियात्मक कदम है; इसके बिना, महिला आरक्षण और व्यापक राजनीतिक सशक्तिकरण का प्रभावी कार्यान्वयन मुश्किल है। यह तर्क कि सरकार इसे राजनीतिक बहाने के रूप में इस्तेमाल कर रही है, भी निराधार है, क्योंकि इस विधेयक के पारित होने के बावजूद अगली जनगणना के बाद परिसीमन तो होगा ही।

विधेयक का विरोध करके कांग्रेस ने निर्वाचन क्षेत्रों के पुनर्निर्धारण को केवल विलंबित किया है, रोका नहीं है। जनगणना के बाद परिसीमन अनिवार्य रूप से होगा, संभवत: 2028 तक। इसके अलावा, ओबीसी, दलित और आदिवासी प्रतिनिधित्व में बदलाव से संबंधित चिंताओं का कोई ठोस आधार नहीं है, क्योंकि ये संवैधानिक रूप से संरक्षित हैं।

कुल मिलाकर, विपक्ष की आपत्तियां भ्रामक प्रतीत होती हैं, जो महिलाओं के लिए आरक्षण को लागू करने में देरी का कारण बन रही हैं।

– संपादक

इस अंक में

दल-बदल की राजनीति–डॉ० राम कृष्ण साहू 1
वर्तमान परिप्रेक्ष्य में - भारतीय नारी और परिवर्तित स्थिति–डॉ० राम नरेश ठण्डन 5
भारत में मतदान व्यवहार महिलाओं की स्थिति–डॉ० संध्या चौधरी 8
बुंदेलखंड की जनजातियों का साहित्य एवं संस्कृति–डॉ० ज्योति गौतम 10
छत्तीसगढ़ में अत्यधिक मद्यपान के कारणों का विश्लेषणात्मक अध्ययन–अंकित साव 15
भारत में हरित क्रांति से उत्पन्न पर्यावरणीय समस्याएं: एक अध्ययन–डॉ० गुड़िया कुमारी 19
भारत की भू-राजनीति: वैश्विक शक्ति संतुलन और रणनीतिक परिप्रेक्ष्य–डॉ० गौतम कुमार 22
मुगलकालीन स्थापत्य काल: वर्तमान भारत में दशा और दिशा–सावन कुमार 28
निराला की कविताओं में भावानुभूति–डॉ० पंकज कुमार झा 31
हिंदी रंगमंच और राष्ट्रीय चेतना–डॉ० देवेन्द्र शुक्ल 36
विमुद्रीकरण का भारतीय अर्थव्यवस्था पर प्रभाव और राजनीतिक संकट–डॉ० ममता कुमारी 39
यजमानी ब्राह्मणों के बीच स्वार्थ संघर्ष और विभेदन–पूजा सिंह; प्रो० रेणु कुमारी 42
डिजिटल भारत में चुनावी सुधार: एक अध्ययन–कुमारी प्रियंका शास्त्री; डॉ० शैलेन्द्र श्रीवास्तव 46
पंचायती राज और ग्रामीण महिला सशक्तीकरण–डॉ० कमलेश कुमार 50
बिहार की कृषि: किसान, आजीविका और भूमि उपयोग–देव नारायण महतो 54
स्वामी दयानंद और आर्य समाज: दशा और दिशा–सुमित कुमार 59
अदम गोंडवी की ग़ज़लों में स्त्री विषयक दृष्टिकोण–शिरोमणी यादव; डॉ० प्रभात रंजन 61
काशी का धार्मिक एवं सांस्कृतिक महत्व : एक ऐतिहासिक एवं समकालीन अध्ययन–प्रो० प्रसून दत्त सिंह 64
प्राचीन भारत में निजता (प्राइवेसी)–अनुराग मिश्र 70
आधुनिकीकरण के दौर में थारू जनजाति का सांस्कृतिक रूपांतरण: एक समाजशास्त्रीय अध्ययन–अम्बेदकर कुमार साहु 74
लोकतंत्र और सार्वजनिक नीतियों पर मीडिया का प्रभाव: एक विश्लेषण–शिव चन्द्र श्रीवास्तव 80
यशपाल के 'झूठा-सच' उपन्यास की समीक्षा–डॉ० रीना देवी 84
भारतीय लोकतंत्र में न्यायपालिका की समकालीन भूमिका एवं विधायिका-कार्यपालिका के साथ उसका समन्वय–डॉ० अलका कुमारी 87
बिहार में कृषि सांख्यिकी की उभरती प्रवृतियाँ–रवि रंजन 93
बिहार के ग्रामीण दिव्यांगों की सामाजिक समस्याएं एवं चुनौतियां : एक समाजशास्त्रीय अध्ययन–डॉ० रोहित कुमार 97
गांधीवादी ग्राम विकास की अवधारणा–प्रो० विवेकानंद तिवारी 104
भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन की पृष्ठभूमि और परंपरा: एक अध्ययन–डॉ० अविनाश कुमार 107
जनजाति महिलाओं के सामाजिक विकास हेतु छत्तीसगढ़ राज्य सरकार की संचालित योजनाएँ–लोक सिंह; डॉ० यू.एस. श्रीवास्तव 111
परीक्षा और मूल्यांकन में नवाचार: खुली किताब परीक्षा और मूल्यांकन प्रणाली–प्रो० ममता दीक्षित; ममता देवी 118
हिन्दी साहित्य में स्त्री-विमर्श की वर्तमान दिशा और भविष्य–शिव शंकर प्रसाद सिंह 124
ज्ञान परम्परा में धर्म की प्रासंगिकता–युवराज धवन 128
रघुवीर सहाय के काव्य में चित्रित नारी संवेदना–डॉ० जागीर नागर 130
समकालीन हिंदी कविता में सामाजिक संवेदना के विविध स्वर–डॉ० सुमन रानी 135
विभाजन की त्रासदी और 'तमस': सांप्रदायिकता, मानवीय पीड़ा और सामाजिक यथार्थ का आलोचनात्मक अध्ययन
–सोनाली कुमारी; डॉ० अखिलेश कुमार 141
अनुराधा बेनीवाल की यात्रा-दृष्टि और समकालीन स्त्री विमर्श–नेहा कुमारी 145

दल-बदल की राजनीति

डॉ० राम कृष्ण साहू

अतिथि सहा.प्राध्यापक, नवीन शास. महाविद्यालय भिंभोरी, जिला- बेमेतरा (छ.ग.)

प्रस्तावनाः-

'दल-बदल' भारतीय राजनीति की आधुनिक में बहुत ही भयंकर समस्या है। भारतीय राजनीति में सर्वाधिक प्रचलित राजनीतिक खेल के दल बदल के नाम से जाना जाता है। भारतीय लोकतंत्र में जनता अपना राजनीतिक विश्वास किसी विशेष व्यक्ति या राजनीतिक दल के मतदान द्वारा व्यक्त कर संसद या विधानसभा के लिए निर्वाचित करती है और आशा करती है वह व्यक्ति उनके विश्वास के अनुसार ही कार्य करेगा, लेकिन धन और पद के लालच में यह जनप्रतिनिधि जनता के विश्वास को तोड़ते हुए पक्ष परिवर्तन अर्थात् पार्टी छोड़कर अन्य राजनीतिक दल में चले जाते हैं। आज की विषम परिस्थितियों को देखते हुए दल विहीन लोकतंत्र ही भारत के लिए श्रेयस्कर हो, ऐसा लोकतंत्र जिसका आदर्श समाज हो, तथा जिसमें विरोधी और प्रतियोगिता का स्थान व्यापक लोक कल्याण से प्रेरित सहयोग और सामंजस्य की भावना ने लिया हो । दल-बदल भारतीय राजनीति में एक दल के सदस्यों को दूसरे दल में शामिल होने के लिए आमंत्रित करने की अवधारणा है। यह अक्सर विधानसभा चुनावों के समय उठाया जाता है, जब एक दल अन्य दलों से समर्थ न की तलाश में होता है या फिर बहुमत नहीं होता है। इसके तहत, दल के सदस्यों को समर्थन से दूसरे दल को सरकार बनाने में मदद मिल सके।

दल-बदल का साधारण अर्थ एक दल से दूसरे दल में सम्मिलित होना है। संविधान के अनुसार भारत में निम्नलिखित स्थितियाँ सम्मिलित हैं जिसमें -

1. किसी विधायक या सांसद का किसी दल के टिकट पर निर्वाचित होकर उसे छोड़ देना और अन्य किसी दल में शामिल हो जाना।
2. मौलिक सिद्धांतों के आधार पर विधायक या सांसद का अपनी पार्टी की नीति के विरुद्ध योगदान करना।
3. किसी दल को छोड़ने के बाद विधायक या सांसद का निर्दलीय रहना।
4. परन्तु पार्टी से निष्कासित किए जाने पर यह नियम लागू नहीं होगा।

सारी स्थितियों पर यदि विचार करें तो दल बदल की स्थिति तब होती है जब किसी भी दल के सांसद या विधायक अपनी मर्जी से पार्टी छोड़ते हैं या पार्टी व्हिप की अवहेलना करते हैं। इस स्थिति में उनकी सदस्यता को समाप्त किया जा सकता है और उन पर दल बदल निरोधक कानून भी लागू किया जा सकता है।

पर यदि किसी पार्टी के एक साथ दो तिहाई सांसद या विधायक (पहले ये संख्या एक तिहाई थी) पार्टी छोड़ते हैं तो उन पर ये कानून लागू नहीं होगा पर उन्हें अपना स्वतन्त्र दल बनाने की अनुमति नहीं है वो किसी दूसरे दल में शामिल हो सकते हैं।

दल बदल के लिए एक प्रसिद्ध जुमला प्रयोग किया जाता है जो इस प्रकार है 'आया राम गया राम'।

भारतीय इतिहास में यह जुमला हेय की दृष्टि से देखा जाता है इस स्लोगन का प्रतिपादन चौथे आम चुनावों के बाद हुआ था वर्तमान में भारतीय राजनीति में बहुत से दलों का निर्माण हो चुका है जो एक चिंता का विषय है अगर सभी लोग राजनीति में अपनी भागीदारी दिखाने लगेंगे तो जनता का विकास संभव नहीं हो पाएगा क्योंकि राजनीति में शिक्षित लोगों का होना आवश्यक है। दल छोड़कर गए सदस्य के खिलाफ कार्रवाई करने का अधिकार सदन के अध्यक्ष के पास होता है।

'दल-बदल' भारतीय राजनीति की आधुनिक में बहुत ही भयंकर समस्या है।

भारतीय राजनीति में सर्वाधिक प्रचलित राजनीतिक खेल को दल बदल के नाम से जाना जाता है। भारतीय लोकतंत्र में जनता अपना राजनीतिक विश्वास किसी विशेष व्यक्ति या राजनीतिक दल के मतदान द्वारा व्यक्त कर संसद या विधानसभा के लिए निर्वाचित करती है और आशा करती है वह व्यक्ति उनके विश्वास के अनुसार ही कार्य करेगा, लेकिन धन और पद के लालच में यह जनप्रतिनिधि जनता के विश्वास को तोड़ते हुए पक्ष परिवर्तन अर्थात् पार्टी छोड़कर अन्य राजनीतिक दल में चले जाते हैं। आज की विषम परिस्थितियों को देखते हुए दल विहीन लोकतंत्र ही भारत के लिए श्रेयस्कर हो, ऐसा लोकतंत्र जिसका आदर्श समाज हो, तथा जिसमें विरोधी और प्रतियोगिता का स्थान व्यापक लोक कल्याण से प्रेरित सहयोग और सामंजस्य अथवा सर्वोदय की भावना ने लिया हो।

यह प्रथा भारतीय राजनीति में काफी आम हो गई है। इसे कुछ लोग राजनीतिक दलों के तख्तापलट या आत्मसमर्पण के रूप में भी देखते हैं। इसके साथ ही, इस प्रथा के खिलाफ भी कुछ लोग उठाते है और उन्हें इसका देश की लोकतंत्र में एक असंवैधानिक अभ्यास मानते हैं। दल बदल भारतीय राजनीति में एक विवादास्पद विषय है, जिस पर अलग-अलग राजनीतिक दलों की अलग-अलग राय होती है।

भारत में राजनीतिक दल-बदल की परिस्थिति का इतिहास:-

भारत में राजनीतिक दल-बदल की प्रथा बहुत पुरानी है। इस प्रथा का इतिहास भारत के विभिन्न राज्यों और केंद्र शासित प्रदेशों में विभिन्न हो सकता है। 1967 से पहले केंद्र और राज्य में कांग्रेस की सरकार था। एक ही दल की सरकार होने के कारण केंद्र एवं राज्य में राजनीतिक एकरूपता पायी जाती थी।जब दल विपरीत समर्थन के बाद सरकार का गठन करने की कोशिश कर रहे थे। 1967 के बाद कुछ राज्यों में गैर कांग्रेसी सरकार आई। इसके बाद, दल बदल की प्रथा अन्य राज्यों में भी फैलने लगी। उदाहरण के लिए, 1977 में जनता दल की सरकार के बाद, कांग्रेस पार्टी ने कुछ राज्यों में दल बदल का फायदा उठाया था। भारत में 1990 के दशक में आर्थिक बुराइयों और उसके परिणाम स्वरूप उभरी राजनीतिक समस्याओं के चलते दल बदल की प्रथा बहुत ज्यादा हुई। उस समय, कुछ राज्यों में अखिल भारतीय वैश्य व समाजवादी पार्टी जैसे पार्टियों ने अन्य दलों के समर्थन से सरकार बनाई थी। अंतत:, 2019 के लोकसभा चुनाव में भारतीय जनता पार्टी ने एक मजबूत बहुमत हासिल किया था, जिससे कि इस दौरान दल बदल की प्रथा कम हो गई थी। हालाकि, इससे पहले भी भारत में दल बदल की प्रथा बहुत ज्यादा होती थी और इसे एक सामान्य रूप से स्वीकारा जाता था। इसके अलावा, भारत में दल बदल की प्रथा कभी-कभी राजनीतिक समझौतों के दौरान भी देखी जाती है। दल-बदल की प्रथा अक्सर दलों के राजनीतिक और संगठनात्मक स्तर पर नकारात्मक प्रभाव डालती है, जिससे कि दलों की विश्वसनीयता पर एक बार फिर सवाल उठता है। इस प्रथा को कुछ लोग राजनीतिक अस्थिरता का कारण मानते हैं।

राजनीतिक दल-बदल के कारण -

- समर्थन गठबंधन:- दल बदल का एक कारण यह है कि कुछ दल अन्य दलों के समर्थन से सरकार बनाने का प्रयास करते हैं। वे दल जो अभी सत्ता में हैं उनसे समर्थन नहीं प्राप्त कर पाते तो उन्हें दूसरे दल से समर्थ न लेना पड़ता है।
- प्रभावशाली दलीय नेतृत्व का अभाव:- स्वाधीनता संग्राम के प्रभावशाली व्यक्तित्व वाले नेता सक्रिय राजनीति के क्षेत्र से लगभग विदा हो चुके थे और किसी भी राजनीतिक दल में ऐसा शिखर व्यक्तित्व नहीं रहा था जो उसके सदस्यों को बाँध कर रख सके। काँग्रेस और गैर-काँग्रेसी नेता एक ही स्तर के थे , अत: राष्ट्रीय व्यक्तित्व के अभाव में दलीय सदस्यों पर नियन्त्रण कम हो गया।
- कांग्रेस की दल-बदल नीति में परिवर्तन:- काँग्रेस के संसदीय बोर्ड ने दल-बदलुओं को कांग्रेस में शामिल करने के प्रश्न पर अपनी नीतियों में औपचारिक परिवर्तन किया। संसदीय बोर्ड ने यह निर्णय किया कि गैर-कांग्रेसी विधायकों को कांग्रेस में शामिल किये जाने के बारे में सभी प्रतिबन्ध हटा दिये जायें और इस मामले को दल के राज्य के विवेकाधिकार पर छोड़ दिया जाये। इस नीति के फलस्वरूप बहुत से दल-बदलू विधायकों को कांग्रेस में शामिल कर लिया गया।
- व्यक्तिगत संघर्ष अनेक बार विधायक और दल के नेताओं के बीच व्यक्तिगत संघर्ष और स्वभावों के न मिलने के कारण भी कई विधायक दल छोड़ने के लिए बाध्य हो जाते हैं।
- पदलोलुपता:- सत्ता प्रभुता का मोह और पद-लोलुपता ने देश के राजनीतिक वातावरण को इतना खराब और दूषित बना दिया कि विधायकों की दृष्टि से सिद्धान्त, आदर्श और नैतिकता का मूल्य और महत्त्व कम हो गया। विधायको में अवसरवादिता की भावना अधिक हो गयी।
- धन का प्रलोभन:- अब तो पद का ही नहीं, धन का भी प्रलोभन दिया जाता है, जैसे चुनावों में वोट खरीदने की कोशिश की जाती है वैसे ही दल-बदल करने के लिए विधायकों को धनराशि दी जाने लगी है।
- प्रत्येक विधायक की निर्णायक स्थिति:- चतुर्थ आम चुनाव के बाद काँग्रेस दल और कुल मिलाकर विरोधी दल के सदस्यों की संख्या लगभग सन्तुलित होने के कारण प्रत्येक विधायक की स्थिति इतनी महत्त्वपूर्ण हो गयी कि वह अपने को मन्त्रिमण्डल की 'कुंजी' समझने लगा।

इन सभी कारणों के अलावा, दल-बदल की प्रथा में राजनीतिक समझौते भी एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। अन्य दलों के समर्थ न से सरकार बनाने वाले दल उन दलों को एक समझौते के माध्यम से अपनी सरकार में शामिल कर सकते हैं।

राजनीतिक दल बदल के परिणाम -

- राजनीतिक समझौते के परिणाम:- दल-बदल की प्रथा के दौरान राजनीतिक समझौते होते हैं, जो समान राजनीतिक उद्देश्यों के माध्यम से संभव होते हैं । इससे लोगों को लगता है कि दल बदल की प्रथा सरकार बनाने के लिए एक अच्छा तरीका है।
- समाज के मध्यमवर्ग के विरोध का असर:-दल-बदल का एक परिणाम यह है कि समाज के मध्यमवर्ग के विरोध उत्पन्न हो सकते हैं। दलों के आम लोगों के बीच समझौते के माध्यम से सरकार बनाने की प्रथा में दल बदल का प्रयोग आम होता है, जो उनके बीच अस्थिरता उत्पन्न करती है।
- सरकारी नीतियों पर प्रभाव:- दल-बदल का एक परिणाम यह हो ता है कि सरकारी नीतियों पर असर पड़ता है। दल बदल की प्रथा के कारण, सरकारी नीतियों में अस्थिरता उत्पन्न होती हैं और लोगों की उम्मीदें टूट जाती हैं।
- सत्ताधारी दलों की विश्वसनीयता पर असर:-दल-बदल का सबसे बड़ा परिणाम यह है कि सत्ताधारी दलों की विश्वसनीयता पर सवाल उठता है। दल बदल की प्रथा दलों की नीयतों और राजनीतिक उद्देश्यों पर संदेह उत्पन्न करती है।
- राजनीतिक अस्थिरता:-दल-बदल के कारण राजनीतिक अस्थिरता उत्पन्न होती है। इससे लोगों की जानकारी के अभाव में, लोगों की आस होती है कि सरकार स्थायी नहीं होगी और यह उनकी समस्याओं का समाधान नहीं करेगी। इससे लोगों में राजनीतिक उदासीनता और असंतोष की भावना उत्पन्न होती है।

- राजनीतिक आदर्शों के बदलाव:- राजनीतिक दल बदलने से राजनीतिक आदर्शों में भी बदलाव हो सकता है। जिस दल की सत्ता में होते हुए कुछ आदर्श थे, वे दूसरी दल के सत्ता में होते हुए उलझ सकते हैं और नए आदर्शों को अपनाने के लिए मजबूर हो सकते हैं।
- राजनीतिक संरचना के बदलाव:- राजनीतिक दल बदलने से राजनीतिक संरचना में भी बदलाव हो सकता है। दल की सत्ता के साथ उसकी संरचना और संगठन भी बदल जाते हैं।
- राजनीतिक घमासान:- राजनीतिक दल बदलने से राजनीतिक घमासान हो सकता है। दलों के समर्थ क और विरोधी एक दूसरे से टकराते हैं और राजनीतिक उत्साह उभरता है।
- दलों की उच्चता-निम्नता में बदलाव:- राजनीतिक दल बदलने से दलों की उच्चता-निम्नता में भी बदलाव हो सकता है। कुछ दल उच्च और कुछ निम्न स्तर के मतदाताओ के समर्थ क होते हैं।
- नैतिक मूल्यों में गिरावट:- दल-बदल के कारण सांसद और विधायक अपनी जिम्मेवारी व कर्तव्यों और जनता के प्रति उत्तरदायित्व को भूल रहे हैं। राजनीतिक में एक विधायक सिर्फ अपना स्वार्थ पूरा कर रहा है ना कि जनता की भलाई।
- विदेशों में प्रतिष्ठा की कमी:- दल-बदल के कारण विदेशों में भी भारत के मान सम्मान व प्रतिष्ठा को घटाया हुआ प्रतीत होता है। दल-बदल के कारण कई बार समय से पहले चुनाव होते हैं। भारत के मान सम्मान व प्रतिष्ठा को गहरा धब्बा लगता है क्योंकि दलबदल की घटना विदेशी समाचार पत्रों, रेडियो, व इंटरनेट के माध्यम से विश्व के हर भाग में पहुंच जाती है।
- राजनीतिक दलों का विघटन:- दल-बदल के कारण राजनीतिक दलों में बिखराब देखने को मिलता है। दल-बदल के कारण राजनीतिक दल भारी रूप से देखने में मजबूत नजर आते हैं परंतु अंदर से वह दल खोखलेपन का शिकार हो चुका होता हो।

दल बदल रोकने के उपाय:-

जनप्रतिनिधियों के दल-बदल को नियंत्रित करने एवं नियमित करने के लिए संसद में 52वा संशोधन अधिनियम बनाया। राजीव गांधी जी के प्रधानमंत्री काल के दौरान आठवीं लोकसभा में 52 वा संविधान संशोधन 1985 में पास किया गया। इसे दसवीं अनुसूची में जोड़ा गया। इस अधिनियम 1985 में संशोधन के बाद 91 संविधानिक संशोधन अधिनियम 2003 बनाया गया।

दल बदल रोकने के उपाय:-

- जनप्रतिनिधियों के दल-बदल को नियंत्रित करने एवं नियमित करने के लिए संसद में 52वा संशोधन अधिनियम बनाया। राजीव गांधी जी के प्रधानमंत्री काल के दौरान आठवीं लोकसभा में 52 वा संविधान संशोधन 1985 में पास किया गया। इसे दसवीं अनुसूची में जोड़ा गया। इस अधिनियम 1985 में संशोधन के बाद 91 संविधानिक संशोधन अधिनियम 2003 बनाया गया।
- 52 वें संशोधन में अयोग्यता के संबंध में प्रावधान:-52वें अधिनियम 1985 द्वारा दल-बदल के आधार पर केंद्र एवं राज्य की व्यवस्थापिका अर्थात संसद और राज्य विधानमंडल के किसी भी सदस्य को अयोग्य घोषित किया जा सकता है। इस संदर्भ में अनुच्छेद 102(2) और अनुच्छेद 191(2) में वर्णन किया गया।
- यदि कोई सदस्य किसी राजनीतिक दल का सदस्य है और यदि वह उस राजनीतिक दल की सदस्यता से स्वयं त्यागपत्र दे देता है तो उसे सदन की सदस्यता के लिए अयोग्य घोषित किया जाता है।
- इस संशोधन में यह व्यवस्था भी की गई है कि कोई सदस्य सदन का सदस्य रह सकता है या नहीं। सदस्य की अयोग्यता के बारे में सदन के अध्यक्ष या सभापति का फैसला अंतिम फैसला माना जाएगा। सभापति के फैसले के विरुद्ध अदालत में कोई चुनौती नहीं दी जा सकती है। 91 वां संवैधानिक संशोधन 2003 और दल-बदल:- भारतीय संसद द्वारा दिसंबर 2003 में 91 वां संवैधानिक संशोधन 2003 में पास किया गया। दल बदल के दोषों का पूर्ण रूप से खत्म करने के कारण भारतीय संसद ने इसका निर्माण किया जो कि लोकसभा द्वारा 16 दिसंबर 2003 पर राज्यसभा द्वारा 18 दिसंबर 2003 और राष्ट्रपति द्वारा 2 जनवरी 2004 को मंजूरी मिलने के बाद लागू कर दिया गया।

91 वां संवैधानिक संशोधन 2003 और दल-बदल:-

भारतीय संसद द्वारा दिसंबर 2003 में 91 वां संवैधानिक संशा`धन 2003 में पास किया गया। दल बदल के दोषों का पूर्ण रूप से खत्म करने के कारण भारतीय संसद ने इसका निर्माण किया जो

- लोकसभा द्वारा 16 दिसंबर 2003 पर राज्यसभा द्वारा 18 दिसंबर 2003 और राष्ट्रपति द्वारा 2 जनवरी 2004 को मंजूरी मिलने के बाद लागू कर दिया गया।

निष्कर्ष:- दल-बदल की इस भयंकर समस्या पर विचार करने के बाद यह स्पष्ट हो जाता है कि इस समस्या पर नियंत्रण कानून बनाने से नहीं होगा वरना सभी महत्वपूर्ण राजनीतिक दल सर्वसम्मति से राजनीतिक नैतिकता से कुछ मूल्यों को निर्धारित करें तथा उन मूल्यों के प्रति ईमानदार रहे तभी इस समस्या का समाधान संभव है।

अंत में यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि किसी भी कारण से दल विरोधी कानून पास किया गया है लेकिन इस दिशा में हमें अनेक प्रयास करने होंगे ताकि आने वाले समय में दल-बदल जैसी समस्या का समाधान किया जा सके।

संदर्भ ग्रन्थ सूची:-

1. रस्तोगी ओ. पी. भारतीय शासन व्यवस्था युगबोध प्रकाशन दिल्ली 2020 पृ. 25
2. राय डॉ गुलशन. भारतीय सरकार और राजनीति- साहित्य भवन प्रकाशन आगर 2022 पृ. 33
3. कोठारी. रजनी, भारतीय राजनीति साहित्य भवन प्रकाशन आगरा 2020 पृ. 52
4. फड़िया बी. एल,. लोक प्रशासन साहित्य भवन प्रकाशन आगरा 2022 पृ. 26
5. प्रतियोगिता दर्पण 2000 पृ. 36
6. दृष्टि आई. ए. एस. एकेडमी दिल्ली 2023 पृ. 22
7. प्रतियोगिता दर्पण 2000 पृ. 14

वर्तमान परिप्रेक्ष्य में - भारतीय नारी और परिवर्तित स्थिति

डॉ० राम नरेश ठण्डन

सहायक प्राध्यापक (समाजशास्त्र) शास. नागरिक कल्याण महाविद्यालय, नंदिनी नगर (अहिवारा), दुर्ग (छ.ग.)

सारांश - भारतीय समाज मे हमेशा से ही परिवर्तन होता रहा है। यह परिवर्तन, जाति धर्म समाज आदि ने स्पष्ट रूप से दिखाई दे रहा है लेकिन इन विभिन्न परिवर्तन मे से एक महत्वपूर्ण जो देखने मे आ रहा है वह है! महिलाओं की स्थिति में परिवर्तन हो रहा है। प्राचीन काल से लेकर अब तक भारतीय समाज में महिलाओ की स्थिति समय समय पर बदलती रही है। जहा प्रांरभ में उसे देवी के रूप मे पूजा जाता गया वही मुगलकाल मे उसे दासी के रूप में नवाजा गया और आज वर्तमान मे नारी एक शक्ति के रूप में उभर कर आयी।

भारतीय नारी अनेक सामाजिक स्तरों, ऐतिहासिक युगों और राजनैतिक परिस्थितयों से गुजरी है उसने आग और पानी को समान रूप से लांघा है। श्री पणिक्कर ने लिखा हैं जब स्वतंत्रता ने पहली अगडाई ली तब भारतीय नारी के जीवन मे जो परिवर्तन आया उसे देखकर बाहरी दुनिया का चौंक पड़ना एक स्वाभाविक प्रक्रिया थी क्योकि स्वतंत्रता के बाद भारतीय नारी की स्थित मे एक बड़ा परिवर्तन दिखाई दिया जिसे हम क्रांतिकारी परिवर्तन भी कह सकते है।

भारतीय नारी के इस परिवर्तन के मूल में औद्योगीकरण व नगरीकरण के साथ साथ स्त्रियों मे शिक्षा का प्रसार और उन्हें उनके अधिकारों का ज्ञान होना है स्वतंत्रता के बाद से लेकर अब तक वर्तमान समय सरकार के द्वारा कई अधिनियम बनाये गये जिन्होंने नारी की स्थित पारिवारिक एंव सामाजिक में एकाएक परिवर्तन ला दिया है। जिस के फलस्वरूप न केवल नारी ने समाज एवं पारिवारिक जीवन की कई कुरीतियों से वैधानिक मुक्ति पाई बल्कि उन्होने आत्म विश्वास की ठोस जमीन भी प्राप्त की।

वर्तमान में भारतीय नारी की स्थिति में हुए परिवर्तनों के लिए सर्वप्रथम स्त्रियों में शिक्षा में विस्तार को महत्व दिया जा सकता है। क्योंकि किसी भी मनुष्य की सोच समझ, चिंतन प्रगति एवं विकास का मूल शिक्षा ही चूंकि परिवार में नारी का स्थान सर्वाधिक महत्वपूर्ण होता है अत: स्त्रियों का शिक्षित होना नितांत आवश्यक ही नहीं वरन अनिवार्य है इसी कारण स्त्रियों की शिक्षा की ओर विशेष ध्यान दिया जाने लगा। प्रसिद्व समाज सेविका श्रीमती दुर्गाबाई देशमुख के अनुसार एक लड़के की शिक्षा एक व्यक्ति की शिक्षा है जबकी एक लड़की की शिक्षा पूरे परिवार की शिक्षा है। विभिन्न वर्षो की जनगणना रिपोर्ट के तथ्यों से पता चलता हैं कि भारत में स्त्रियों की साक्षरता दर में निरंतर वृद्धि हुई है। जहां 1991 में भारतीय महिलाओं की साक्षरता दर 39.29% थी वही 2001 में बढ़कर 54.16% हो गई है तथा 2011 में और बढ़कर 64.46% हो गई है।

भारतीय नारी की स्थिति में परिवर्तन लाने वाला दूसरा कारण औद्योगीकरण को माना जा सकता है औद्योगीकरण के कारण महिलाओं को रोजगार के पर्याप्त अवसर मिलना प्रारंभ हो गये। जैसे-जैसे महिलायें आत्मनिर्भर होना प्रारंभ हुई पुरूषों पर उनकी निर्भरता धीरे-धीरे घटने लगी। परिणाम स्वरूप महिलाओं की स्थिति और भी बेहतर होने लगी।

तीसरे कारण के रूप में यातायात एवं संचार के साधन को लिया जा सकता है। वर्तमान युग में यातायात एंव संचार के साधनों में पर्याप्त उन्नति हुई। इन उन्नत साधनों ने भारतीय नारी का सपक्र देश एवं दुनिया के साथ बढाया। इन सबसे महिलाओं आंदोलनें को चलाने नारी समस्या के प्रति स्वस्थ जनमत निर्मित करने एवं नारी नेताओं के विचारों को दूर दूर तक फैलाने में मदद मिली।

चौथा चरण सरकारी प्रयासों को माना जा सकता है स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद से ही सरकार ने विभिन्न विकास योजनाओं के द्वारा महिलाओं के विकास के लिए अनेक कार्यक्रम चलाये है जिससे महिलाओं का सामाजिक आर्थिक एवं राजनीतिक स्तर पर सम्मान बढ़ा और उनकी दशाओं में सुधार हुआ।

वर्तमान समय में भारतीय नारी की स्थिति में परिवर्तन का सबसे अहम कारण कानूनी प्रावधानों को भी माना जाता है। भारतीय नारी की स्थिति को उन्नत करने में अनेक कानुनों का योगदान रहा है। जैसे:-

1. हिंदू विधवा पुनर्विवाह अधिनियम 1955
2. बाल विवाह अवरोध अधिनियम-1929
3. विशेष विवाह अधिनियम-1954
4. हिंदू विवाह एवं विच्छेद अधिनियम-1955
5. हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम 1956
6. दहेज प्रतिबंध अधिनियम 1961

उपरोक्त कानूनों ओर अधिनियमों ने भारतीय नारी की स्थिति को और भी मजबूत कर दिया। कानूनों ओर अधिनियमों के साथ-साथ भारतीय संविधान के विभिन्न अनुच्छेद भी भारतीय नारी की स्थिति को मजबूत करने में मील का पत्थर साबित हुए है। जिन्होंने भारतीय नारी को समाज में सम्मान एवं समान अधिकार देकर पुरूष के समकक्ष खड़ा किया है जैसे:-

1. जाति, धर्म, लिंग अथवा जन्म के स्थान के आधार पर भेदभाव का प्रतिबंध। अनुच्छेद 15 -
2. अनुच्छेद 15 (3)- महिलाओं के हित में विशेष उपबंधों का निर्माण अनुच्छेद 16
3. लोकसेवा में समान अबसरों की उपलब्धता।
4. अनुच्छेद 19 -अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता।
5. अनुच्छेद 21 प्राण व देहित स्वाधीनता।
6. क्रय विक्रय एंव बलात श्रम से संरक्षण अनुच्छेद 23
7. अनुच्छेद 39 समान रूप से आजीविका का साधन उपलब्ध कराना।
8. अनुच्छेद 40 पंचायती राज संस्थओं में 33 प्रतिशत आरक्षण। (73 वे एंव 74 वें संशोधन द्वारा)
9. अनुच्छेद 42 स्त्रियों की कार्मिक क्षमता के अनुसार कार्य को दशाओं को तय करना
10. अनुच्छेद 47 - महिलाओं हेतु पोषाहार एवं लोकस्वास्थय में सुधार हेतु उपबंध करना।

सवैधानिक प्रावधानों के साथ-साथ भारत में विभिन्न पंचवर्षीय योजनाओं में भी महिलओं के लिए कई सिफारिशें की गई। जैसे:-

1. प्रथम पंचवर्षीय योजना (1951-56):- प्रथम पंच वर्षीय योजनाओं में गरीब महिलाओं कके कल्याण के लिए योजना बनाई गयी। तथा उनकी शिक्षा स्वास्थय तथा सामाजिक कल्याण पर विशेष ध्यान देने पर जोर दिया गया।
2. द्वितीय पंचवर्षीय योजना (1956-61):- इस योजना में विभिन्न कार्यस्थलों पर कार्य करने वाली महिलाओं के लिए योजना बनाइ गयी। महिलाओं के साथ कार्य स्थल पर किसी घटना के घटित होने पर उनके सुरक्षा के उपाय, मातृत्व अवकाश, तथा बच्चो, की सुरक्षा तथा पुरुषों के समकक्ष कार्य करने की प्रेरणा एवं प्रशिक्षण पर ध्यान दिया गया।
3. तृतीय पंचवर्षीय योजना (1961-66):- तृतीय पंचवर्षीय योजना में महिलाओं को शिक्षित करने के साथ-साथ उनके स्वास्थय और पोषण तथा परिवार नियोजन कार्यक्रम आदि पर ध्यान दिया गया।
4. चतुर्थ एवं पंचम पंचवर्षीय योजना (1969-74):- चौथी और पांचवी योजना के अंतर्गत सभी महिलाओं की शिक्षा और कल्याण के साथ-साथ जन्म दर को नियंत्रित करने के उपाये पर जोर दिया गया। साथ ही साथ महिलाओं की स्किल ओर नालेज का बढ़ाने पर जोर दिया गया है। इस योजना में परिवार नियोजन और पोषण पर ध्यान देने के लिए जो दिया गया है। साथ ही महिलाओं के अधिकारों को बढाकर सामाजिक विकास को भी बढ़ा गया।
5. छठवी पंचवर्षीय योजना (1980-85):- छठवी पंचवर्षीय योजना में महिलाओं की विभिन्न समस्याओं को समाप्त करने पर जोर दिया गया है। महिलाओं के कार्यास्थल एवं परिवार समाज में आने वाली समस्याओं को सुलझानें और उन्हें दुर करने पर ध्यान देने के लिए जोर दिया गया। साथ ही महिलाओं को आर्थिक स्वतंत्रता आधुनिक शिक्षा स्वास्थ्य और विकास की बात पर जोर दिया गया है।
6. सातवीं पंचवर्षीय योजना (1986-90):- सातवी पंचवर्षीय योजना में महिलाओं के अधिकारों को बढाया गया। महिलाओं की सामाजिक आर्थिक स्थिति को बढाने के साथ-साथ उन्हो पुरूषों के समान अधिकार देने की बात कही गई। देश के विकास में महिलाओं की भागीदारी बढ़ाने के उद्देश्य से महिलाओं के लिए कई विकास कार्यक्रम ओर योजनाओं बनायी गई। महिलाओं के लिए पुन:चर्चा कार्यक्रम आयोजित करने की बात कही गयी।
7. आठवी पंचवर्षीय योजना (1991-96):- आठवी पंचवर्षीय योजना में इस बात पर विशेष जोर दिया गया कि जो भी योजनाओं महिलाओं के किए बनायी गयी है। उन तक आवश्यक रूप से पहुंचे। और इन योजनाओं का लाभ गुणात्मक और गणनात्मक दोनों रूपों में महिलाओं को मिले। इस योजना में महिलाओं के सशक्तिकरण पर जोर दिया गया।
8. नवीं पंचवर्षीय योजना (1997-2001):- नवीं पंचवर्षीय योजना के अंतर्गत इस बात पर बल दिया गया कि महिला सशक्तिकरण के लिए बनाई गई योजना को लागु किया जावे। नवी पंचवर्षीय योजना में ही महिलाओं को गरीबी एंव घरेलू हिंसा से मुक्त करने के साथ-साथ प्रायवेट सेक्टर में महिलाओं की छवि को साफ सुधरा करने पर विशेष जोर दिया गया। लड़कियों के विकास के लिए विभिन्न योजनाये बनाई गई।
9. दसवीं पंचवर्षीय योजना:- दसवीं पंचवर्षीय योजना में राष्ट्रीय नीति का निधारित करते हुए महिलाओ के लिए बनाई गयी विकास योजनाओ को लागु करने पर जारे दिया गया है।
10. ग्यारवीं पंचवर्षीय योजना:- ग्यारवी पंचवर्षीय योजना में महिला पुरूष अनुपात बराबर करने पर जोर दिया गया है। और इसके लिए कन्या जन्म दर को बढाने पर ध्यान दिया गया। इस योजना में बालिकाओं को बचाने और अनेक विकास पर विशेष जोर दिया गया। भारतीय नारी की स्थिती को परिवर्तित करने में उनका आर्थिक रूप से सुढ़ृढ होना भी सहायक कारण रहा है भारत सरकार द्वारा महिलाओं को आर्थिक रूप से मजबूत करने के लिए कई प्रोग्राम और परियोजनायें चलाई गई है जैसे:-
    1. स्व-शक्ति इस परियोजना को केन्द्र सरकार द्वारा प्थ्ाक् के साथ मिलकर प्रायोजित किया गया तथा भारत में इसे को लागू किया। इस परियोजना को लागू करने का प्रमुख उद्देश्य महिलाओं की सामाजिक आथिक स्थिति मजबूत करना था। साथ ही महिलाओं के बेहतर जीवन स्तर के लिये निचले स्तर के कार्यों से मुक्त और समय की बचत करने वाले उपकरणों सहित संसाधनों को आसानी से सुलभ करना भी

इसका उद्देश्य था। इस परियोजना को भारत में 335 ब्लॉक 57 जिलों और 9 राज्यों में प्रारम्भ किया गया। इस परियोजना से लगभग 2,44,000 महिलायें लाभान्वित हुई।

2. स्वयं सिद्धा- इस परियोजना की शुरूआत फरवरी मार्च 2001 में हुई इस योजना का तात्कालिक उद्देश्य है कि आत्मनिर्भर महिलाओं के स्वय सहायता समूह बनाना इन सदस्यो मे विश्वास जागरूक उत्तपन्न करना, आर्थिक ससाधनो पर उनका नियत्रण स्थनीय स्तर की योजना में महिलाओं की भागीदारी और महिलाओं एवं बाल कल्याण विभाग तथा अन्य विभागों की सेवाओं को समान रूप देना भी इनका उद्देश्य रहा। इस योजना को 650 ब्लॉको में लागू किया तथा इससे लगभग 67971 महिलायें लाभान्वित हुई। सन् 2007 में इन योजनाओं को समाप्त कर दिया गया।
3. स्वालंबन प्रोग्राम- यह महिलाओं के आर्थिक स्वालंबन के लिए योजना बनाई गई है योजना 1982-83 में प्रारभ हुई। इस परियोजना का प्रमुख उदेश्य गरीब महिलाओं को आर्थिक रूप से सुदृढ करना था। पहले यह योजना छव्टाक् द्वारा प्रारंभ की गई तत्पश्चात इस परियोजना को 1996-97 में केन्द्र सरकार को सौपा गया और उसके बाद योजना आयोग की मदद से अप्रैल 2006 में इसे राज्य सरकार को दे दिया गया।

इस प्रकार हम कह सकते है। कि उपरोक्त दशाओं और कारणों ने भारतीय नारी की स्थिति को परिवर्तित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है शायद यही कारण है कि पिछलें सालों वर्षों से भी अधिक लम्बी सामाजिक और आर्थिक पराधीनता के बाद अब भारतीय नारी एक नये युग में प्रवेश कर रही है।

संदर्भ ग्रंथ सूची-

- कुमार राधा, स्त्री संघर्ष का इतिहास 1800-1990, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली. 2005
- कौशिक, सुशीला, वूमेन पार्टिसिपेशन इन पॉलिटिक्स, विकास पब्लिकेशन नई दिल्ली.1993
- वंदना अग्निहोत्रि. शैक्षणिक विकास एवं नारी साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा, पेज नं. 2011
- डॉ. मीनाक्षी स्वामी महिलाओं के संवैधानिक प्रावधान राज पब्लिशिंग हाउस, जयपुर 2009
- श्रीमती संतोष धुर्वे नारी सशक्तिकरण राज पब्लिशिंग हाउस, जयपुर 1998
- एस. के ओझा लिंग और समाज वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली .2006
- शाह घनश्याम, कास्ट एण्ड डेमोक्रेटिक पॉलिटिक्स इन इण्डिया ओरिएण्ट लॉगमैन प्रा0वि0 नई दिल्ली.2008

भारत में मतदान व्यवहार महिलाओं की स्थिति

डॉ० संध्या चौधरी

अतिथि व्याख्याता (राजनीति विज्ञान) शासकीय नागरिक कल्याण महाविद्यालय, नंदिनी नगर (अहिवारा), जिला- दुर्ग (छ.ग.)

शोध सारांश

मतदान मनोवज्ञानिक तत्वों से प्रेरित एक गूढ़ राजनीतिक प्रक्रिया है जो अनेक आन्तरिक और बाहरी तत्वों से प्रभावित होती है। भारत जैसे विविधता वाले देश में केवल कुछ निश्चित शीर्षकों के अन्तर्गत सम्पूर्ण देश के मतदान व्यवहार का अध्ययन नहीं किया जा सकता है। सामाजिक व आर्थिक आधार पर व्याप्त असमानताओं के कारण भारतीय परिवेश में मतदाता के व्यवहार को निर्धारित करने वाले अनेक कारक विद्यमान हैं जिनमें जाति, धर्म, स्थानीय मुद्दे जैसे कारक प्रमुख है जो कि प्रत्येक निर्वाचन क्षेत्र के स्वरूप को निर्धारित करते हैं। महिला मतदाताओं का व्यवहार राजनीति के प्रति उपेक्षापूर्ण ही बना रहता है और उनका मतदान व्यवहार पारिवारिक व सामाजिक परिवेश के द्वारा ही निर्धारित होता है। प्रस्तुत लेख में भारतीय मतदाता के व्यवहार व महिलाओं की निर्णयकारी शक्ति के सन्दर्भ में विश्लेषण प्रस्तुत करने का प्रयास किया जायेगा।

विषय प्रवेश

लोकतांत्रिक व्यवस्थाओं का मुख्य आधार है जनता के द्वारा सरकार के निर्माण की प्रक्रिया में जो निर्णयकारी भूमिका मतप्रयोग के माध्यम से अभिव्यक्त की जाती है। राजनीतिक व्यवस्था में चुनावों की जटिल भूमिका को निर्वाचकों के मतदान आचरण के आधार पर ही स्पष्ट करना संभव होने के कारण मतदान व्यवहार के अध्ययन अत्यधिक लोकप्रिय होने लगे हैं। जनता अपने वोट का प्रयोग करते समय कुछ निर्धारक तत्वों को अपने राजनीतिक व्यवहार का हिस्सा बना लेती है। एलेन बाल का मानना है कि विकसित और स्थिर लोकतांत्रिक व्यवस्थाओं में राजनीतिक दल मतदाताओं के मतदान व्यवहार के प्रमुख नियामक माने जाते रहे हैं और मतदाता अपने परिवारों से दल निष्ठा विरासत में पाते हैं। किन्तु विकासशील देशों में जनता की अस्थिर प्रवृत्ति के कारण राजनीतिक दलों की विचारधारा के प्रति प्रतिबद्धता का अभाव बना रहता है।

भारत जैसे देश में जो कि विश्व का सबसे बड़ा लोकतांत्रिक देश है में मतदान व्यवहार का कोई स्थापित आयाम निर्धारित नहीं किया जा सकता क्योंकि व्यक्तिगत हित राष्ट्रीय हितों से अधिक गहरे हैं। राजनीतिक नेताओं का व्यक्तित्व कभी-कभी उनके राजनतिक दल से भी बड़ा हो जाता है। किसी निर्वाचन क्षेत्र के भीतर लोगों का समूह जो कि समग्र रूप से किसी विशेष राजनीतिक दल या नेता को बहुत बड़ी संख्या में वोट देते हैं। लेकिन ये ही लोगों का समूह किसी दूसरे चुनाव में इसी निर्वाचन क्षेत्र से उस राजनीतिक दल के सदस्य को नकार भी सकते हैं। इसका एक कारण तो यह हो सकता है कि इन लोगों को उस दल या नेता की किसी विशेष नीति, कार्यक्रम या कार्य-प्रणाली से कोई विशेष लाभ प्राप्त होता है। परन्तु अधिकांश वोट बैंक केवल जाति, धर्म, सम्प्रदाय, भाषा या क्षेत्र की समानता के संकीर्ण आधार पर किसी विशेष दल या नेता के समर्थक बन जाते हैं।

मतदान व्यवहार के निर्धारक तत्व

मतदान आचरण में आधारभूत तथ्य मतदाताओं की राजनीतिक जागरूकता है। मतदान व्यवहार को निर्धारित करने वाले कारकों में सम्बन्धित लोकतांत्रिक व्यवस्था के सामाजिक व आर्थिक कारकों का योगदान महत्वपूर्ण होता है। भारत जैसे संक्रमणकालीन व्यवस्थाओं में जहाँ कि शासन का स्वरूप पूर्णतया आधुनिक है और सामाजिक व्यवस्था परम्परागत आधारों पर संचालित है में मतदान व्यवहार को निर्धारित करने वाले कारकों में धर्म, जाति, स्थानीय मुद्दे, धनबल, भुजबल जैसे परम्परागत मुद्दों के पश्चात् राष्ट्रीय हित व राजनीतिक विचारधारा का आधार प्रारम्भ होता है।

भारत में मतदान व्यवहार महिलाओं का विशेष संदर्भ में

भारत के संदर्भ में यह विशेष स्थिति है कि जो मतदाता केन्द्र सरकार के चुनावों में जिस राजनीतिक दल को अपना मत प्रदान कर रहा है। संभवत: वह राज्य विधानसभा के चुनावों में किसी अन्य राजनीतिक दल को भी अपना मत दे सकता है। क्योंकि भारत में वर्तमान तक भी राजनीतिक विचारधारा व राजनीतिक दलों के साथ जनता की गहरी प्रतिबद्धता नहीं जुड़ी हुई है। स्वतंत्रता पश्चात् भारत में कांग्रेस का एकछत्र राज्य था और जनता के समक्ष विकल्प का अभाव था किन्तु जैसे जैसे भारत में राजनीतिक परिवेश बदलता गया और जनता राजनीतिक रूप से अधिक शिक्षित होती गयी भारतीय राजनीति का सम्पूर्ण परिदृश्य बदल गया और 1977 के आम चुनावों में सत्ता परिवर्तन इस तथ्य को स्पष्ट करता है कि जनता के लिए राष्ट्रीय मुद्दे जाति और धर्म की संकीर्ण मानसिकता से ऊपर है। 1990 के दशक के पश्चात् भारतीय राजनीति के स्वरूप में व्यापक स्तर पर बदलाव परिलक्षित होने लगा है और राजनीति का संक्रमणकाल प्रारम्भ हो चुका है जिसमें कांग्रेस के शासन ने गठबंधन की सरकारों का स्वरूप ग्रहण कर लिया है। इसका प्रमुख कारण भारत के मतदाता के व्यवहार में आया हुआ परिवर्तन है जो कि राजनीति में विकल्प की तलाश में है और नये राजनीतिक विचारधाराओं व राजनीतिक दलों को सत्ता सौंपना चाहता है।

इक्कीसवीं सदी में भारतीय राजनीति का स्वरूप पूर्णतया परिवर्तित हो चुका है और सरकारों के चयन की प्रक्रिया में जनता अधिक विवेक का प्रयोग करके अपने मत का प्रयोग करने लगी है। चुनावों में बढ़ता हुआ मत प्रतिशत इस तथ्य को स्पष्ट करता है कि जनता राजनीतिक रूप से अधिक सजग है किन्तु राजनीति में एक गम्भीर स्थिति पैदा हो गई है जिसमें कि सरकारों का गठन ऐसे राजनीतिक दलों के द्वारा किया जा रहा है जिन्हें स्वयं भी कोई स्पष्ट बहुमत नहीं मिला है और सर्वाधिक सदस्य संख्या वाले राजनीतिक दल केन्द्र तथा कतिपय राज्यों में अन्य राजनैतिक दलों से गठजोड करके शासन में सत्तारूढ़ है और न्यूनतम साझा कार्यक्रम की सहायता से शासन चला रहे हैं। इस गठजोड़ में परस्पर विरोधी विचारधारा वाले दल भी शामिल हैं।

भारतीय चुनावी राजनीति में मतदाता के राजनीतिक व्यवहार को निर्धारित करने वाला सबसे बड़ा कारक जाति का मुद्दा है। जिसमें राजनीतिक दलों के द्वारा भी निर्वाचन क्षेत्रों में उम्मीदवार निर्धारित करते समय सम्बन्धित क्षेत्रों में जातिगत आधार को प्रमुख माना जाता है। भारतीय सामाजिक व्यवस्था में जाति की जड़ें बहुत गहरी है और सामाजिक सम्बन्धों के निर्धारण का यह मुख्य आधार है। जातियाँ संगठित होकर राजनीतिक और प्रशासनिक निर्णय प्रक्रिया को प्रभावित करती है। चुनाव अभियान में जातिवाद को साधन के रूप में अपनाया जाता है। जातीय संगठन राजनीतिक महत्व के दबाव समूह के रूप में प्रवृत्त है। यद्यपि जनता का व्यवहार रूढ़िवादी नहीं है लेकिन राजनीतिक दलों के द्वारा उनके समक्ष विकल्प ही नहीं रखे जायेंगे तो उन्हें इस संकीर्ण आधार पर ही अपने वोट का प्रयोग करना पड़ता है। भारतीय राजनीति में धर्म और सम्प्रदाय प्रभावक भूमिका अदा करते हैं। चुनावों की राजनीति में पंथ और सम्प्रदाय के नकारात्मक महत्व को उभारा है। एक तरह से सम्प्रदाय राजनीतिक दलों के वोट बैंक बन गये हैं। सत्तारूढ़ दल के आचरण और क्रियाकलापों का मतदान व्यवहार पर गंभीर प्रभाव पड़ता है। चुनाव के समय सत्तारूढ़ दल यदि जनहित के कार्यों में रुचि लेता है, लोगों की दैनिक आवश्यकताओं की उचित पूर्ति की व्यवस्था करता है और शांति व्यवस्था की स्थिति बनाये रखता है तो मतदान सामान्यत: शासक दल के पक्ष में होता है। मतदान व्यवहार को निर्धारित करने वाले कारकों में चुनाव प्रचार अभिचान, स्थानीय मुद्दे, भाषा, विचारदारा उम्मीदवार की व्यक्तित्व मीड़िया का प्रभाव राष्ट्रीय मुद्दे प्रमुख है। दो दशक से विकास का मुद्दा भी राजनीतिक दलों के घोषणा पत्र व चुनाव अभियान का प्रमुख आधार बना हुआ है जो कि मतदाता के व्यवहार को निर्धारित करता है।

भारत का सामाजिक स्वरूप परम्परागत आधारों पर टिका हुआ है किन्तु संविधान के द्वारा लैंगिक आधार पर फैली हुई असमानता को दूर करने का प्रयास किया गया है जिसमें प्रत्येक वयस्क व्यक्ति को मत देने का अधिकार दिया गया है। लेकिन महिलाओं के साथ सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक, शैक्षिक प्रत्येक स्तर पर दोयम दर्जे का व्यवहार किया जाता है। राजनैतिक रूप से उनकी भागीदारी लोकसभा व राज्य विधानसभाओं में कम ही रहती है। प्रथम लोकसभा में कुल 4.5 प्रतिशत ही मंत्रीमंडल में उनका प्रतिनिधित्व था वहाँ वर्तमान मंत्रीमंडल में भी उनकी हिस्सेदारी मात्र 12.15 प्रतिशत ही है जो कि यह परिलक्षित करता है कि सामाजिक व राजनीतिक व्यवस्थायें कितनी भी परिवर्तित हो जायें लेकिन महिलाओं के लिए राजनीति अभी भी बहुत अधिक अवसर वाला क्षेत्र नहीं है।

यद्यपि भारत में विधायी संस्थाओं व मंत्रीमंडल में महिलाओं की भागीदारी अभी तक बहुत अधिक नहीं हैं किन्तु राजनीति में इस क्षेत्र में बहुत परिवर्तन आया है कि महिलायें अपने मत का प्रयोग बढ़-चढ़कर करने लगी है। महिलाओं के मताधिकार के निर्धारण में परिवार, समुदाय व समाज की भूमिका प्रमुख होती है। आंकड़ों का विश्लेषण करने पर यह स्पष्ट होता है कि भारत में ग्रामीण महिलायें अपने वोट का अधिक प्रयोग करती है और क्षेत्रवार विश्लेषण किया जाये तो उत्तरपूर्वी राज्यों में महिलायें मत प्रयोग में अव्वल हैं। भारतीय व्यवस्था में महिलाओं के सामाजिक व आर्थिक विकास के लिए यह आवश्यक है कि उन्हें राजनीतिक भागीदारी का अधिक से अधिक अवसर दिया जाये। इसके लिए केवल यह पर्याप्त नहीं होता कि उन्हें राजनीतिक इकाइयों में आरक्षण प्रदान किया जाये बल्कि उस मानसिकता को परिवर्तित किये जाने की आवश्यकता है तो समाज में लैंगिक आधार पर भेदभाव को बढ़ावा देती है। इसके लिए शिक्षा का स्तर बढ़ाना महिला सशक्तिकरण का सबसे बड़ा आधार हो सकता है।

निष्कर्ष

भारतीय मतदाताओं ने अपने मतदान व्यवहार से यह स्पष्ट कर दिया है कि केन्द्र में ऐसी सरकार चाहते हैं जो टिकाऊ और सक्षम हो, जो कि एक इकाई की भाँति काम कर सके और देश को स्थिरता प्रदान करते हुए उसके लिए अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा बनाये रखें। कतिपय राजनीतिक क्षेत्रों में ऐसी धारणा व्याप्त है कि भारत की जनता अपने मताधिकार का प्रयोग औचित्य तथा विवेक के साथ नहीं कर सकती, क्योंकि वह अभी तक अशिक्षा, गरीबी, जातिगत, द्वेष, धर्मान्धता आदि की शिकार है लेकिन प्रथम आम चुनाव से लेकर अब तक सम्पन्न लोकसभा व विधानसभाओं के चुनावों में भारतीय जनता का जो मतदान व्यवहार रहा है उससे यह पुष्टि होती है कि उपरोक्त भ्रामक मत केवल उन्हीं लोगों का है जो भारतीय जनता के मन-मस्तिष्क को भली-भाँति नहीं समझते जिन्हें भारत के मतदाताओं के चरित्र का बोध नहीं है। अभी तक भारतीय मतदाताओं ने अपने मतदान में जिस विवेक और कुशलता का परिचय दिया है, कतिपय अपवादों को छोड़कर अनुशासनप्रियता प्रदर्शित की है उससे संसदीय लोकतंत्र का भविष्य यथावत सुरक्षित है।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. गेना, सी बी., तुलनात्मक राजनीति एवं राजनीतिक संस्थाएं, प्रकाशन वर्ष 2018, विकास पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, पेज नं. 983
2. गाबा, ओमप्रकाश, राजनीति विज्ञान विश्वकोश, प्रकाशन वर्ष 2002, विकास पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, पेज नं 294
3. राय प्रवीन, इलैक्टरोल पार्टिसिपेशन ऑफ वूमैन इण्डिया, इकोनोमिक व पॉलिटिकल वीकली, जनवरी 2011
4. हजारिका बिराज, वोटिंग बिहेवियर इन इण्डिया, www.iosrjournals.org
5. जैन, पुखराज, भारतीय शासन एवं राजनीति, प्रकाशन वर्ष 2011, साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा, पेज नं. 697
6. त्रिवेदी, आरएन व राय एम.पी, भारतीय सरकार एवं राजनीति, प्रकाशन वर्ष 2009, कॉलेज बुक डिपो, जयपुर, पेज नं 340
7. गोस्वामी, बालचन्द्र, संसदीय लोकतंत्र सफल या असफल प्रकाशन, वर्ष 2007, राज पब्लिशिंग हाउस, जयपुर पेज नं. 3

बुंदेलखंड की जनजातियों का साहित्य एवं संस्कृति

डॉ० ज्योति गौतम

असिस्टेंट प्रोफेसर, हिंदी एवं अन्य भारतीय भाषा विभाग, डॉ. शकुंतला मिश्र राष्ट्रीय पुनर्वास विश्वविद्यालय, लखनऊ, उत्तर प्रदेश

सार

बुंदेलखंड क्षेत्र, जो मुख्यत: उत्तर प्रदेश एवं मध्य प्रदेश के हिस्सों में विस्तृत है, भारतीय लोक संस्कृति का एक महत्वपूर्ण केंद्र है। यहाँ की जनजातियाँख़ सहरिया, कोल, गोंड एवं बैगाख़अपनी विशिष्ट सांस्कृतिक पहचान, लोकपरंपराओं और मौखिक साहित्य के लिए जानी जाती हैं। इनका साहित्य प्रकृति-आधारित, सामूहिक और अनुभवजन्य है, जबकि संस्कृति जीवन के प्रत्येक पक्ष में प्रकृति के साथ सामंजस्य को दर्शाती है। अपनी समृद्ध जनजातीय परंपराओं, लोकसंस्कृति और मौखिक साहित्य के लिए विशेष महत्व रखता है। अध्ययन का आधार मुख्यत: गुणात्मक एवं वर्णनात्मक पद्धति है, जिसमें द्वितीयक स्रोतोंख़पुस्तकों, शोध-पत्रों एवं सरकारी रिपोर्टोंख़का उपयोग किया गया है। जनजातीय साहित्य मुख्यत: मौखिक परंपरा पर आधारित है, जिसमें लोकगीत, लोककथाएँ, मिथक, दंतकथाएँ एवं लोकोक्तियाँ प्रमुख रूप से शामिल हैं। ये साहित्यिक रूप जनजातीय जीवन के अनुभवों, प्रकृति के साथ उनके गहरे संबंध, सामाजिक संरचना, धार्मिक विश्वासों एवं सांस्कृतिक मूल्यों को अभिव्यक्त करते हैं। जनजातीय संस्कृति के प्रमुख आयामों में सामूहिक जीवन, प्रकृति-पूजा, पारंपरिक त्योहार, नृत्य-संगीत, लोककला एवं हस्तशिल्प शामिल हैं, जो उनके जीवन को विशिष्ट पहचान प्रदान करते हैं।

आधुनिकता, शिक्षा एवं शहरीकरण के प्रभाव से इन जनजातियों के जीवन एवं परंपराओं में परिवर्तन देखने को मिल रहा है, जिसके परिणामस्वरूप एक ओर विकास के अवसर बढ़े हैं, वहीं दूसरी ओर सांस्कृतिक क्षरण की चुनौती भी सामने आई है। इस संदर्भ में यह अध्ययन जनजातीय साहित्य एवं संस्कृति के संरक्षण एवं संवर्धन की आवश्यकता पर बल देता है। अंतत: यह शोध-पत्र इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि बुंदेलखंड की जनजातीय परंपराएँ भारतीय सांस्कृतिक धरोहर का अभिन्न अंग हैं, जिनका संरक्षण सतत् सांस्कृतिक विकास के लिए अत्यंत आवश्यक है।

कुंजी शब्द: बुंदेलखंड, जनजातीय साहित्य, लोकसंस्कृति, सहरिया, गोंड, कोल, बैगा, मौखिक परंपरा.

प्रस्तावना

भारत की सांस्कृतिक विविधता विश्व में अद्वितीय है। विभिन्न क्षेत्रों में निवास करने वाली जनजातियाँ अपनी विशिष्ट जीवनशैली, भाषा, परंपरा और साहित्य के माध्यम से भारतीय संस्कृति को समृद्ध बनाती हैं। बुंदेलखंड क्षेत्र, जो ऐतिहासिक, भौगोलिक और सांस्कृतिक दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण है, जनजातीय जीवन के अध्ययन के लिए एक उपयुक्त क्षेत्र प्रस्तुत करता है। जनजातीय साहित्य मुख्यत: मौखिक होता है, जो पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तांतरित होता रहता है। इसमें लोकगीत, लोककथाएँ, मिथक, कहावतें और गाथाएँ शामिल होती हैं। यह साहित्य केवल मनोरंजन का साधन नहीं, बल्कि सामाजिक संरचना, नैतिक मूल्यों और सांस्कृतिक चेतना का दर्पण है। भारत एक बहुसांस्कृतिक और बहुभाषिक देश है, जहाँ विविध समुदायों और जनजातियों ने अपनी विशिष्ट परंपराओं, जीवनशैलियों और सांस्कृतिक अभिव्यक्तियों के माध्यम से एक समृद्ध सांस्कृतिक विरासत का निर्माण किया है। इस संदर्भ में बुंदेलखंड क्षेत्रख़जो मुख्यत: उत्तर प्रदेश एवं मध्य प्रदेश के अंचलों में विस्तृत हैख़अपनी ऐतिहासिक, भौगोलिक और सांस्कृतिक विशिष्टताओं के कारण विशेष महत्व रखता है। यह क्षेत्र न केवल वीरता और ऐतिहासिक गौरव के लिए प्रसिद्ध है, बल्कि यहाँ की जनजातीय संस्कृति और लोकसाहित्य भी अत्यंत समृद्ध और बहुआयामी है।

बुंदेलखंड में निवास करने वाली प्रमुख जनजातियाँख़सहरिया, कोल, गोंड और बैगाख़प्रकृति के साथ गहरे सामंजस्य में जीवन व्यतीत करती हैं। इनका सामाजिक जीवन सामूहिकता, पारस्परिक सहयोग और परंपरागत मान्यताओं पर आधारित होता है। जनजातीय समुदायों का साहित्य मुख्यत: मौखिक परंपरा में संरक्षित रहता है, जिसमें लोकगीत, लोककथाएँ, मिथक, दंतकथाएँ और लोकोक्तियाँ प्रमुख रूप से शामिल हैं। यह साहित्य न केवल मनोरंजन का साधन है, बल्कि उनके जीवन-दर्शन, सामाजिक संरचना, धार्मिक विश्वासों और सांस्कृतिक मूल्यों का जीवंत प्रतिबिंब भी प्रस्तुत करता है। आधुनिकता, औद्योगीकरण और वैश्वीकरण के प्रभाव से जनजातीय जीवन में व्यापक परिवर्तन हो रहे हैं। जहाँ एक ओर शिक्षा, संचार और विकास की नई संभावनाएँ उत्पन्न हुई हैं, वहीं दूसरी ओर पारंपरिक संस्कृति, भाषा और लोकसाहित्य के लुप्त होने का संकट भी उत्पन्न हुआ है। इस प्रकार वर्तमान समय में जनजातीय साहित्य और संस्कृति का अध्ययन न केवल शैक्षणिक दृष्टि से, बल्कि सांस्कृतिक संरक्षण के परिप्रेक्ष्य से भी अत्यंत आवश्यक हो गया है।

इस शोध-पत्र का उद्देश्य बुंदेलखंड की जनजातियों के साहित्य एवं संस्कृति का समाजशास्त्रीय एवं सांस्कृतिक विश्लेषण करना है। इसके अंतर्गत जनजातीय साहित्य के स्वरूप, उनकी सांस्कृतिक परंपराओं, सामाजिक संरचना तथा आधुनिक परिवर्तनों के प्रभावों का सम्यक् अध्ययन किया गया है। यह अध्ययन इस तथ्य को रेखांकित करता है कि जनजातीय समुदायों की सांस्कृतिक धरोहर न केवल उनके अस्तित्व की पहचान है, बल्कि भारतीय संस्कृति की बहुलता और समृद्धि का भी महत्वपूर्ण आधार है।

जनजातीय साहित्य की विशेषताएँ

मौखिकता, सामूहिकता, प्रकृति-प्रधानता, सरलता, अनुभवजन्यता.

अध्ययन का उद्देश्य

1. बुंदेलखंड की प्रमुख जनजातियों का परिचय देना।
2. जनजातीय साहित्य के स्वरूप और विशेषताओं का विश्लेषण करना।
3. जनजातीय संस्कृति के विभिन्न आयामों का अध्ययन करना।
4. आधुनिकता के प्रभावों का मूल्यांकन करना।
5. सांस्कृतिक संरक्षण के उपायों का सुझाव देना।

बुंदेलखंड का भौगोलिक एवं सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य

बुंदेलखंड एक पठारी क्षेत्र है, जो अपने शुष्क जलवायु, सीमित संसाधनों और ऐतिहासिक विरासत के लिए जाना जाता है। यहाँ की भौगोलिक परिस्थितियाँ जनजातीय जीवन को सीधे प्रभावित करती हैं। प्राकृतिक संसाधनों पर निर्भरता, जल की कमी, और कृषि की अनिश्चितता ने यहाँ की संस्कृति और साहित्य को गहराई से प्रभावित किया है। बुंदेलखंड भारत का एक महत्वपूर्ण भौगोलिक एवं सांस्कृतिक क्षेत्र है, जो मुख्यत: उत्तर प्रदेश और मध्य प्रदेश के मध्यवर्ती भागों में विस्तृत है। यह क्षेत्र उत्तर में यमुना नदी, दक्षिण में विंध्य पर्वतमाला, पूर्व में बघेलखंड तथा पश्चिम में मालवा क्षेत्र से घिरा हुआ है। बुंदेलखंड की भौगोलिक संरचना मुख्यत: पठारी है, जहाँ पथरीली भूमि, सीमित जल संसाधन, अनियमित वर्षा तथा शुष्क जलवायु पाई जाती है।

भौगोलिक विशेषताएँ

बुंदेलखंड का भू-भाग कठोर चट्टानों और ऊँचे-नीचे पठारी स्वरूप से युक्त है। यहाँ की प्रमुख नदियाँ-केन, बेतवा, धसान, और धसान-कृषि एवं जीवन का आधार हैं, किन्तु वर्षा की अनिश्चितता के कारण जल संकट एक प्रमुख समस्या बनी रहती है। इस क्षेत्र में वनस्पति अपेक्षाकृत कम है, परंतु जहाँ वन क्षेत्र हैं, वहाँ जनजातीय समुदायों का जीवन वनोपज, जड़ी-बूटियों और प्राकृतिक संसाधनों पर निर्भर रहता है। इस प्रकार भौगोलिक परिस्थितियाँ यहाँ के सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करती हैं।

सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य

बुंदेलखंड की संस्कृति विविधता से परिपूर्ण है, जिसमें लोकजीवन, परंपराएँ, धार्मिक आस्थाएँ और सामाजिक व्यवहार शामिल हैं। यहाँ की संस्कृति पर जनजातीय समुदायों के साथ-साथ ग्रामीण समाज का भी गहरा प्रभाव है।

लोकजीवन और परंपराएँ

बुंदेलखंड का लोकजीवन सरल, श्रमप्रधान और सामूहिकता पर आधारित है। यहाँ के लोग कृषि, पशुपालन और वनोपज पर निर्भर रहते हैं। सामाजिक संबंधों में पारस्परिक सहयोग, सामुदायिक सहभागिता और परंपरागत रीति-रिवाजों का विशेष महत्व है।

भाषा और बोली

इस क्षेत्र की प्रमुख बोली बुंदेली है, जो हिंदी की एक उपभाषा है। बुंदेली भाषा में लोकगीत, लोककथाएँ और कहावतें समृद्ध रूप में उपलब्ध हैं, जो जनजातीय एवं ग्रामीण जीवन का सजीव चित्रण करती हैं।

धार्मिक एवं आध्यात्मिक जीवन

बुंदेलखंड में धार्मिक आस्थाएँ गहराई से जुड़ी हुई हैं। यहाँ देवी-देवताओं, लोकदेवताओं और प्राकृतिक शक्तियों की पूजा की जाती है। जनजातीय समुदायों में विशेष रूप से प्रकृति-पूजा, पूर्वज-पूजा और स्थानीय देवताओं की आराधना प्रचलित है।

लोककला और सांस्कृतिक अभिव्यक्तियाँ

बुंदेलखंड की सांस्कृतिक पहचान उसकी लोककलाओं में भी झलकती हैख़ लोकगीत (जैसे आल्हा, फाग), लोकनृत्य (करमा, सैला), हस्तशिल्प (मिट्टी के बर्तन, लकड़ी की कारीगरी) , इन कलाओं में जनजातीय जीवन, वीरता, प्रेम और प्रकृति का चित्रण मिलता है।

जनजातीय जीवन पर भौगोलिक प्रभाव

बुंदेलखंड की भौगोलिक परिस्थितियाँ-जैसे जल संकट, वन क्षेत्र और कृषि की अनिश्चितता-जनजातीय जीवन को गहराई से प्रभावित करती हैं।

1. वनोपज पर निर्भरता
2. जड़ी-बूटियों का उपयोग

3. प्रकृति के साथ सह-अस्तित्व
4. जनजातीय समाज ने इन परिस्थितियों के अनुरूप अपनी जीवनशैली विकसित की है, जो पर्यावरण के साथ संतुलन बनाए रखने का उदाहरण प्रस्तुत करती है।

सांस्कृतिक समन्वय

बुंदेलखंड में जनजातीय और ग्रामीण संस्कृति का अद्भुत समन्वय देखने को मिलता है। यहाँ लोकदेवताओं, त्योहारों और सामाजिक रीति-रिवाजों में यह समन्वय स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। बुंदेलखंड का भौगोलिक एवं सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य इस क्षेत्र की जनजातीय संस्कृति और साहित्य को समझने की आधारभूमि प्रदान करता है। यहाँ की भौगोलिक कठोरता ने जहाँ जीवन को चुनौतीपूर्ण बनाया है, वहीं सांस्कृतिक रूप से इसे समृद्ध और जीवंत भी बनाया है। इस प्रकार, बुंदेलखंड का अध्ययन भारतीय लोकसंस्कृति और जनजातीय जीवन को समझने के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण है।

बुंदेलखंड की प्रमुख जनजातियाँ

सहरिया जनजाति

सहरिया जनजाति बुंदेलखंड क्षेत्र की एक प्रमुख एवं अत्यंत पिछड़ी जनजाति मानी जाती है। इनका निवास मुख्यत: उत्तर प्रदेश (झांसी, ललितपुर) तथा मध्य प्रदेश (शिवपुरी, श्योपुर, ग्वालियर) के क्षेत्रों में पाया जाता है। सहरिया जनजाति का जीवन प्रकृति, जंगल और वनोपज से गहराई से जुड़ा हुआ है, जो उनकी संस्कृति और साहित्य दोनों को प्रभावित करता है।

उत्पत्ति एवं पहचान

सहरिया शब्द की व्युत्पत्ति 'सह'(जंगल) से मानी जाती है, जिसका अर्थ है-जंगल में रहने वाला। यह जनजाति प्राचीन काल से वन क्षेत्रों में निवास करती आई है और अपनी पारंपरिक जीवनशैली को लंबे समय तक बनाए रखने में सफल रही है।

सामाजिक संरचना

सहरिया समाज मुख्यत: कबीलाई व्यवस्था पर आधारित होता है।, परिवार पितृसत्तात्मक होता है, सामूहिक निर्णय प्रणाली प्रचलित है ,ग्राम प्रधान या मुखिया का विशेष महत्व होता है, सामाजिक जीवन में सहयोग, पारस्परिक सहायता और सामुदायिक एकता प्रमुख विशेषताएँ हैं।

आर्थिक जीवन

सहरिया जनजाति का आर्थिक जीवन पारंपरिक एवं संसाधन-आधारित हैख्रवनोपज संग्रह (लकड़ी, महुआ, तेंदूपत्ता), दिहाड़ी मजदूरी, सीमित कृषि, वनों पर निर्भरता के कारण इनके जीवन में प्राकृतिक संसाधनों का विशेष महत्व है।

धार्मिक विश्वास एवं आस्था

सहरिया जनजाति में धार्मिक जीवन अत्यंत महत्वपूर्ण है। प्रकृति-पूजा (पेड़, नदी, पर्वत), स्थानीय देवी-देवताओं की आराधना, पूर्वज पूजा .वे मानते हैं कि प्राकृतिक शक्तियाँ उनके जीवन को प्रभावित करती हैं, इसलिए उन्हें प्रसन्न रखना आवश्यक है।

सहरिया जनजाति का साहित्य

(क) लोकगीत: सहरिया जनजाति के लोकगीत उनके जीवन का अभिन्न हिस्सा हैं। विवाह गीत, श्रम गीत, फसल गीत, इन गीतों में प्रकृति, प्रेम, संघर्ष और सामूहिक जीवन की झलक मिलती है।

(ख) लोककथाए: सहरिया लोककथाएँ नैतिक शिक्षा और सामाजिक नियमों को स्थापित करती हैं। पशु-पक्षियों की कहानियाँ, देवताओं और पूर्वजों की कथाएँ वीरता और संघर्ष की गाथाएँ.

(ग) मिथक और दंतकथाएँ: इनमें सृष्टि, प्रकृति और जीवन की उत्पत्ति से संबंधित विश्वास निहित होते हैं। ये मिथक उनके धार्मिक और सांस्कृतिक दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हैं।

सांस्कृतिक जीवन

(क) त्योहार और अनुष्ठान: सहरिया जनजाति विभिन्न त्योहारों को बड़े उत्साह से मनाती हैख्रहोली, दीपावली, करमा, इन अवसरों पर नृत्य, संगीत और सामूहिक भोज का आयोजन होता है।

(ख) नृत्य और संगीत: नृत्य और संगीत इनके जीवन का अभिन्न अंग हैंख्रपारंपरिक नृत्य (करमा नृत्य),

वाद्य यंत्र: ढोल, नगाड़ा.

(ग) वेशभूषा और आभूषण: पुरुष: धोती, गमछा

महिलाएँ: साड़ी

चांदी और धातु के आभूषण

गोदना (टैटू) की परंपरा

शिक्षा एवं समकालीन स्थिति: सहरिया जनजाति शिक्षा और स्वास्थ्य के क्षेत्र में पिछड़ी मानी जाती है। निरक्षरता की उच्च दर, कुपोषण की समस्या, सरकारी योजनाओं का सीमित प्रभाव, हालाँकि, वर्तमान में सरकारी एवं गैर-सरकारी प्रयासों से इनके विकास की दिशा में कार्य हो रहा है।

प्रमुख समस्याएँ

गरीबी और बेरोजगारी, वन संसाधनों पर निर्भरता, स्वास्थ्य और पोषण संबंधी समस्याएँ, सांस्कृतिक क्षरण. सहरिया जनजाति बुंदेलखंड की सांस्कृतिक विविधता का महत्वपूर्ण हिस्सा है। इनका साहित्य और संस्कृति प्रकृति के साथ उनके गहरे संबंध, सामूहिक जीवन और परंपरागत ज्ञान को दर्शाते हैं। आधुनिकता के प्रभाव के बावजूद, इनकी सांस्कृतिक पहचान को संरक्षित रखना अत्यंत आवश्यक है।

कोल जनजातिः कोल जनजाति का जीवन कृषि और श्रम पर आधारित है। सामाजिक संगठन मजबूत, लोककथाओं की समृद्ध परंपरा।

गोंड जनजातिः गोंड भारत की प्रमुख जनजातियों में से एक है। समृद्ध लोकसाहित्य, देवी-देवताओं की पूजा, कला और चित्रकला में विशेष योगदान।

बैगा जनजातिः बैगा जनजाति पारंपरिक चिकित्सा ज्ञान के लिए प्रसिद्ध है। ,जड़ी-बूटियों का ज्ञान, प्रकृति के साथ संतुलित जीवन।

जनजातीय साहित्य का स्वरूप

जनजातीय साहित्य मुख्यतः मौखिक होता है। पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तांतरण .सामूहिक स्मृति का संरक्षण. लोकगीत जनजातीय जीवन का अभिन्न अंग हैं। विवाह गीत, फसल गीत, श्रम गीत, पर्व गीत, इन गीतों में प्रकृति, प्रेम, श्रम और संघर्ष की अभिव्यक्ति होती है। लोककथाएँ जनजातीय समाज की सामाजिक संरचना और नैतिकता को दर्शाती हैं। पशु कथाएँ, वीर गाथाएँ, धार्मिक कथाएँ. सृष्टि की उत्पत्ति, प्राकृतिक शक्तियों का महत्व, पूर्वजों की कहानियाँ. ये जीवन के व्यावहारिक ज्ञान को संक्षिप्त रूप में व्यक्त करती हैं।

जनजातीय संस्कृति के आयाम

परिवार और कबीला आधारित समाज, सामूहिक निर्णय प्रणाली, कृषि, वनोपज संग्रह, पशुपालन, प्रकृति पूजा, पूर्वज पूजा, स्थानीय देवी-देवताओं की आराधना, करमा, सरहुल, होली, दीपावली, इन अवसरों पर सामूहिक नृत्य एवं संगीत होता है।

करमा एवं सरहुलः जनजातीय जीवन के प्रमुख पर्व

बुंदेलखंड तथा मध्य भारत की जनजातीय संस्कृति में करमा और सरहुल दो अत्यंत महत्वपूर्ण पर्व हैं। ये केवल धार्मिक अनुष्ठान नहीं, बल्कि सामूहिक जीवन, प्रकृति के प्रति आस्था और सांस्कृतिक एकता के प्रतीक हैं।

करमा पर्व

करमा पर्व मुख्यतः सहरिया, गोंड, कोल आदि जनजातियों द्वारा मनाया जाता है। यह पर्व प्रकृति, विशेषकर करम वृक्ष की पूजा से जुड़ा हुआ है। यह पर्व भाद्रपद या आश्विन मास में मनाया जाता है। अच्छी फसल, समृद्धि और सुख-शांति की कामना के लिए इसे आयोजित किया जाता है।करम वृक्ष की शाखा को लाकर गाँव के मध्य स्थापित किया जाता है। उसकी विधिपूर्वक पूजा की जाती है। महिलाएँ और पुरुष मिलकर करमा गीत गाते हैं।करमा नृत्य इस पर्व का मुख्य आकर्षण होता हैख़समूह में गोलाकार नृत्य, ढोल, मांदर, नगाड़ा जैसे वाद्य, लयबद्ध और ऊर्जावान प्रस्तुति.सामूहिकता और सामाजिक एकता का प्रतीक, प्रकृति के प्रति सम्मान का भाव, युवा वर्ग के लिए सामाजिक सहभागिता का अवसर.

सरहुल पर्व

सरहुल पर्व मुख्यतः मध्य भारत और झारखंड क्षेत्र की जनजातियों में मनाया जाता है, लेकिन इसका प्रभाव बुंदेलखंड की जनजातीय संस्कृति में भी देखा जाता है।यह पर्व चौत्र मास में मनाया जाता है। वसंत ऋतु के आगमन और नए वर्ष के स्वागत का प्रतीक है।सरहुल में साल वृक्ष की पूजा की जाती है। इसे धरती माता और प्रकृति की शक्ति का प्रतीक माना जाता है।गाँव के पुजारी (पाहन) द्वारा पूजा, फूलों और पत्तों से सजावट, सामूहिक भोज और उत्सव.पारंपरिक नृत्य और गीत, स्त्री-पुरुष दोनों की सहभागिता, प्रकृति और जीवन के उत्सव का भाव.

करमा और सरहुल का तुलनात्मक महत्व

आधार	*करमा*	*सरहुल*
प्रकृति से संबंध	करम वृक्ष	साल वृक्ष
समय	भाद्रपद/ आश्विन	चौत्र
उद्देश्य	समृद्धि और फसल	नववर्ष और प्रकृति उत्सव
प्रमुख तत्व	नृत्य, गीत	पूजा, उत्सव

सांस्कृतिक विश्लेषण

दोनों पर्व प्रकृति-आधारित संस्कृति को दर्शाते हैं, सामूहिकता और सामाजिक एकता को बढ़ावा देते हैं, लोकसाहित्य (गीत, नृत्य) के संरक्षण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं, करमा और सरहुल जैसे पर्व बुंदेलखंड की जनजातीय संस्कृति की आत्मा हैं। ये पर्व केवल धार्मिक अनुष्ठान नहीं, बल्कि जीवन के उत्सव, प्रकृति के प्रति सम्मान और सामाजिक एकता के प्रतीक हैं। आधुनिकता के प्रभाव के बावजूद, इन पर्वों का संरक्षण जनजातीय सांस्कृतिक पहचान को बनाए रखने के लिए अत्यंत आवश्यक है।

जनजातीय जीवन में प्रकृति का महत्व

जनजातीय जीवन प्रकृति पर आधारित होता है। जंगल, नदी, पर्वत का धार्मिक महत्व पर्यावरण संरक्षण की परंपरा सतत विकास की अवधारणा.

आधुनिकता और परिवर्तन

आधुनिकता के प्रभाव से-

1. पारंपरिक जीवनशैली में परिवर्तन
2. शिक्षा का प्रसार
3. शहरीकरण
4. लोकसाहित्य का दस्तावेजीकरण

समस्याएँ और चुनौतियाँ

1. सांस्कृतिक क्षरण
2. आर्थिक पिछड़ापन
3. शिक्षा की कमी
4. प्राकृतिक संसाधनों का ह्रास

संरक्षण और संवर्धन के उपाय

1. लोकसाहित्य का दस्तावेजीकरण
2. सांस्कृतिक शिक्षा
3. सरकारी योजनाओं का प्रभावी क्रियान्वयन
4. जनजातीय कला का प्रोत्साहन

आलोचनात्मक मूल्यांकन

जनजातीय समाज में आधुनिकता के प्रवेश से एक द्वंद्व की स्थिति उत्पन्न हुई है। जहाँ एक ओर विकास के अवसर बढ़े हैं, वहीं सांस्कृतिक पहचान पर खतरा भी उत्पन्न हुआ है।

निष्कर्ष

बुंदेलखंड की जनजातियों का साहित्य और संस्कृति भारतीय सांस्कृतिक धरोहर का महत्वपूर्ण हिस्सा है। यह न केवल उनके जीवन और परंपराओं को दर्शाता है, बल्कि मानव और प्रकृति के बीच संतुलन का संदेश भी देता है। इन परंपराओं का संरक्षण आवश्यक है, ताकि यह विरासत आने वाली पीढ़ियों तक पहुँच सके।

संदर्भ सूची (References)

1. गुप्ता, अयोध्या प्रसाद 'कुमुद'. बुंदेलखंड की लोक संस्कृति और साहित्य. नेशनल बुक ट्रस्ट, नई दिल्ली, 2021, चच. 45-60, 120-150.
2. हयारण, रामचरण. बुंदेलखंड की संस्कृति और साहित्य. हिंदी प्रकाशन, इलाहाबाद, 2015, चच. 75-110, 200-250.
3. शुक्ल, रामकुमार. बुंदेलखंड का इतिहास और संस्कृति. मध्यप्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी, भोपाल, 2012, चच. 90-140.
4. तिवारी, कैलाशनाथ. बुंदेलखंड की लोक परंपराएँ. क्षेत्रीय प्रकाशन, झांसी, 2010, चच. 60-120.
5. पांडेय, ब्रजेश कुमार. बुंदेलखंड की जनजातियाँ. अवध प्रकाशन, दिल्ली, 2016, चच. 40-85.
6. दुबे, श्यामाचरण. भारतीय जनजातियाँ. राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2003, चच. 52-68, 101-130.
7. विद्यार्थी, एल.पी. भारतीय जनजातीय संस्कृति. किताब महल, इलाहाबाद, 1997, चच. 85-120, 150-180.
8. मजूमदार, डी.एन. भारतीय जनजातियाँ. मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 2005, चच. 100-150.
9. एल्विन, वेरियर. भारतीय आदिवासी जीवन. राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2007, pp. 70-140.
10. सिंह, के.एस. भारत की जनजातियाँ. ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली, 2008, pp. 120-180.
11. मिश्र, विद्यानिवास. लोक संस्कृति की रूपरेखा. वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2008, pp. 60-95, 120-140.
12. त्रिपाठी, रामनरेश. लोक साहित्य के सिद्धांत. लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2010, pp. 95-130.
13. शर्मा, रामकुमार. भारतीय लोकसाहित्य. प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली, 2016, pp. 140-180.
14. अग्रवाल, वासुदेव शरण. भारतीय लोकधर्म. चौखंभा प्रकाशन, वाराणसी, 2009, pp. 80-130.
15. सिंह, नामवर. इतिहास और आलोचना. राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2011, pp. 200-230.

छत्तीसगढ़ में अत्यधिक मद्यपान के कारणों का विश्लेषणात्मक अध्ययन

अंकित साव

विद्यार्थी समाजशास्त्र विभाग, महाविद्यालय- किरोड़ीमल शासकीय कला एवं विज्ञान स्नातकोत्तर महाविद्यालय रायगढ़

सारांश

छत्तीसगढ़ भारत का एक प्रमुख जनजातीय बहुल राज्य है, जहाँ सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक विविधता स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। इस राज्य में अत्यधिक मद्यपान एक गंभीर सामाजिक एवं स्वास्थ्य संबंधी समस्या के रूप में उभरकर सामने आया है। क्योंकि यह क्षेत्र वनाच्छादित होने के कारण लोग अपनी जरूरतों के लिए वन पर आश्रित होते है जहां महुआ का अत्यधिक उत्पादन लोगों को शराब की ओर आकर्षित करता है यहां सामाजिक कार्यक्रम हो या सांस्कृतिक कार्यक्रम शराब लोगों की लत ही नहीं बल्कि पहली पसंद बन चुकी है जिसका प्रभाव पूरे छत्तीसगढ़ के अधिकांश क्षेत्रों में देखा जा सकता है और लोगों के स्वास्थ्य पर भी बुरा असर पड़ रह है परिवार विघटित होते जा रहे है । यह शोध पत्र छत्तीसगढ़ में अत्यधिक शराब सेवन के प्रमुख कारणों का विश्लेषण करता है, जिसमें सामाजिक संरचना, आर्थिक स्थिति, सांस्कृतिक परंपराएँ, सरकारी नीतियाँ और मनोवैज्ञानिक पहलुओं को ध्यान में रखा गया है। अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि मद्यपान केवल व्यक्तिगत आदत नहीं, बल्कि बहुआयामी सामाजिक समस्या है, जिसके समाधान हेतु समग्र दृष्टिकोण आवश्यक है।

मुख्य शब्द

1. मद्यपान
2. छत्तीसगढ़
3. जनजातीय समाज
4. महुआ
5. शराब की लत
6. सामाजिक प्रभाव
7. आर्थिक प्रभाव
8. नशा मुक्ति
9. सार्वजनिक स्वास्थ्य
10. सरकारी नीतियाँ

प्रस्तावना

भारत में मद्यपान का इतिहास बहुत पुराना है, परंतु विभिन्न क्षेत्रों में इसके स्वरूप और प्रभाव अलग-अलग हैं। छत्तीसगढ़ में विशेष रूप से ग्रामीण और जनजातीय क्षेत्रों में शराब का उपयोग सामाजिक जीवन का एक हिस्सा बन चुका है। यहाँ पारंपरिक रूप से 'महुआ' और अन्य स्थानीय पेयों का उपयोग होता रहा है, जो अब व्यावसायिक शराब के प्रसार के साथ अधिक व्यापक और हानिकारक रूप ले चुका है।

अत्यधिक मद्यपान के कारण समाज में स्वास्थ्य समस्याएँ, घरेलू हिंसा, आर्थिक अस्थिरता और सामाजिक विघटन जैसी समस्याएँ बढ़ रही हैं। इस शोध का उद्देश्य इन कारणों का गहन विश्लेषण करना है ताकि प्रभावी समाधान सुझाए जा सकें।

शोध के उद्देश्य

1. छत्तीसगढ़ में मद्यपान की प्रवृत्ति को समझना
2. अत्यधिक मद्यपान के सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक कारणों का विश्लेषण
3. सरकारी नीतियों और उनके प्रभाव का अध्ययन
4. समस्या के समाधान हेतु सुझाव प्रस्तुत करना
5. घरों में कच्चे शराब के उत्पादन के कारणों का पता लगाना

शोध पद्धति

इस अध्ययन में छत्तीसगढ़ में अत्यधिक मद्यपान के कारणों का विश्लेषण करने हेतु वर्णनात्मक (Descriptive) एवं विश्लेषणात्मक (Analytical) शोध पद्धति अपनाई गई है। शोध में मिश्रित दृष्टिकोण (Mixed Approach) का उपयोग किया गया है, जिसमें मात्रात्मक (Quantitative) एवं गुणात्मक (Qualitative) दोनों प्रकार के डेटा का समावेश है। मात्रात्मक पक्ष के अंतर्गत विभिन्न सरकारी एवं संस्थागत रिपोर्टों के सांख्यिकीय आंकड़ों का विश्लेषण किया गया है, जबकि गुणात्मक पक्ष में सामाजिक, सांस्कृतिक एवं मनोवैज्ञानिक कारकों की व्याख्या की गई है। अध्ययन का क्षेत्र मुख्यत: छत्तीसगढ़ राज्य के जनजातीय एवं ग्रामीण क्षेत्रों पर केंद्रित है, जहाँ मद्यपान की प्रवृत्ति अधिक पाई जाती है।

इस शोध में डेटा का प्रमुख स्रोत द्वितीयक सामग्री रही है, जिसमें Ministry of Health and Family Welfare dh NFHS रिपोर्ट, National Sample Survey Office (NSSO) के सर्वेक्षण, Government of Chhattisgarh के आर्थिक सर्वेक्षण तथा World Health Organization की रिपोर्टों का उपयोग किया गया है। आवश्यकतानुसार साक्षात्कार एवं अवलोकन जैसी प्राथमिक विधियों का भी संदर्भ लिया गया है। डेटा विश्लेषण के लिए प्रतिशत, तुलनात्मक अध्ययन तथा विषय-वस्तु विश्लेषण तकनीकों का प्रयोग किया गया है। यद्यपि अध्ययन मुख्यत: द्वितीयक स्रोतों पर आधारित है और इसमें कुछ सीमाएँ (जैसे सीमित क्षेत्रीय प्रतिनिधित्व एवं संभावित पक्षपात) मौजूद हैं, फिर भी यह पद्धति विषय के समग्र एवं विश्वसनीय विश्लेषण में सहायक सिद्ध होती है।

छत्तीसगढ़ में मद्यपान की वर्तमान स्थिति

छत्तीसगढ़ में शराब का सेवन व्यापक स्तर पर देखा जाता है, विशेषकर ग्रामीण और जनजातीय क्षेत्रों में। राज्य सरकार की आय का एक बड़ा हिस्सा शराब बिक्री से आता है, जिससे इसकी उपलब्धता बढ़ी है। कई रिपोर्टों के अनुसार, राज्य में प्रति व्यक्ति शराब सेवन की मात्रा राष्ट्रीय औसत से अधिक है। समय - समय पर बनाए गए शराब नीतियां जो छत्तीसगढ़ में नए शराब के ठेके खुले है जिसके कारण भी लोग अत्यधिक शराब पी रह है और लोगों को नशीले पदार्थों के रूप में शराब के साथ साथ अन्य मादक द्रव्य भी प्रयोग किए जा रहे है।

अत्यधिक मद्यपान के प्रमुख कारण

1. सांस्कृतिक एवं पारंपरिक कारण

छत्तीसगढ़ के जनजातीय समुदायों में मद्यपान को सामाजिक और धार्मिक गतिविधियों का हिस्सा माना जाता है।

- त्योहारों, विवाह और अन्य समारोहों में शराब का उपयोग सामान्य है
- 'महुआ' जैसे पारंपरिक पेयों का सांस्कृतिक महत्व
- सामाजिक स्वीकृति के कारण इसे गलत नहीं माना जाता

यह सांस्कृतिक स्वीकृति धीरे-धीरे लत (Addiction) में बदल जाती है।

2. आर्थिक कारण

आर्थिक स्थिति भी मद्यपान को प्रभावित करती है:

- गरीबी और बेरोजगारी
- दैनिक मजदूरी करने वाले लोगों में तनाव अधिक
- सस्ती शराब की उपलब्धता
- आय का बड़ा हिस्सा शराब पर खर्च

गरीबी और मद्यपान एक-दूसरे को बढ़ावा देते हैं, जिससे एक दुष्चक्र बन जाता है।

3. सरकारी नीतियाँ और राजस्व निर्भरता

राज्य सरकार शराब से होने वाली आय पर काफी निर्भर है।

- शराब की दुकानों की संख्या में वृद्धि
- आसान उपलब्धता
- नियंत्रण की कमी

हालांकि सरकार ने कुछ नियंत्रण उपाय किए हैं, परंतु राजस्व के कारण पूर्ण प्रतिबंध लागू करना कठिन है।

4. सामाजिक दबाव और समूह प्रभाव (Peer Pressure)

- मित्र समूहों में शराब पीने का दबाव
- युवा वर्ग में आधुनिकता के नाम पर शराब का चलन
- सामाजिक स्वीकार्यता

यह प्रवृत्ति विशेषकर युवाओं में तेजी से बढ़ रही है।

5. शिक्षा और जागरूकता की कमी

- ग्रामीण क्षेत्रों में शिक्षा का स्तर कम
- शराब के दुष्प्रभावों के बारे में जानकारी का अभाव
- स्वास्थ्य संबंधी जागरूकता की कमी

यदि लोगों को सही जानकारी नहीं मिलेगी, तो वे इसके नुकसान को नहीं समझ पाएंगे।

6. मानसिक और मनोवैज्ञानिक कारण

- तनाव, अवसाद और चिंता
- पारिवारिक समस्याएँ
- जीवन में असफलता

लोग अक्सर मानसिक तनाव से बचने के लिए शराब का सहारा लेते हैं, जो धीरे-धीरे लत बन जाता है।

7. औद्योगीकरण और शहरीकरण

- नए उद्योगों के आने से मजदूर वर्ग में वृद्धि
- शहरी जीवनशैली का प्रभाव
- तनावपूर्ण कार्य परिस्थितियाँ

इन कारणों से भी शराब सेवन बढ़ा है।

- अत्यधिक मद्यपान के प्रभाव

1. स्वास्थ्य पर प्रभाव

अत्यधिक मद्यपान से लिवर रोग, उच्च रक्तचाप और हृदय संबंधी समस्याएँ बढ़ती हैं। यह मानसिक स्वास्थ्य को भी प्रभावित करता है, जिससे अवसाद और चिंता उत्पन्न होती है। शरीर की रोग प्रतिरोधक क्षमता कमजोर हो जाती है और दुर्घटनाओं का जोखिम बढ़ जाता है।

2. सामाजिक प्रभाव

मद्यपान से व्यक्ति का व्यवहार आक्रामक हो जाता है, जिससे घरेलू हिंसा और पारिवारिक कलह बढ़ती है। इससे परिवार में तनाव और विघटन होता है तथा अपराधों में वृद्धि देखी जाती है। समाज में व्यक्ति की प्रतिष्ठा भी कम हो जाती है।

3. आर्थिक प्रभाव

शराब पर अधिक खर्च से परिवार की आर्थिक स्थिति कमजोर होती है। आय और व्यय के असंतुलन से गरीबी बढ़ती है। कार्य क्षमता घटने से रोजगार प्रभावित होता है और इलाज का खर्च अतिरिक्त बोझ बनता है।

4. महिलाओं और बच्चों पर प्रभाव

मद्यपान के कारण महिलाओं को घरेलू हिंसा और मानसिक तनाव का सामना करना पड़ता है। बच्चों की शिक्षा और विकास प्रभावित होता है तथा उनमें असुरक्षा की भावना बढ़ती है।

5. मनोवैज्ञानिक प्रभाव

अत्यधिक मद्यपान से लत लग जाती है और व्यक्ति मानसिक रूप से कमजोर हो जाता है। अवसाद, निराशा और निर्णय लेने की क्षमता में कमी देखने को मिलती है।

6. सांस्कृतिक एवं सामुदायिक प्रभाव

यह पारंपरिक मूल्यों और सामाजिक अनुशासन को कमजोर करता है। नकारात्मक आदतें पीढ़ी दर पीढ़ी फैलती हैं और सामुदायिक विकास बाधित होता है।

7. सार्वजनिक स्वास्थ्य एवं प्रशासनिक प्रभाव

मद्यपान से स्वास्थ्य सेवाओं पर दबाव बढ़ता है और कानून-व्यवस्था प्रभावित होती है। सरकार को अतिरिक्त संसाधन खर्च करने पड़ते हैं, जिससे विकास कार्य प्रभावित होते हैं।

समाधान एवं सुझाव

1. जागरूकता अभियान

अत्यधिक मद्यपान को कम करने के लिए व्यापक जागरूकता अभियान चलाना आवश्यक है। ग्रामीण और जनजातीय क्षेत्रों में लोगों को सरल एवं स्थानीय भाषा में शराब के दुष्प्रभाव समझाए जाने चाहिए। स्कूल, कॉलेज और सामुदायिक कार्यक्रमों के माध्यम से युवाओं को इसके नुकसान से अवगत कराया जा सकता है। साथ ही, टीवी, रेडियो और सोशल मीडिया जैसे माध्यमों का उपयोग करके जनजागरण को और अधिक प्रभावी बनाया जा सकता है।

2. सरकारी नीतियों में सुधार

सरकार को शराब की उपलब्धता नियंत्रित करने के लिए दुकानों की संख्या और उनके समय पर उचित सीमाएँ लगानी चाहिए। साथ ही, शराब से होने वाली आय पर निर्भरता कम करते हुए वैकल्पिक राजस्व स्रोत विकसित करना आवश्यक है। सख्त कानूनों के प्रभावी क्रियान्वयन से अवैध शराब के उत्पादन और बिक्री पर नियंत्रण पाया जा सकता है। इसके अतिरिक्त, निगरानी तंत्र को मजबूत करना भी जरूरी है।

3. शिक्षा और रोजगार के अवसर

शिक्षा और रोजगार के अवसरों का विस्तार मद्यपान की प्रवृत्ति को कम करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। युवाओं को कौशल विकास कार्यक्रमों और रोजगार के अवसर प्रदान किए जाएँ, जिससे वे सकारात्मक गतिविधियों में संलग्न रहें। इससे न केवल नशे की ओर झुकाव कम होगा, बल्कि उनकी आर्थिक स्थिति भी सुदृढ़ होगी। दीर्घकाल में यह सामाजिक विकास को भी प्रोत्साहित करेगा।

4. नशा मुक्ति केंद्रों की स्थापना

प्रभावित व्यक्तियों के उपचार और पुनर्वास के लिए प्रत्येक जिले में नशा मुक्ति केंद्र स्थापित किए जाने चाहिए। इन केंद्रों में प्रशिक्षित विशेषज्ञों द्वारा परामर्श, चिकित्सा और पुनर्वास की सुविधाएँ उपलब्ध कराई जानी चाहिए। इससे व्यक्ति को न केवल नशा छोड़ने में मदद मिलेगी, बल्कि वह पुनः समाज में सामान्य जीवन जी सकेगा। नियमित फॉलो-अप भी आवश्यक है।

5. सामाजिक संगठनों की भूमिका

सामाजिक संगठन और गैर-सरकारी संस्थाएँ (NGOs) इस समस्या के समाधान में महत्वपूर्ण योगदान दे सकते हैं। ये संस्थाएँ जागरूकता फैलाने, नशा मुक्ति कार्यक्रम चलाने और प्रभावित परिवारों को सहयोग देने का कार्य करती हैं। महिला समूहों और स्वयं सहायता समूहों की सक्रिय भागीदारी से समाज में सकारात्मक वातावरण बनता है। इससे सामूहिक प्रयास मजबूत होते हैं।

निष्कर्ष

छत्तीसगढ़ में अत्यधिक मद्यपान एक गंभीर और बहुआयामी सामाजिक समस्या है, जिसका प्रभाव व्यक्ति, परिवार और समाज सभी पर पड़ता है। इस अध्ययन से स्पष्ट होता है कि इसके प्रमुख कारणों में सामाजिक स्वीकृति, सांस्कृतिक परंपराएँ, आर्थिक कठिनाइयाँ, बेरोजगारी और शराब की आसान उपलब्ध ता शामिल हैं। विशेषकर ग्रामीण और जनजातीय क्षेत्रों में यह समस्या अधिक गहराई से जुड़ी हुई है।

इसके दुष्प्रभाव स्वास्थ्य हानि, पारिवारिक विघटन, घरेलू हिंसा, आर्थिक अस्थिरता और अपराध वृद्धि के रूप में सामने आते हैं। महिलाओं और बच्चों पर इसका प्रभाव विशेष रूप से गंभीर होता है, जिससे उनके जीवन और विकास पर नकारात्मक असर पड़ता है।

अतः आवश्यक है कि इस समस्या को सामाजिक चुनौती के रूप में समझते हुए जागरूकता, शिक्षा, रोजगार, नीतिगत सुधार और सामुदायिक सहयोग के माध्यम से नियंत्रित किया जाए। सरकार, समाज और परिवार के संयुक्त प्रयासों से ही एक स्वस्थ और संतुलित समाज का निर्माण संभव है।

संदर्भ सूची

- G. S. Ghurye. (1963). The scheduled tribes. Mumbai: Popular Prakashan.
- Ram Ahuja. (2014). Social problems in India (3rd ed.). Jaipur: Rawat Publications.
- Ministry of Health and Family Welfare, International Institute for Population Sciences (IIPS), & ICF. (2021). National family health survey (NFHS-5), 2019–21: India.
  Link :- https://healthnutritionindia.in/reports/documents/35/NFHS-5_INDIA_REPORT.pdf?utm_source=chatgpt.comÿþ
- Chhattisgarh Excise Department. (2023). Excise statistics and alcohol sales data.
  Link :- https://excise.cg.gov.in
- NITI Aayog. (2021). State health index and social indicators.
  Link :- https://www.niti.gov.in

भारत में हरित क्रांति से उत्पन्न पर्यावरणीय समस्याएं: एक अध्ययन

डॉ० गुड़िया कुमारी

सहायक प्राध्यापक, भूगोल विभाग, आर.एन.ए.आर. महाविद्यालय, समस्तीपुर

भारत एक कृषि प्रधान देश है। यहां की लगभग 70 प्रतिशत जनसंख्या गाँव में निवास करती है। जिसका प्रमुख पेशा कृषि है। कृषि उपज से होने वाली आय भारत की सकल घरेलु उत्पाद की लगभग 18 प्रतिशत है। स्वतंत्रता के उपरान्त भारतवर्ष में जहाँ अकृषित क्षेत्रों को कृषित क्षेत्रों में बदलने की प्रक्रिया आरंभ हुई वहीं प्रति हेक्टेयर उत्पादन में भी बढ़ोत्तरी के प्रयास किये गये। इस दिशा में सतत प्रयोग प्रारंभ किये गये जिसमें सर्वप्रथम सघन कृषि जिला कार्यक्रम- 1960-61 क्रियान्वित किया गया जिसके अधीन एक क्षेत्र का चयन करके वहां कृषि उपज बढ़ाने का प्रयास किया गया। इसमें जब सफलता मिली तो सघन कृषि क्षेत्रीय कार्यक्रम- 1965 के नाम से दूसरी योजना की शुरूआत की गयी।

1960-70 के दशक को हरित क्रांति का दशक कहा जाता है क्योंकि इस कालावधि में खाद्यान्न के उत्पादन में अत्यधिक बढ़ोत्तरी हुई। इस क्रांति के माध्यम से जहां एक ओर सामाजिक, आर्थिक और जैव तत्वों के विकास में साकारात्मक प्रभाव पड़ा वहीं कालान्तर में इसके कई नाकारात्मक प्रभाव भी दृष्टिगोचर हुए।

उद्देश्य

इस आलेख का उद्देश्य हरित क्रांति से जनित आर्थिक, सामाजिक एवं जैव मंडलीय समस्या का अध्ययन करना है।

विश्लेषण

हरित क्रांति वस्तुत: नयी कृषि पद्धति मे सिंचाई, उन्नत बीज एवं उर्वरकों के प्रयोग द्वारा आर्थिक विकास से आबद्ध थी परन्तु इस क्रांति की सफलता हेतु सार्वजनिक नीतियाँ तथा संस्थागत सुविधाओं की विशेष महत्ता ही इन विकासात्मक कार्यकलापों में प्रादेशिक अन्तर और अन्तर्क्षेत्रीय आर्थिक विषमता का कारण बना। अन्तर्क्षेत्रीय आधारों पर हरित क्रांति से प्रभावित क्षेत्रों के कृषकों को तीन वर्गों में वर्गीकृत किया जाता है। इसमें अपेक्षाकृत शिक्षित एवं साधन सम्पन्न कृषक प्रथम समूह में थे जिन्होंने आरंभ से इस नीति का अनुसरण किया। परिणामस्वरूप उन्हें एक साथ तीन विशिष्ट लाभ प्राप्त हुए। प्रथम समूह के इन किसानों को मृदा की उर्वरकता का वास्तविक लाभ प्राप्त हुआ। इसी प्रकार वैज्ञानिक कृषि से इनका अनुकूलन अन्य कृषक समूह की अपेक्षा तेजी से हुआ और बाजार आधरित कृषि का प्रथम लाभ इन्हें उपलब्ध हो सका। उपरोक्त लाभ के कारण यह वर्ग हरित क्रांति से सर्वाधिक लाभान्वित हुआ जबकि इस क्रांति में कुछ समय के बाद सम्मिलित होने वाले द्वितीय वर्ग के किसानों को उपरोक्त लाभों की मध्यम प्राप्ति हो सकी और तीसरे वर्ग के विलंब से इस क्रांति में सम्मिलित होने वाले कृषकों को इन लाभों की प्राप्ति नहीं हो सकी जिसकी वजह से हरित क्रान्ति से प्रभावित क्षेत्र में ही आर्थिक असमानता की स्थिति उत्पन्न हुई।

हरित क्रान्ति पूर्णत: बाजार आधारित थी जहाँ किसानों की आय का निर्धारण उत्पादन से अधिक बाजारी आय से होता था। राजनीतिक, आर्थिक अथवा कृषि कारकों के कारण यदि फसल की बाजारी पहुँच बाधित हो तो यह समस्त क्षेत्र में आर्थिक मंदी का कारण बन जाती है। बड़े तथा सम्पन्न किसान अपनी क्षमता के कारण इस समस्या के बावजूद यथावत रह सकते हैं परन्तु छोटे और निर्धन किसानों को आर्थिक समस्या के समाधान हेतु अपने खेतों को बेचना ही एक मात्र विकल्प होता है। फलस्वरूप इस क्षेत्र के छोटे किसान भूमिहीन कृषि श्रमिकों में बदल गये।

अन्तर्क्षेत्रीय आर्थिक असमानताओं की व्याख्या दो प्रमुख आधारों पर की गयी है। जिसके अध्यधीन वैज्ञानिक कृषि से संबंधित सुविधाओं की असमान उपलब्धता तथा बाजारी स्पर्धा की असमान स्थिति को सम्मिलित किया जाता है। हरित क्रान्ति के विकास के साथ ही पंजाब, हरियाणा और पश्चिमी उत्तर प्रदेश भारत के कृषि क्षेत्रों के समान विकसित हुए जिसके परिणामस्वरूप सरकारी नीतियों द्वारा वैज्ञानिक कृषि पद्धति और संरचनात्मक तथा संस्थागत विकास हेतु इस क्षेत्र पर विशेष बल दिया गया। इस स्थिति में हरित क्रान्ति से अप्रभावित किसान सेवाओं तथा सुविधाओं से वंचित रहे जिससे उनका कृषि विकास का कार्य बाधित हुआ। इस प्रकार हरित क्रान्ति ने सम्पूर्ण देश को वैज्ञानिक और पारम्परिक कृषि के दो भागों में विभाजित कर दिया। वैज्ञानिक कृषि का उत्पादन और उसकी उत्पादकता पारम्परिक कृषि से अधिक थी जिससे अन्तर्क्षेत्रीय आर्थिक असमानताएँ दृष्टिगोचर हुई।

हरित क्रांति के द्वारा भारत में बाजार आधारित कृषि की नयी पद्धति आरंभ हुई जिसमें कृषि की आय का शुद्ध बाजारी मूल्यों पर आकलन किया गया। इस परिवर्तन के परिप्रेक्ष्य में हरित क्रान्ति के प्रभावित क्षेत्रों में उत्पन्न खाद्यान्नों को बाजार की यथा समय पहुंच उपलब्ध थी। बाजारी आधारों से जुड़े होने की वजह से इस क्षेत्र के कृषकों को राष्ट्रव्यापी बाजारण का प्रत्यक्ष लाभ मिला। इसके विपरीत अन्य क्षेत्रों के किसान वितरण और बाजारी सुविधाओं के अभाव के कारण वास्तविक मूल्यों से वंचित रहे। उक्त पद्धति के कारण एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र और एक फसल से दूसरी फसल की आय में अन्तर हुआ जो असमानता के सृजन का कारण बना।

हरित क्रान्ति ने कृषि को व्यावसायिक आधारों पर विकसित किया। परिणामस्वरूप ग्रामीण क्षेत्रों में भी धन की अहमियत अन्य किसी तत्व से बढ़ गयी। कृषि से संबंधित वैचारिक परिवर्तन के साथ ही गाँव की पारम्परिक, सामाजिक एवं समाज संचालित न्यायिक व्यवस्था लुप्त हो गयी। आरम्भिक काल से भारतीय ग्रामीण समुदाय जजमानी व्यवस्था के द्वारा एक दूसरे से जुड़ा था जो कालान्तर में अंग्रेजी शासन द्वारा समाप्त कर दी गयी। तदोपरान्त विपत्ति के समय एक दूसरे की सहायता की संकल्पना ग्रामीण समाज में प्रचलित थी। नयी कृषि व्यवस्था के कारण यह व्यवस्था भी प्रभावित हुई और इस प्रकार ग्रामीण समाज आर्थिक आधार पर विभाजित हो गया।

वैसे क्षेत्र जो हरित क्रांति से प्रत्यक्षत: प्रभावित थे उन क्षेत्रों की भूमि को बाजार नियंत्रित वस्तु का स्थान प्राप्त हुआ जिसके कारण संयुक्त परिवार का प्रत्येक सदस्य भूमि पर व्यक्तिगत अधिकार की प्राप्ति के निमित्त प्रयासरत रहा। अस्तु पुराने संयुक्त परिवार का विघटन प्रारम्भ हुआ। साथ ही भूमि विवादों की संख्या वृद्वित हुई।

दूसरी और वैसे क्षेत्र जो हरित क्रांति से प्रत्यक्षत: प्रभावित नहीं थे वहां इसके कुपरिणाम अत्यधिक परिलक्षित दिखे। भूगोलवेत्ता डा. माजिद हुसैन के अनुसार विगत दशक में जातीय आधारित उग्रवादी समूह का गठन भी हरित क्रान्ति का कुपरिणाम है। हरित क्रान्ति के प्रभाव से बाजार से संबंधित भूमि मूल्यों की तीव्र वृद्धि हुई जिससे ग्रामीण समाज के प्रत्येक समूह का उद्देश्य अधिक बाजारी लाभ से प्रभावित भूमि पर अधिकार करना हो गया। परिवर्तित मानसिकता के परिणामस्वरूप भूमि सेना, लौरिक सेना, सनलाइट सेना और अली सेना जैसे विशिष्ट समूह आधारित उग्रवादी दस्तों का गठन हुआ जो वर्तमान समय में कृषि के ह्रास के साथ-साथ सामाजिक और प्रशासनिक समस्या के समान विकसित हुये हैं।

उत्पादन और उत्पादकता के ह्रास के साथ ही हरित क्रांति के क्षेत्र में अधिक वैज्ञानिक प्रबंधन की आवश्यकता महसूस की गयी जिसमें पहले की अपेक्षा अधिक निवेश अपेक्षित था। अधिक निवेश के कारण इस क्षेत्र के उत्पादों की कीमत दूसरे केन्द्रों के उत्पादों से बढ़ने लगी जो मांग के ह्रास का कारण बनी। छोटे कृषक बाजार की इस परिवर्तित स्थिति में अदक्ष साबित हुए और उन्होंने गैर कृषि कार्यों में पलायन करना शुरू किया।

पारिस्थिकी तंत्र जैव मंडल का वैसा भाग है जहां तापमान, आद्रता एवं अन्य प्राकृतिक दशाओं के अनुकूल जैव विविधता विकसित होती है। पारिस्थिकी तंत्र का विकास प्राथमिक द्वितीय और तृतीय स्तर पर उत्पादन एवं उपभोग में सांसत से होता है। मनुष्य ने निजी विकास हेतु पारिस्थिकी को सदैव बाधित किया है जिसके कारण स्वसंचालित प्रकृति पारिस्थिकी अंतत: ऊर्जा संचालित पारिस्थिकी में बदल जाती है। मनुष्य के तात्कालिक भौतिक विकास में यह परिवर्तन निश्चित रूप से सहायक सिद्ध होता है लेकिन पारिस्थिकी के निरन्तर विदोहन से कालान्तर में पर्यावरण सम्बंधी समस्याएं उत्पन्न होती हैं। हरित क्रान्ति भी कृषि आवश्यकताओं की पूर्ति करने हेतु देश में आरंभ की गयी परन्तु पर्यावरण के असंतुलित विदोहन के कारण विगत दशक में इसके कुप्रभाव दृष्टिगोचर हुए हैं।

हरित क्रान्ति के आरंभ के साथ ही प्राथमिक स्तर पर कृषि विकास हेतु एकलीकरण प्रारंभ हुआ। एकलीकरण की यह पद्धति विशिष्ट फसलों तक सीमित थी। इसके लिए रासायनिक उर्वरकों एवं उन्नत बीजों का उपयोग दक्ष सिंचाई के अन्तर्गत किया गया। इस नयी कृषि तकनीक ने भूमि की आन्तरिक उत्पादकता के अविधिवत विदोहन को प्रश्रय दिया जबकि उत्पादकता के पुनर्निर्माण की दिशा में कोई परिवर्तन नहीं किये गये। कालान्तर में नये क्षेत्रों को भी इस कृषि तकनीक में शामिल किया गया। फलस्वरूप उत्तरी-पश्चिमी भारत की अर्द्ध शुष्क पारिस्थिकी तंत्र का एकलीकरण भूमि की उत्पादकता के ह्रास का कारण बना।

हरित क्रान्ति का उद्देश्य खाद्यान्नों के अधिक उत्पादन से संबंधित था। फलत: कीटनाशक, घासनाशक, कवकनाशक औषधियों के प्रयोग से यद्यपि कुछ विशेष फसलों को संरक्षित विकास का आधार निश्चित किया परन्तु इनके द्वारा मृदा की संरचना नमी और मृदा वायु की स्थिति के साथ-साथ उस क्षेत्र के जीवाणु विविधता भी विनष्ट हुई। इस परिस्थिति में फसलों पर गैर-क्षेत्रीय कीटों के प्रभाव में वृद्धि हुई जिससे कुल उत्पादन पर प्रभाव पड़ा।

विगत दो दशकों में कृषि क्षेत्र में उर्जा की खपत में वृद्धि हुई है। कृषि संयंत्रों, मिट्टी तेल और डीजल के बढ़ते उपयोग के कारण कृषि क्षेत्र भी पर्यावरण प्रदूषकों में सम्मिलित हुआ है। इन संयंत्रें से उत्सर्जित गैस तथा एस.पी.एम. के साथ ही वाष्पीभवन के कारण मिट्टी में संरक्षित तीक्ष्ण अमलों का वायुमंडल में संचार होता है जो वर्षा द्वारा भूमि पर वितरित होते ही जैव विविधता के ह्रास का कारण बनते हैं। इन प्रदूषकों द्वारा पृथ्वी से उत्सर्जित ताप का अधिक अवशोषण किया जाता है जिससे कृषि क्षेत्र भी वायुमंडलीय ताप वृद्धि के कारक के समान विकसित हुए हैं।

वैज्ञानिक कृषि के विकास हेतु प्रयुक्त उर्वरकों तथा कीटनाशकों से सम्पर्क के बाद जल के भूमिगत रिसाव से भूमिगत जल का तल प्रदूषित होता है। इसी प्रकार इन रसायनों से सम्पर्क के उपरान्त सतही प्रवाह के जल की नदियों अथवा खाड़ियों में गिरने से नये जीवाणु की मात्रा में एकाएक वृद्धि होती

है जो जैव ऑक्सीजन मांग की वृद्धि का कारण बनता है जिससे जल जैव चक्र का विकास कुप्रभावित होता है। भूमिगत अथवा सतही प्रदूषित जल की सिंचाई अथवा पेय उपयोग का सीधा कुप्रभाव कृषि तथा मानव स्वास्थ्य पर पड़ता है।

निष्कर्ष

उपरोक्त सम्पूर्ण तथ्यों के अवलोकनोपरान्त मैं इस निष्कर्ष पर पहुंचा हूँ कि हरित क्रान्ति से जहाँ एक ओर लाभ हुआ है वहीं दूसरी ओर हानि भी हुई है। सरकार द्वारा वर्णित स्थिति के मद्देनजर नयी चिर-हरित क्रान्ति की शुरूआत की गयी है जिसका उद्देश्य देश के शुष्क क्षेत्रों को कृषि जलवायिक क्षेत्रीय आयोजन के अनुकूल स्थानीय संसाधनों के उपयोग के द्वारा उर्वर क्षेत्र में तबदील करना है। इसके अलावा सरकार ने मोटे अनाज के उत्पादन एवं अन्य प्रकार के अनाज के उत्पादन पर भी जिसकी उत्पादकता अपेक्षाकृत कम है, को बढ़ावा देने का प्रयास किया है। इससे जहाँ हरित क्रांति से अप्रभावित क्षेत्र में कृषि का विकास कारित होगा वहीं इससे उत्पन्न क्षेत्रीय भेदभाव एवं आर्थिक विषमता की समाप्ति भी हो सकेगी।

ऐसी आशा की जाती है कि यदि सरकार की योजना अपने संचालन एवं मिशन में सफल हो जाती है तो निश्चय ही भारत विश्व के अग्रणी कृषि उत्पादक राष्ट्रों की श्रेणी में खड़ा हो सकता है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. रूद्रदत्त एवं सुन्दरम : भारतीय अर्थव्यवस्था, एस. चान्द कम्पनी, पृष्ठ संख्या- 413 से 422
2. शर्मा और कौनटिनो : इकोनॉमिक एण्ड कॉमर्शियल ज्योग्राफी ऑफ इण्डिया, विकास पब्लिशिंग हॉउस, पृष्ठ संख्या-150 से 157
3. डॉ. अलका गौतम : भारत का भूगोल, शारदा पुस्तक भवन, पृष्ठ संख्या- 272 से 301
4. विश्वनाथ तिवारी : भारत का भौगोलिक स्वरूप, शिवलाल अग्रवाल एण्ड कम्पनी, पृष्ठ संख्या- 166 से 229

भारत की भू-राजनीतिः वैश्विक शक्ति संतुलन और रणनीतिक परिप्रेक्ष्य

डॉ० गौतम कुमार

सहायक प्राध्यापक, राजनीति विज्ञान विभाग, एम.जे.के.कॉलेज, बेतिया

सारांश

भू-राजनीति (Geo - Politics) एक ऐसा अध्ययन है, जो भौगोलिक परिस्थितियों, संसाधनों, सामरिक स्थिति तथा वैश्विक शक्ति-संतुलन के परिप्रेक्ष्य में किसी राष्ट्र की विदेश नीति, राष्ट्रीय सुरक्षा और आर्थिक रणनीति को समझने का प्रयास करता है। भारत की भू-राजनीतिक स्थिति अत्यंत विशिष्ट है क्योंकि यह एशिया के हृदय में स्थित है और इसके चारों ओर विविध भौगोलिक तथा सामरिक चुनौतियाँ एवं अवसर उपस्थित हैं। भारत के उत्तर में हिमालय पर्वतमाला इसे प्राकृतिक सुरक्षा प्रदान करती है, वहीं पूर्व और पश्चिम में चीन तथा पाकिस्तान जैसे शत्रुतापूर्ण पड़ोसी देश भारत की सुरक्षा चिंताओं को जटिल बनाते हैं। दक्षिण में हिंद महासागर भारत को समुद्री सामरिक महत्व प्रदान करता है, जिसके कारण भारत इंडो-पैसिफिक क्षेत्र की राजनीति में एक महत्वपूर्ण शक्ति के रूप में उभर रहा है। भारत की भू-राजनीति केवल उसकी भौगोलिक स्थिति तक सीमित नहीं है, बल्कि इसमें उसकी सांस्कृतिक विरासत, ऊर्जा-आवश्यकताएँ, समुद्री व्यापार मार्ग, तथा वैश्विक शक्ति-संतुलन में उसकी भूमिका भी सम्मिलित है। भारत की विदेश नीति 'पड़ोसी पहले', 'एक्ट ईस्ट', 'लुक वेस्ट' तथा 'इंडो-पैसिफिक रणनीति' जैसी पहलों के माध्यम से अपने भू-राजनीतिक हितों को आगे बढ़ाती है। साथ ही, भारत संयुक्त राष्ट्र, ब्रिक्स, जी-20, क्वाड और शंघाई सहयोग संगठन जैसे मंचों पर सक्रिय भागीदारी करके वैश्विक राजनीति में अपनी प्रासंगिकता को निरंतर सुदृढ़ कर रहा है।

21वीं सदी में भारत की भू-राजनीतिक चुनौतियाँ और अवसर दोनों व्यापक हैं। एक ओर चीन की बढ़ती सैन्य-आर्थिक शक्ति, पाकिस्तान प्रायोजित आतंकवाद, अफगानिस्तान और पश्चिम एशिया की अस्थिरता जैसी चुनौतियाँ हैं, वहीं दूसरी ओर लोकतंत्र, जनसंख्या-लाभांश, प्रौद्योगिकी, और वैश्विक साझेदारी जैसे अवसर भी उपलब्ध हैं। जलवायु परिवर्तन, ऊर्जा सुरक्षा, खाद्य सुरक्षा और साइबर सुरक्षा जैसी नई भू-राजनीतिक चुनौतियाँ भी भारत को प्रभावित कर रही हैं। इस प्रकार कहा जा सकता है कि भारत की भू-राजनीति उसके भविष्य की दिशा और विश्व में उसकी स्थिति निर्धारित करने में एक केंद्रीय तत्व है। यदि भारत अपनी सामरिक स्थिति, आर्थिक सामर्थ्य और कूटनीतिक क्षमता का संतुलित उपयोग करता है, तो वह न केवल एशिया में बल्कि वैश्विक राजनीति में भी निर्णायक भूमिका निभा सकता है।

शब्दकुंजीः भू-राजनीति, प्रौद्योगिकी, वैश्विक साझेदारी, एक्ट ईस्ट, लाभांश

प्रस्तावनाः-

भू-राजनीति (Geo - politics) आधुनिक अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का एक केंद्रीय तत्व है। यह केवल किसी राष्ट्र की भौगोलिक स्थिति तक सीमित नहीं होती, बल्कि उस राष्ट्र के भौगोलिक परिप्रेक्ष्य, संसाधनों, सैन्य शक्ति, आर्थिक क्षमता, प्रौद्योगिकी, सांस्कृतिक प्रभाव और कूटनीतिक नीतियों के सम्मिलित अध्ययन का परिणाम होती है। भू-राजनीति यह समझने का प्रयास करती है कि किस प्रकार भौगोलिक कारक किसी राष्ट्र की आंतरिक एवं बाह्य नीतियों को प्रभावित करते हैं और किस प्रकार यह वैश्विक शक्ति संतुलन को दिशा प्रदान करते हैं। भू-राजनीति की अवधारणा उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में आकार लेने लगी। जर्मन विद्वान फ्रेडरिक राट्जेल (Friedrich Ratzel) को भू-राजनीति का जनक माना जाता है। उन्होंने "राज्य को जीवित जीव" (Living Organism) की संज्ञा दी, जो अपने अस्तित्व और विस्तार के लिए भौगोलिक क्षेत्र पर निर्भर करता है। बाद में स्वीडिश विद्वान रुडोल्फ चेलन (Rudolf KjellUun) ने 'Geopolitics' शब्द का प्रयोग किया और इसे राजनीतिक विज्ञान की शाखा के रूप में स्थापित किया।

जबकि बीसवीं सदी में भू-राजनीति ने और अधिक वैज्ञानिक स्वरूप ग्रहण किया। ब्रिटिश विद्वान हाल्फोर्ड मैकिंडर (Halford Mackinder) ने "हर्टलैंड सिद्धांत" प्रस्तुत किया, जिसके अनुसार "जो पूर्वी यूरोप पर नियंत्रण करेगा, वही हर्टलैंड (यूरेशिया) पर नियंत्रण करेगा, और जो हर्टलैंड पर नियंत्रण करेगा, वही विश्व का भाग्य नियंत्रित करेगा।" इसी प्रकार अमेरिकी विद्वान निकोलस स्पाइक्मैन (Nicholas Spykman) ने "रिमलैंड सिद्धांत" दिया, जिसमें समुद्री क्षेत्रों (rimland) को नियंत्रण का आधार बताया गया। इन सिद्धांतों ने अंतर्राष्ट्रीय राजनीति की धारा को गहराई से प्रभावित किया। शीत युद्ध काल में अमेरिकी सामरिक विचारक जॉर्ज केनन और सोवियत रणनीतिकारों ने भी भू-राजनीति का गहन प्रयोग किया।

भारत की दृष्टि से भू-राजनीति एक अत्यंत जटिल किंतु अवसरों से भरा हुआ क्षेत्र है। भारत का भूगोल इसे विशिष्ट बनाता है- उत्तर में हिमालय की विशाल पर्वतमाला, दक्षिण में हिंद महासागर का विस्तृत क्षेत्र, और चारों ओर सामरिक दृष्टि से महत्वपूर्ण पड़ोसी। यह स्थिति भारत को एशिया की स्थलीय तथा समुद्री राजनीति दोनों में महत्वपूर्ण स्थान प्रदान करती है। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारत के प्रथम प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू ने भारत की विदेश नीति

को गुटनिरपेक्ष आंदोलन (Non-Aligned Movement) के माध्यम से भू-राजनीतिक संतुलन की दिशा दी। भारत ने न तो पूँजीवादी अमेरिका का पूर्ण समर्थन किया, न ही साम्यवादी सोवियत संघ के साथ एकतरफा गठबंधन किया। यह भारत की भू-राजनीति की विशिष्ट पहचान बनी। शीत युद्ध के दौर में भारत ने अपनी भौगोलिक और सामरिक स्थिति का उपयोग संतुलन बनाने के लिए किया, जिससे विकासशील देशों के बीच उसका नेतृत्व स्थापित हुआ। लेकिन इक्कीसवीं सदी में भारत का दृष्टिकोण बदलने लगा। उदारीकरण (1991) के बाद आर्थिक शक्ति में वृद्धि और तकनीकी प्रगति ने भारत को वैश्विक मंच पर एक उभरती शक्ति के रूप में स्थापित किया। अब भारत की भू-राजनीति केवल गुटनिरपेक्षता तक सीमित नहीं है, बल्कि वह बहुध्रुवीय विश्व में शक्ति संतुलन का सक्रिय भागीदार बन चुका है।

भारत भू-राजनीति को केवल सामरिक या सैन्य दृष्टि से नहीं देखता, बल्कि इसे सांस्कृतिक और सभ्यतागत दृष्टिकोण से भी समझता है। "वसुधैव कुटुंबकम्" और "सर्वे भवन्तु सुखिन:" जैसे भारतीय विचार विश्व राजनीति में भारत की पहचान को एक नैतिक शक्ति के रूप में भी प्रस्तुत करते हैं। यह स्पष्ट है कि भू-राजनीति की उत्पत्ति यूरोपीय विचारकों के सिद्धांतों से हुई, किंतु समय के साथ यह वैश्विक राजनीति की धुरी बन गई। वस्तुत: भारत की भू-राजनीति उसके भौगोलिक परिदृश्य, ऐतिहासिक अनुभवों, सुरक्षा चुनौतियों और वैश्विक महत्वाकांक्षाओं से गहराई से प्रभावित होती है। यदि हम भारत की विदेश नीति और सामरिक सोच का विश्लेषण करें, तो इसके तीन प्रमुख आयाम स्पष्ट रूप से दिखाई देते हैं सुरक्षा और सीमावर्ती हित, आर्थिक एवं ऊर्जा सुरक्षा, तथा वैश्विक शक्ति संतुलन में भूमिका। इन तीनों के माध्यम से भारत अपनी राष्ट्रीय पहचान, क्षेत्रीय स्थिरता और वैश्विक स्थिति को मजबूत करने का प्रयास करता है।

ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य:- भारत की भू-राजनीति को गहराई से समझने के लिए इसके ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य का अध्ययन आवश्यक है। किसी भी राष्ट्र की सामरिक एवं कूटनीतिक दिशा केवल वर्तमान परिस्थितियों से नहीं, बल्कि उसकी ऐतिहासिक यात्रा, सांस्कृतिक विरासत और वैश्विक संपर्कों से भी निर्धारित होती है। भारत का इतिहास दर्शाता है कि प्राचीन सभ्यता से लेकर उपनिवेशवाद और स्वतंत्रता-उत्तर काल तक इसकी भौगोलिक स्थिति ने इसे वैश्विक राजनीति का केंद्र बनाए रखा है।

प्राचीन काल (सांस्कृतिक और व्यापारिक संपर्कों का केंद्र):- प्राचीन भारत की भौगोलिक स्थिति ने इसे न केवल दक्षिण एशिया का, बल्कि सम्पूर्ण एशिया का प्रमुख सांस्कृतिक और व्यापारिक केंद्र बना दिया था। सिल्क रूट और समुद्री व्यापारिक मार्गों के माध्यम से भारत का संपर्क मध्य एशिया, चीन, पश्चिम एशिया, यूरोप और अफ्रीका तक था। मसाले, कपास, रेशम और धातुओं का निर्यात भारत को वैश्विक व्यापारिक नेटवर्क से जोड़ता था। साथ ही, बौद्ध और हिंदू धर्म के प्रसार ने भारत को सांस्कृतिक महाशक्ति का स्वरूप दिया। श्रीलंका, दक्षिण-पूर्व एशिया और यहाँ तक कि मध्य एशिया तक भारतीय संस्कृति और दर्शन की छाप देखी जा सकती है। यह दौर भारत की "सॉफ्ट पावर" (Soft Power) का उत्कृष्ट उदाहरण था।

मध्यकाल (सामरिक संघर्ष और बाहरी आक्रमण):- मध्यकालीन भारत में भू-राजनीतिक परिदृश्य लगातार परिवर्तित होता रहा। इसकी भौगोलिक स्थिति ने इसे मध्य एशिया और पश्चिम एशिया से आने वाले आक्रमणों का लक्ष्य बना दिया। गजनवी, घोरी और तैमूरी शासकों से लेकर मुगलों तक, भारत की सामरिक स्थिति ने इसे एशियाई साम्राज्यों के लिए आकर्षण का केंद्र बनाए रखा। इस काल में भारत वैश्विक शक्ति-संतुलन का हिस्सा तो बना, किंतु लगातार संघर्षों और राजनीतिक विखंडन के कारण इसका सामरिक प्रभुत्व कमजोर पड़ा।

औपनिवेशिक काल (साम्राज्यवाद का केंद्र):- भारत की भू-राजनीति का सबसे निर्णायक मोड़ औपनिवेशिक काल में आया। ब्रिटिश साम्राज्य ने यह भली-भाँति समझ लिया था कि "भारतीय उपमहाद्वीप पर नियंत्रण" का अर्थ है समूचे एशिया में प्रभुत्व। भारत न केवल संसाधनों और श्रम शक्ति का स्रोत था, बल्कि इसकी स्थिति ब्रिटिश साम्राज्य के लिए फारस की खाड़ी, अफ्रीका और दक्षिण-पूर्व एशिया तक सामरिक पहुँच का मार्ग प्रशस्त करती थी। इस काल में भारत वैश्विक साम्राज्यवादी राजनीति का "हृदयस्थल" बन गया था।

स्वतंत्रता-उत्तर काल (गुटनिरपेक्षता और पंचशील):- 1947 में स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारत ने अपनी भू-राजनीति को एक नए आधार पर खड़ा करने का प्रयास किया। औपनिवेशिक अनुभव ने यह स्पष्ट कर दिया था कि किसी भी गुट की परछाईं में रहकर राष्ट्रीय हित सुरक्षित नहीं किए जा सकते। इसी सोच ने गुटनिरपेक्ष आंदोलन (NAM) और पंचशील सिद्धांतों को जन्म दिया। शीत युद्ध काल में जब विश्व अमेरिका और सोवियत संघ के दो खेमों में बँटा हुआ था, तब भारत ने एक स्वतंत्र मार्ग अपनाने की कोशिश की। यह भारत की भू-राजनीतिक दृष्टि का पहला बड़ा प्रयोग था, जिसने उसे तीसरी दुनिया के देशों का नैतिक और राजनीतिक नेता बना दिया।

शीत युद्ध काल (सोवियत संघ की निकटता और पश्चिम से दूरी):- हालाँकि गुटनिरपेक्षता भारत की घोषित नीति थी, लेकिन वास्तविकता यह थी कि सुरक्षा और सामरिक कारणों से भारत सोवियत संघ के निकट रहा। 1971 में भारत-सोवियत मैत्री संधि इसका प्रतीक थी, जिसने बांग्लादेश मुक्ति संग्राम में भारत को रणनीतिक मजबूती प्रदान की। इसके विपरीत, अमेरिका और पश्चिमी ब्लॉक के साथ भारत के संबंध अक्सर तनावपूर्ण रहे, विशेषकर पाकिस्तान को अमेरिकी समर्थन और 1974 के परमाणु परीक्षण के बाद लगाए गए प्रतिबंधों के कारण।

शीत युद्धोत्तर काल (उदारीकरण और नई साझेदारियाँ):- 1991 के बाद जब सोवियत संघ का पतन हुआ और भारत ने आर्थिक उदारीकरण की दिशा में कदम बढ़ाया, तब इसकी भू-राजनीति का एक नया अध्याय प्रारंभ हुआ। वैश्वीकरण के दौर में भारत ने अमेरिका और यूरोपीय संघ जैसे पश्चिमी शक्तिकेंद्रों से घनिष्ठ संबंध विकसित किए। अमेरिका के साथ रणनीतिक साझेदारी, रूस के साथ रक्षा संबंधों का विस्तार, और जापान तथा आसियान देशों के साथ सहयोगकृइन सभी ने भारत को एक बहुध्रुवीय कूटनीति अपनाने के लिए प्रेरित किया। यही वह काल था जिसने भारत को क्षेत्रीय शक्ति से वैश्विक शक्ति बनने की दिशा में अग्रसर किया। भारत की भू-राजनीति का ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य यह दर्शाता है कि इसकी भौगोलिक स्थिति ने इसे हमेशा से वैश्विक शक्ति-संतुलन का अहम हिस्सा बनाया है। प्राचीन काल में सांस्कृतिक आदान-प्रदान और व्यापारिक मार्गों का केंद्र, मध्यकाल में सामरिक संघर्षों का लक्ष्य, औपनिवेशिक काल में साम्राज्यवाद का केंद्र, और स्वतंत्रता-उत्तर काल में गुटनिरपेक्षता का ध्वजवाहककृहर दौर ने भारत की विदेश नीति और भू-राजनीतिक दृष्टिकोण को नया स्वरूप दिया है। आज का भारत इन्हीं अनुभवों से सीखते हुए, बहुध्रुवीय विश्व व्यवस्था में अपनी जगह तलाश रहा है।

भारत की भू-राजनीतिक स्थिति:- भारत की भू-राजनीति विश्व पटल पर अपनी विशिष्ट पहचान रखती है। इसकी प्रासंगिकता केवल इसके आकार, जनसंख्या या आर्थिक शक्ति तक सीमित नहीं है, बल्कि यह इसकी भौगोलिक स्थिति, सामरिक क्षमताओं और अंतरराष्ट्रीय मंचों पर सक्रिय भागीदारी से भी निर्धारित होती है। एशिया के मध्य में स्थित भारत एक ऐसा राष्ट्र है जिसकी स्थिति उत्तर में हिमालय और दक्षिण में हिंद महासागर से परिभाषित होती है। यही भौगोलिक और सामरिक विशेषताएँ भारत को न केवल क्षेत्रीय शक्ति बनाती हैं, बल्कि वैश्विक राजनीति का एक निर्णायक अभिनेता भी सिद्ध करती हैं।

- भौगोलिक स्थिति और सामरिक महत्त्व:- भारत दक्षिण एशिया का सबसे बड़ा देश है, जिसकी भौगोलिक स्थिति उसे प्राकृतिक सामरिक महत्त्व प्रदान करती है। उत्तर में विशाल हिमालय पर्वतश्रेणी भारत को उत्तरी आक्रमणों से सुरक्षा देती है और प्राकृतिक अवरोध का कार्य करती है। दक्षिण में 7,500 किलोमीटर लंबा समुद्री तट और हिंद महासागर का व्यापक विस्तार भारत को समुद्री शक्ति का आधार देता है। पश्चिम में अफगानिस्तान और पाकिस्तान, पूर्व में बांग्लादेश, म्यांमार और भूटान-नेपाल जैसे पड़ोसी देशों के साथ भारत की भूमि सीमाएँ इसे एक विशिष्ट क्षेत्रीय केंद्र के रूप में स्थापित करती हैं। भारत की यही स्थिति इसे मध्य एशिया, पश्चिम एशिया और दक्षिण-पूर्व एशिया को जोड़ने वाले "सेतु" के रूप में प्रस्तुत करती है। यह विशेषता इसे ऊर्जा व्यापार, सांस्कृतिक आदान-प्रदान और सामरिक गतिविधियों के लिए स्वाभाविक केंद्र बना देती है।
- जनसंख्या और अर्थव्यवस्था:- भारत की जनसंख्या 1.4 अरब से अधिक है, जो इसे विश्व का सबसे बड़ा लोकतांत्रिक राष्ट्र बनाती है। इतनी विशाल जनसंख्या भारत को न केवल उपभोक्ता बाजार के रूप में आकर्षक बनाती है, बल्कि श्रमशक्ति और मानव संसाधन के दृष्टिकोण से भी महत्त्वपूर्ण है।आर्थिक दृष्टि से भारत आज विश्व की पाँचवीं सबसे बड़ी अर्थव्यवस्था है। 1991 के उदारीकरण के बाद भारत ने तीव्र गति से विकास किया और आज आईटी, सेवा क्षेत्र, विनिर्माण और अंतरिक्ष तकनीक जैसे क्षेत्रों में विश्व स्तर पर पहचान बनाई है। यही आर्थिक शक्ति भारत की भू-राजनीति की रीढ़ है, क्योंकि आर्थिक सामर्थ्य ही सामरिक और कूटनीतिक शक्ति का आधार बनती है।
- हिंद महासागर पर नियंत्रण:- भारत की सबसे बड़ी सामरिक ताकत इसका हिंद महासागर क्षेत्र (Indian Ocean Region - IOR) पर प्रभाव है। यह महासागर विश्व व्यापार का केंद्र है और ऊर्जा आपूर्ति के दृष्टिकोण से अत्यंत संवेदनशील माना जाता है। पश्चिम एशिया से पूर्वी एशिया तक कच्चे तेल और गैस की आपूर्ति, एशिया और यूरोप के बीच व्यापार और रणनीतिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण मलक्का जलडमरूमध्य - ये सभी भारत की सामरिक नजर में आते हैं। भारत की नौसैनिक शक्ति, अंडमान-निकोबार द्वीप समूह पर नियंत्रण और हिंद महासागर में "सुरक्षा प्रदाता" (Net Security Provider) की भूमिका इसे क्षेत्रीय सुरक्षा व्यवस्था का मुख्य केंद्र बना देती है। चीन की "स्ट्रिंग ऑफ पर्ल्स" नीति और बेल्ट एंड रोड इनिशिएटिव के तहत बढ़ती उपस्थिति को देखते हुए भारत का नौसैनिक महत्त्व और भी बढ़ जाता है।
- सीमा विवाद और पड़ोसी संबंध:- भारत की भू-राजनीति का एक बड़ा हिस्सा इसकी सीमाओं से संचालित होता है। पाकिस्तान के साथ कश्मीर विवाद दशकों से भारत की सुरक्षा चिंताओं का केंद्र है। तीन बड़े युद्ध, कारगिल संघर्ष और लगातार सीमा-पार आतंकवाद ने दोनों देशों के संबंधों को तनावपूर्ण बनाए रखा है। चीन के साथ संबंध सहयोग और प्रतिस्पर्धा दोनों से भरे हुए हैं। अक्साई चिन और अरुणाचल प्रदेश पर सीमा विवाद, 1962 का युद्ध, और हाल में गलवान घाटी (2020) जैसी घटनाएँ भारत-चीन संबंधों की जटिलता को दर्शाती हैं। नेपाल और भूटान जैसे छोटे पड़ोसी भारत की उत्तरी सुरक्षा के लिए महत्त्वपूर्ण "बफर स्टेट" की भूमिका निभाते हैं। वहीं बांग्लादेश और म्यांमार के साथ संबंध पूर्वोत्तर भारत की सुरक्षा और कनेक्टिविटी से जुड़े हुए हैं। इस प्रकार भारत की सीमाएँ न केवल उसकी भू-राजनीति की चुनौतियों को निर्धारित करती हैं, बल्कि उसके क्षेत्रीय प्रभाव को भी परिभाषित करती हैं।
- रणनीतिक साझेदारियाँ और वैश्विक भूमिका:- भारत ने इक्कीसवीं शताब्दी में बहुध्रुवीय विश्व व्यवस्था को ध्यान में रखते हुए अनेक रणनीतिक साझेदारियाँ विकसित की हैं। क्वाड (iQuad) में अमेरिका, जापान और ऑस्ट्रेलिया के साथ साझेदारी हिंद-प्रशांत क्षेत्र में चीन की बढ़ती उपस्थिति का संतुलन करने की कोशिश है। ब्रिक्स (BRICS) और एससीओ (SCO) जैसे मंचों पर भारत रूस, चीन और अन्य उभरते देशों के साथ सहयोग बढ़ा रहा है। वहीं जी-20 और संयुक्त राष्ट्र में भारत सक्रिय भूमिका निभाते हुए वैश्विक दक्षिण (Global South) की आवाज बन रहा है। इन मंचों पर सक्रियता न केवल भारत की कूटनीतिक पहुँच का संकेत है, बल्कि यह उसकी वैश्विक शक्ति संतुलन में भागीदारी की इच्छा को भी दर्शाती है। भारत की भू-राजनीतिक स्थिति बहुआयामी है। इसकी भौगोलिक स्थिति इसे एशिया और हिंद महासागर का सामरिक केंद्र बनाती है। विशाल जनसंख्या और मजबूत अर्थव्यवस्था इसे वैश्विक शक्ति बनने का आधार देती है। हिंद महासागर पर नियंत्रण, सीमावर्ती चुनौतियाँ और अंतरराष्ट्रीय साझेदारियाँ इसे विश्व राजनीति में निर्णायक भूमिका निभाने की ओर अग्रसर कर रही हैं। इस प्रकार, भारत की भू-राजनीति केवल क्षेत्रीय हितों तक सीमित नहीं है, बल्कि यह बहुध्रुवीय विश्व व्यवस्था के शक्ति-संतुलन में एक उभरते हुए वैश्विक नेता के रूप में सामने आ रही है।

भारत की भू-राजनीति में प्रमुख मुद्दे:- भारत की भू-राजनीति बहुआयामी और जटिल है, जहाँ परंपरागत सुरक्षा चुनौतियाँ, उभरती वैश्विक शक्तियाँ, ऊर्जा संसाधन, समुद्री सुरक्षा, तथा अंतरराष्ट्रीय साझेदारियाँ परस्पर गुंथी हुई हैं। भारत की विदेश नीति और रणनीतिक सोच इन मुद्दों के बीच संतुलन बनाने का निरंतर प्रयास करती रही है। नीचे भारत की भू-राजनीति से जुड़े प्रमुख मुद्दों का विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है।

(i) चीन का उदय और भारत-चीन प्रतिद्वंद्विता:- इक्कीसवीं सदी की एशियाई भू-राजनीति का सबसे बड़ा आयाम भारत-चीन प्रतिद्वंद्विता है। चीन का तीव्र आर्थिक विकास, सैन्य आधुनिकीकरण और वैश्विक महत्वाकांक्षा ने एशिया में शक्ति संतुलन की स्थिति बदल दी है। भारत और चीन के बीच सीमा विवाद दशकों से चला आ रहा है। 1962 के युद्ध ने दोनों देशों के बीच अविश्वास की गहरी खाई छोड़ दी। हाल के वर्षों में डोकलाम (2017) और गलवान घाटी संघर्ष (2020) ने इस तनाव को और बढ़ा दिया। इन घटनाओं ने यह स्पष्ट कर दिया कि सीमा विवाद केवल ऐतिहासिक प्रश्न नहीं है, बल्कि वर्तमान और भविष्य की सुरक्षा चुनौतियों का भी केंद्र है। इसके अतिरिक्त, चीन का बेल्ट एंड रोड इनिशिएटिव (BRI) और विशेषकर "चीन-पाकिस्तान आर्थिक गलियारा (CPEC)" भारत की संप्रभुता के लिए सीधी चुनौती है क्योंकि यह पाकिस्तान-अधिकृत कश्मीर से होकर गुजरता है। हिंद महासागर क्षेत्र में चीन की बढ़ती उपस्थिति, बंदरगाहों के निर्माण और सैन्य गतिविधियाँ (जैसे पाकिस्तान में ग्वादर और श्रीलंका में हम्बनटोटा) भारत की समुद्री सुरक्षा को प्रभावित कर रही हैं। भारत के लिए चुनौती यह है कि चीन के साथ आर्थिक सहयोग (व्यापार, निवेश) भी आवश्यक है, वहीं सुरक्षा के मोर्चे पर यह सबसे बड़ी प्रतिद्वंद्वी शक्ति बन चुका है।

(ii) पाकिस्तान और आतंकवाद:- भारत-पाकिस्तान का संबंध विभाजन (1947) और कश्मीर विवाद से संचालित होते रहे हैं। तीन बड़े युद्ध (1947-48, 1965, 1971) और कारगिल संघर्ष (1999) ने दोनों देशों के बीच शत्रुतापूर्ण संबंधों को स्थायी बना दिया। कश्मीर मुद्दा दोनों देशों की भू-राजनीति का केंद्र है। पाकिस्तान लगातार सीमा पार आतंकवाद को बढ़ावा देता रहा है। मुंबई आतंकी हमला (2008), पठानकोट (2016), उरी (2016) और पुलवामा (2019) एवं पहलगाम (2025) जैसे घटनाक्रमों ने भारत को बार-बार सुरक्षा के मोर्चे पर सतर्क रहने के लिए मजबूर किया।इसके अतिरिक्त, पाकिस्तान की आंतरिक अस्थिरता, कट्टरपंथ और सैन्य-राजनीतिक असंतुलन भारत के लिए चिंता का विषय हैं। भारत की भू-राजनीतिक चुनौती यह है कि पाकिस्तान के साथ तनाव केवल द्विपक्षीय नहीं रहता, बल्कि इसमें चीन, अमेरिका और इस्लामिक देशों जैसे बाहरी कारक भी जुड़ जाते हैं। हालांकि भारत में 'सर्जिकल स्ट्राइक' और 'ऑपरेशन सिंदूर जैसे' ऑपरेशन को अंजाम देकर अपनी सामरिक शक्ति का परिचय देते हुएयह साबित कर दिया है कि भारत की भू-राजनीति अब पिछलगू वाली नहीं रही बल्कि राष्ट्रीय हित के लिए वह किसी भी शक्ति को जबाब देने हेतु तैयार है।

(iii) हिंद महासागर की राजनीति:- भारत की भू-राजनीति में हिंद महासागर का केंद्रीय स्थान है। यह क्षेत्र विश्व व्यापार और ऊर्जा आपूर्ति का सबसे संवेदनशील मार्ग है। पश्चिम एशिया से एशिया और यूरोप की ओर जाने वाले तेल और गैस टैंकर यहीं से गुजरते हैं। चीन की "स्ट्रिंग ऑफ पर्ल्स" रणनीति (String of Pearls Strategy) भारत के लिए सबसे बड़ी समुद्री चुनौती है। इस रणनीति के तहत चीन हिंद महासागर क्षेत्र के तटीय देशों में बंदरगाहों और सैन्य ठिकानों का विकास कर रहा है। श्रीलंका में हम्बनटोटा, पाकिस्तान में ग्वादर, म्यांमार में क्यौकफ्यू और मालदीव में बढ़ती चीनी उपस्थिति भारत की सुरक्षा चिंताओं को बढ़ाती है। भारत ने इसका जवाब "सागर" (Security and Growth for All in the Region) नीति, अंडमान-निकोबार कमांड की मजबूती, और क्वाड जैसी साझेदारियों के माध्यम से देने की कोशिश की है। भारत की नौसैनिक क्षमता हिंद महासागर क्षेत्र को प्रभावित करती है, लेकिन चीन की बढ़ती शक्ति इसे चुनौती दे रही है।

(iv) ऊर्जा सुरक्षा:- भारत दुनिया की सबसे बड़ी ऊर्जा उपभोक्ता अर्थव्यवस्थाओं में से एक है। तीव्र औद्योगिकीकरण और शहरीकरण ने तेल और गैस की माँग को निरंतर बढ़ाया है। भारत अपनी ऊर्जा आवश्यकताओं का 80 प्रतिशत से अधिक आयात करता है। इस संदर्भ में पश्चिम एशिया (West Asia) और मध्य एशिया (Central Asia) भारत के लिए अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हैं। लेकिन इन क्षेत्रों की राजनीतिक अस्थिरता, गृहयुद्ध, आतंकवाद और अंतरराष्ट्रीय शक्ति संघर्ष (विशेषकर अमेरिका-ईरान तनाव) भारत की ऊर्जा आपूर्ति को असुरक्षित बना देते हैं। भारत ने विविधीकरण की नीति अपनाई है। अफ्रीका और लैटिन अमेरिका से ऊर्जा आयात, अंतरराष्ट्रीय ऊर्जा एजेंसी (IEA) में सक्रिय भागीदारी और नवीकरणीय ऊर्जा (सौर, पवन) पर निवेश इसका हिस्सा है। साथ ही, अंतरराष्ट्रीय नवीकरणीय ऊर्जा एजेंसी (IRENA) और अंतरराष्ट्रीय सौर गठबंधन (ISA) में भारत की सक्रियता इसकी नई भू-राजनीतिक रणनीति को दर्शाती है।

(v) अमेरिका और पश्चिम के साथ संबंध:- भारत-अमेरिका संबंध इक्कीसवीं सदी में रणनीतिक साझेदारी के रूप में विकसित हुए हैं। शीत युद्ध के दौरान दोनों देशों के संबंध तनावपूर्ण रहे, किंतु शीत युद्धोत्तर काल और विशेषकर 2005 के परमाणु समझौते के बाद दोनों में निकटता बढ़ी। आज भारत और अमेरिका रक्षा सहयोग (COMCASA, BECA जैसे समझौते), तकनीकी सहयोग (आईटी, एआई, स्पेस), और सामरिक साझेदारी (हिंद-प्रशांत रणनीति) के क्षेत्र में गहरे सहयोगी हैं। अमेरिका भारत को चीन के संतुलनकारी शक्ति के रूप में देखता है। यूरोप के देशों (जैसे फ्रांस) के साथ भी भारत ने रक्षा और परमाणु क्षेत्र में घनिष्ठ सहयोग विकसित किया है। राफेल विमानों की खरीद और संयुक्त नौसैनिक अभ्यास इस सहयोग के उदाहरण हैं। भारत पश्चिम के साथ सहयोग करते हुए भी अपनी "रणनीतिक स्वायत्तता" बनाए रखना चाहता है, ताकि वह किसी एक गुट में पूरी तरह बँध न जाए। हालांकि अमेरिका भारत के लिए कभी भी हितैषी नहीं हो सकता यह सर्वविदित है। दोनों के बीच के आपसी संबंध सिर्फ आर्थिक गठजोड़ का परिणाम है। जिस प्रकार विगत दिनों में अमेरिकी सरकार द्वारा 50 प्रतिशत टैक्स टैरिफ बढ़ाया गया है उससे अमेरिका और भारत के भू-राजनीति में फिर से काफी बदलाव होने के संकेत दिखाई पड़ते हैं।

(vi) रूस के साथ संतुलन:-रूस भारत का पारंपरिक मित्र और रक्षा साझेदार रहा है। स्वतंत्रता के बाद से ही भारत ने सोवियत संघ और बाद में रूस के साथ घनिष्ठ संबंध बनाए रखे। भारत के रक्षा उपकरणों का बड़ा हिस्सा अभी भी रूस से आता है। ब्रह्मोस मिसाइल जैसी संयुक्त परियोजनाएँ दोनों देशों के सामरिक सहयोग को दर्शाती हैं। इक्कीसवीं सदी में भारत अमेरिका और पश्चिम के करीब आया है, परंतु रूस के साथ संबंध बनाए रखना भी उसके लिए अनिवार्य है। रूस न केवल रक्षा के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण है, बल्कि मध्य एशिया और आर्कटिक क्षेत्र तक पहुँच के लिए भी निर्णायक है। यूक्रेन युद्ध (2022) के बाद रूस-पश्चिम संबंधों में खटास आने पर भारत ने संतुलनकारी भूमिका निभाई। भारत ने रूस से ऊर्जा आयात बढ़ाया, लेकिन साथ ही अमेरिका और यूरोप के साथ भी संबंध बनाए रखे। यही संतुलन भारत की "बहुध्रुवीय कूटनीति" का संकेत है।

(vii) ग्लोबल साउथ का नेतृत्व:- भारत आज स्वयं को वैश्विक दक्षिण (Global South) की आवाज के रूप में प्रस्तुत कर रहा है। ग्लोबल साउथ उन विकासशील और उभरते देशों को संदर्भित करता है जो वैश्विक शासन में अपनी अधिक भागीदारी चाहते हैं। भारत ने जी-20 की अध्यक्षता (2023) के दौरान "ग्लोबल साउथ समिट" आयोजित करके यह संदेश दिया कि वह विकासशील देशों की समस्याओं और आकांक्षाओं को वैश्विक एजेंडे में स्थान दिलाना चाहता है। जलवायु परिवर्तन, सतत विकास, खाद्य और ऊर्जा सुरक्षा जैसे मुद्दों पर भारत वैश्विक दक्षिण का प्रवक्ता बन रहा है। यह भूमिका भारत की भू-राजनीति की नई दिशा को दर्शाती है, जहाँ वह केवल क्षेत्रीय शक्ति तक सीमित न रहकर विश्व पटल पर व्यापक नेतृत्व की आकांक्षा रखता है। भारत की भू-राजनीति अनेक आयामों से घिरी हुई है। चीन और पाकिस्तान के साथ पारंपरिक सुरक्षा चुनौतियाँ, हिंद महासागर की सामरिक राजनीति, ऊर्जा आवश्यकताएँ और अमेरिका-पश्चिम के साथ गहरी होती साझेदारी - ये सब भारत की विदेश नीति को आकार देते हैं। साथ ही, रूस के साथ संतुलन और ग्लोबल साउथ के नेतृत्व की भूमिका भारत को बहुध्रुवीय विश्व व्यवस्था में एक संतुलनकारी और निर्णायक शक्ति बनाती है। स्पष्ट है कि भारत की भू-राजनीति केवल सीमाओं या समुद्र तक सीमित नहीं है, बल्कि यह वैश्विक शक्ति संतुलन, ऊर्जा संसाधनों, तकनीकी सहयोग और अंतरराष्ट्रीय नेतृत्व से गहराई से जुड़ी हुई है। यही विविध और जटिल चुनौतियाँ भारत को एक ओर कठिनाइयाँ देती हैं, तो दूसरी ओर इसे विश्व राजनीति में एक केंद्रीय और निर्णायक भूमिका निभाने का अवसर भी प्रदान करती हैं।

अवसर और संभावनाएँ:- भारत की भू-राजनीति की नई दिशा- भारत की भू-राजनीति केवल चुनौतियों और संघर्षों से घिरी नहीं है, बल्कि इसमें अनेक अवसर और संभावनाएँ भी निहित हैं। इक्कीसवीं सदी में भारत एक ऐसी स्थिति में पहुँच चुका है जहाँ वह न केवल क्षेत्रीय शक्ति है, बल्कि वैश्विक मंच पर नेतृत्व की भूमिका निभाने की ओर अग्रसर है। इसकी भौगोलिक स्थिति, जनसंख्या, आर्थिक विकास, तकनीकी क्षमता और सांस्कृतिक विविधता भारत को विश्व राजनीति में विशिष्ट स्थान प्रदान करते हैं। नीचे भारत की भू-राजनीति में निहित प्रमुख अवसरों और संभावनाओं का विश्लेषण प्रस्तुत है।

- विकासशील और विकसित विश्व के बीच सेतु की भूमिका:- भारत की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह 'विकासशील' और 'विकसित' विश्व दोनों के साथ समान रूप से संवाद कर सकता है। भारत की अर्थव्यवस्था अभी भी कृषि और श्रम-प्रधान क्षेत्रों पर आधारित है, जिससे वह विकासशील देशों की समस्याओं और आकांक्षाओं को समझ सकता है। दूसरी ओर, भारत ने सूचना प्रौद्योगिकी, अंतरिक्ष, परमाणु ऊर्जा और रक्षा जैसे उच्च-तकनीकी क्षेत्रों में उल्लेखनीय प्रगति की है, जिससे वह विकसित देशों के साथ सहयोग करने में सक्षम है। भारत वैश्विक दक्षिण (Global South) की आवाज के रूप में अपने नेतृत्व को स्थापित कर रहा है। जलवायु परिवर्तन, खाद्य और ऊर्जा सुरक्षा, तथा सतत विकास जैसे मुद्दों पर भारत एक मध्यस्थ और 'साझा मंच' का कार्य कर सकता है। यह भूमिका उसे बहुध्रुवीय विश्व व्यवस्था में और भी महत्वपूर्ण बनाती है।
- आर्थिक अवसर: 'मेक इन इंडिया' और 'आत्मनिर्भर भारत':- भारत की अर्थव्यवस्था वर्तमान में विश्व की पाँचवीं सबसे बड़ी अर्थव्यवस्था है और इसकी विकास दर विश्व के प्रमुख देशों में सबसे अधिक है। 'मेक इन इंडिया' और 'आत्मनिर्भर भारत' अभियान ने भारत को विनिर्माण और वैश्विक आपूर्ति श्रृंखला में एक प्रमुख केंद्र बनाने का अवसर प्रदान किया है। पश्चिमी देशों की चीन पर निर्भरता को कम करने की रणनीति (China+1 Policy) भारत के लिए अवसर लेकर आई है। यदि भारत अपनी अवसंरचना, नीति पारदर्शिता और निवेश वातावरण को और अनुकूल बनाए, तो वह विदेशी निवेश आकर्षित कर सकता है और वैश्विक उत्पादन केंद्र के रूप में उभर सकता है। भारत की विशाल युवा जनसंख्या (Demographic Dividend) इसे एक ऐसे श्रमबल से संपन्न बनाती है जो नवाचार, उद्यमिता और उत्पादन क्षमता को नई दिशा दे सकता है। यह आर्थिक सामर्थ्य भारत की भू-राजनीतिक शक्ति को और सुदृढ़ करेगी।
- डिजिटल और स्पेस पावर के रूप में उभरता भारत:- भारत ने डिजिटल क्रांति में उल्लेखनीय सफलता प्राप्त की है। 'डिजिटल इंडिया' अभियान ने न केवल प्रशासन और सेवाओं में पारदर्शिता बढ़ाई है, बल्कि वैश्विक स्तर पर भारत की तकनीकी छवि को भी मजबूत किया है। UPI(Unified Payments Interface) और आधार जैसी डिजिटल पहलें विश्व के लिए मॉडल बन चुकी हैं। भारत अब 'डिजिटल पावर' के रूप में सामने आ रहा है। साइबर सुरक्षा, कृत्रिम बुद्धिमत्ता (AI), ब्लॉकचेन और 5G/6G तकनीक जैसे क्षेत्रों में भारत वैश्विक सहयोग और निवेश का केंद्र बन सकता है। इसी प्रकार, 'स्पेस पावर' के रूप में भी भारत ने अपनी पहचान बनाई है। भारतीय अंतरिक्ष अनुसंधान संगठन (ISRO) ने चंद्रयान और मंगलयान जैसे मिशनों के माध्यम से विश्व को अपनी तकनीकी क्षमता का परिचय दिया। अंतरिक्ष क्षेत्र में लागत-प्रभावी प्रौद्योगिकी भारत को अन्य देशों का साझेदार और सेवाप्रदाता बना रही है। यह क्षमता न केवल आर्थिक, बल्कि भू-राजनीतिक दृष्टि से भी भारत को एक नई ऊँचाई प्रदान करती है।
- जलवायु परिवर्तन और पर्यावरणीय कूटनीति:- जलवायु परिवर्तन इक्कीसवीं सदी की सबसे बड़ी वैश्विक चुनौती है। विकसित और विकासशील देशों के बीच इस विषय पर अक्सर मतभेद देखने को मिलते हैं। भारत अपनी संतुलित स्थिति के कारण इस बहस में नेतृत्वकारी भूमिका निभा सकता है। इंटरनेशनल सोलर एलायंस (ISA) भारत की सबसे बड़ी कूटनीतिक उपलब्धियों में से एक है। यह पहल दर्शाती है कि भारत केवल ऊर्जा उपभोक्ता ही नहीं, बल्कि ऊर्जा समाधान प्रदाता भी है। इसके अतिरिक्त, नवीकरणीय ऊर्जा, सतत विकास लक्ष्यों (SDGs), और ग्रीन टेक्नोलॉजी के क्षेत्र में भारत का सक्रिय निवेश उसे वैश्विक जलवायु कूटनीति का प्रमुख केंद्र बना सकता है। जलवायु परिवर्तन के मुद्दे पर नेतृत्व निभाने से भारत की 'सॉफ्ट पावर' और अंतरराष्ट्रीय छवि दोनों मजबूत होंगी, जिससे उसका वैश्विक प्रभाव और बढ़ेगा। भारत की भू-राजनीति में जितनी चुनौतियाँ हैं, उतनी ही संभावनाएँ भी छिपी हुई हैं। अपनी भौगोलिक स्थिति, आर्थिक प्रगति, युवा जनसंख्या, समुद्री शक्ति और तकनीकी उपलब्धियों के बल पर भारत इक्कीसवीं सदी में वैश्विक शक्ति बनने की राह पर है। भारत विकासशील और विकसित देशों के बीच संतुलनकारी शक्ति बन सकता है। विनिर्माण और आपूर्ति श्रृंखलाओं में उसकी भूमिका वैश्विक अर्थव्यवस्था को नया आयाम दे सकती है। हिंद महासागर में समुद्री शक्ति और ब्लू इकॉनमी का नेतृत्व, डिजिटल और स्पेस पावर की क्षमता, तथा जलवायु परिवर्तन पर नैतिक नेतृत्व दृ ये सभी पहलू भारत की भू-राजनीतिक प्रासंगिकता को और मजबूत करेंगे।अत: यह कहा जा सकता है कि भारत के लिए इक्कीसवीं सदी केवल चुनौतियों से भरी नहीं है, बल्कि अवसरों से परिपूर्ण भी है। यदि भारत इन अवसरों का विवेकपूर्ण उपयोग करता है, तो वह न केवल क्षेत्रीय बल्कि वैश्विक राजनीति में एक निर्णायक शक्ति बनकर उभर सकता है।

निष्कर्ष

भारत की भू-राजनीति आज ऐसे ऐतिहासिक मोड़ पर खड़ी है जहाँ उसे न केवल अपनी पारंपरिक पहचान को सुरक्षित रखना है, बल्कि वैश्विक व्यवस्था में एक सशक्त और निर्णायक भूमिका निभानी है। वर्तमान अंतर्राष्ट्रीय परिदृश्य एक बहुध्रुवीय विश्व (Multipolar World) की ओर अग्रसर है, जिसमें कोई भी राष्ट्र अकेले नेतृत्व नहीं कर सकता। इस स्थिति में भारत की रणनीतिक स्वायत्तता (Strategic Autonomy) उसकी सबसे बड़ी ताकत है। भारत न तो पूरी तरह पश्चिमी देशों का सहयोगी है और न ही केवल एशियाई शक्ति-बल्कि यह उन सभी ध्रुवों के बीच संतुलन साधने वाला कारक है। आर्थिक दृष्टि से भारत तेजी से उभरती हुई शक्ति है, जिसकी विकास दर और जनसंख्या-आधारित बाजार क्षमता इसे वैश्विक निवेश और व्यापार का केंद्र बना रही है। साथ ही, इसकी सैन्य क्षमता विशेषकर परमाणु शक्ति, अंतरिक्ष कार्यक्रम और समुद्री सुरक्षा की भूमिकाकृभारत को हिंद-प्रशांत क्षेत्र में निर्णायक शक्ति के रूप में स्थापित कर रही है। कूटनीतिक स्तर पर भारत 'वैश्विक दक्षिण' (Global South) की आवाज बनकर विकासशील देशों के हितों को प्रबलता से उठा रहा है, वहीं पश्चिम और एशिया दोनों के साथ संतुलित संबंध बनाकर अपनी स्थिति मजबूत कर रहा है। इसके अतिरिक्त, भारत की सांस्कृतिक विरासत, लोकतांत्रिक मूल्यों और सॉफ्ट पावर (Soft Power) की ताकत भी इसे विशिष्ट पहचान देती है। योग, आयुर्वेद, बॉलीवुड, और भारतीय प्रवासी समुदाय ने भारत की छवि को वैश्विक स्तर पर आकर्षक और प्रभावशाली बनाया है।

भविष्य में भारत की भू-राजनीतिक सफलता इस पर निर्भर करेगी कि वह अपनी आर्थिक प्रगति, सैन्य शक्ति, कूटनीतिक दक्षता और सांस्कृतिक प्रभाव का संतुलित उपयोग कैसे करता है। यदि भारत इन चारों स्तंभों को सुव्यवस्थित ढंग से साधने में सफल होता है, तो यह केवल एशिया ही नहीं, बल्कि पूरी दुनिया के शक्ति संतुलन का अनिवार्य केंद्र बन जाएगा। इस प्रकार, भारत की भू-राजनीति वास्तव में 'रणनीतिक स्वायत्तता' और 'संतुलनकारी भूमिका' पर आधारित है, जो इसे भविष्य के वैश्विक परिदृश्य में स्थायी नेतृत्व की ओर अग्रसर करेगी।

संदर्भ सूचीः-

1. पाल, रामचंद्र. भारतीय विदेश नीति और भू-राजनीति. नई दिल्लीः प्रकाशन विभाग, 2019.
2. मिश्रा, सुधीर कुमार. भारत और विश्व राजनीतिः भू-राजनीतिक परिप्रेक्ष्य. प्रयागराजः लोकभारती प्रकाशन, 2021.
3. राजगोपालन, राजेश. India's Foreign Policy and National Security- New Delhi: Orient Black Swan, 2018.
4. Gupta, Sanjaya Baru. India and the World: Essays on Geopolitics and Foreign Policy. New Delhi: Harper Collins, 2016.
5. Tharoor, Shashi. Pax Indica: India and the World of the 21st Century. New Delhi: Penguin, 2012.
6. Pant, Harsh V. Indian Foreign Policy: An Overview. Manchester: Manchester University Press, 2019.
7. Dixit, J.N. India's Foreign Policy: 1947-2003. New Delhi: Picus Books, 2003.
8. Bajpai, Kanti, Saira Basit, and V. Krishnappa (eds.). India's Grand Strategy: History, Theory, Cases. New Delhi: Routledge, 2014.
9. Pant, Harsh V. and Yogesh Joshi. The US Pivot and Indian Foreign Policy: Asia's Evolving Balance of Power. London: Palgrave Macmillan, 2016.
10. सिंह महेन्द्र प्रसाद, भारत और दक्षिण एशियारू भू-राजनीतिक परिदृश्य, जयपुर, रावत प्रकाशन, 2020.

मुगलकालीन स्थापत्य कालः वर्तमान भारत में दशा और दिशा

सावन कुमार

सहायक प्रोफेसर, इतिहास विभाग, चौधरी मनीराम झोरड राजकीय महाविद्यालय, ऐलनाबाद (सिरसा)

सारांश

इस तथ्य से इनकार नहीं किया जा सकता हैं कि मुगल वास्तुकला से तात्पर्य भारतीय उपमहाद्वीप में अपने साम्राज्य के विस्तार और विकास के दौरान 16वीं, 17वीं और 18वीं शताब्दियों में मुगल सम्राटों द्वारा निर्मित भारत-इस्लाम वास्तुकला से है। यह कहा जा सकता है कि यह भारत के पूर्ववर्ती मुस्लिम शासकों की स्थापत्य शैली के साथ-साथ ईरानी और मध्य एशियाई स्थापत्य विरासत, विशेष रूप से तैमूरिद वास्तुकला से प्रेरित थी। मुगल सम्राट अकबर के शासनकाल (1556-1605) के दौरान मुगलकालीन स्थापत्य काल ने व्यापक भारतीय वास्तुकला से भी विचारों को आत्मसात और संश्लेषित किया था। इस तथ्य से इनकार नहीं किया जा सकता है कि विशाल गुंबद, पतले कोने वाले मीनार, विशाल हॉल, बड़े मेहराबदार प्रवेश द्वार और उत्कृष्ट अलंकरण मुगल वास्तुकला की विशेषताएँ हैं, जो आधुनिक अफगानिस्तान, बांग्लादेश, भारत और पाकिस्तान में देखी जा सकती हैं। मुगल वास्तुकला में हिंदू, फारसी और इस्लामी प्रभावों का मिश्रण है। इस्लामी स्थापत्य शैली की विशेषताओं का राजपूत शैली जैसे स्थानीय भारतीय तत्वों के साथ मिश्रण होने से ऐसी विशाल संरचनाओं का निर्माण हुआ जो आज भी भारत की समृद्ध विरासत के प्रतीक के रूप में खड़ी हैं।मुगल वास्तुकला में कई इमारतों में बड़े, गोलाकार प्याज के आकार के गुंबद होते थे, जिनके किनारों पर अक्सर चार छोटे गुंबद होते थे। मुगल वास्तुकला ने बाद की भारतीय वास्तुकला शैलियों को प्रभावित किया था, जैसे कि ब्रिटिश राज की इंडो-सारासेनिक शैली, राजपूत शैली और सिख शैली। यह कहा जा सकता है कि भारत में मुगल काल (1526-1857) में कला, वास्तुकला, साहित्य और चित्रकला में महत्वपूर्ण विकास हुए थे। मुगल कला और वास्तुकला में फारसी, भारतीय और मध्य एशियाई प्रभावों का अनूठा मिश्रण देखने को मिलता है। भारत में हमेशा से ही अपनी विरासत वास्तुकला के संरक्षण में गहरी आस्था रही है। सांस्कृतिक विरासत का संरक्षणः आधुनिक समय में, इन विरासत स्थलों को केवल 'मुगल' या 'विदेशी' के बजाय श्भारतीय सांस्कृतिक विरासतश के रूप में देखा जा रहा है, जो इनके संरक्षण को एक नई दिशा प्रदान करता है। इस शोध पत्र में लेखक मुगल वास्तुकला पर प्रकाश डालने का प्रयास करता है।

मुख्य शब्दः मुगलकालीन, वास्तुकला, स्थापत्य कल, भारत

भूमिका

यह कहा जा सकता है कि मुगल वास्तुकला (1526-1857 ईस्वी) फारसी, तुर्की और भारतीय शैलियों का एक अनूठा मिश्रण है, जो लाल बलुआ पत्थर और सफेद संगमरमर के उपयोग, विशाल गुंबदों और चारबाग शैली के लिए जानी जाती है। आधुनिक भारत में, ताजमहल, लाल किला, हुमायूं का मकबरा और फतेहपुर सिकरी जैसे स्मारक पर्यटन और सांस्कृतिक विरासत के प्रमुख केंद्र हैं। इस तथ्य से इनकार नहीं किया जा सकता हैं कि ये इमारतें न केवल ऐतिहासिक गौरव का प्रतीक हैं, बल्कि एक 'समन्वित संस्कृति' को भी दर्शाती हैं। मुगल वास्तुकला (1526-1857) भारतीय, फारसी और इस्लामी शैलियों का एक अनूठा मिश्रण है, जो लाल बलुआ पत्थर और सफेद संगमरमर के उपयोग, विशाल गुंबदों, ऊँची मीनारों और भव्य उद्यानों की चारबाग शैली के लिए प्रसिद्ध है। ये दृष्टिगोचर है कि अकबर के शासनकाल में निर्मित फतेहपुर सिकरी और शाहजहाँ के शासनकाल के स्वर्ण युग में निर्मित ताजमहल और लाल किला जैसी इमारतें इस कला की पराकाष्ठा का प्रतिनिधित्व करती हैं।[1]

यह दिल्ली में स्थित हुमायूं मकबरे की तस्वीर है।

Retrieved from https://www.oeaw.ac.at/ifi/ifidigital/webressourcen/digital-proceedings/a-transdisciplinary-a

भारत में मुगल काल के दौरान विकसित वास्तुकला को भारतीय उपमहाद्वीप की सबसे प्रभावशाली वास्तुकला कलात्मक विरासतों में से एक माना जाता है। यह कहा जा सकता है कि ताजमहल, लाल किला, फतेहपुर सिकरी और इत्माद-उद-दौला जैसे स्मारक न केवल मुगल शासकों की सौंदर्यदृष्टि को दर्शाते हैं, बल्कि मुगलकाल की उत्कृष्ट शिल्प-कौशल और तकनीकी दक्षता के भी प्रमाण देते हैं। इस तथ्य से इनकार नहीं किया जा सकता हैं कि हुमायूँ द्वारा निर्मित इमारतें ईरानी शैली में सजी हुई हैं। यह कहा जा सकता है कि हुमायूँ का अधिकांश शासनकाल युद्धों में व्यतीत हुआ था, जिससे उन्हें वास्तुकला के विकास के लिए बहुत कम समय मिला था। हालांकि, वे ईरान से कुछ कारीगरों को अपने साथ लाए थे, जिन्होंने वास्तुकला के विकास में योगदान दिया था। ये दृष्टिगोचर है कि हुमायूँ के समय की केवल दो इमारतें ही आज भी मौजूद हैं: दिल्ली में स्थित 'दीनपनाह' नामक महल और हिसार जिले में स्थित फतेहपुर की मस्जिद[2] अकबर के शासनकाल में वास्तुकला के क्षेत्र में अभूतपूर्व विकास हुआ था। यह कहा जा सकता है कि अकबर के पास असीमित संसाधन और बड़े पैमाने पर निर्माण कार्य करने के लिए पर्याप्त समय था। अकबर ने विशाल इमारतें, मीनारें, सराय, विद्यालय और तालाब भी बनवाए थे। अकबर द्वारा आगरा किला और फतेहपुर सिकरी जैसी स्मारकीय संरचनाओं में व्यापक रूप से इस्तेमाल किया गया लाल बलुआ पत्थर, भारतीय वास्तुकला, विशेष रूप से राजपूत वास्तुकला में गहराई से निहित है। ये दृष्टिगोचर है कि अकबर द्वारा बनवाए गए किलों में आगरा, इलाहाबाद और लाहौर के किले प्रसिद्ध हैं। आगरा किला लाल पत्थर से बना है और इसमें कई भव्य प्रवेश द्वार हैं। अकबर द्वारा निर्मित इमारतों में ईरानी, राजस्थानी और तुर्की शैलियों का प्रभाव दिखाई देता है। यह कहा जा सकता है कि फतेहपुर सीकरी मुगल वास्तुकला का एक उत्कृष्ट उदाहरण है। इसमें एक कृत्रिम झील और गुजराती और बंगाली शैली में निर्मित इमारतें हैं। पंच महल परिसर एक बौद्ध मठ की प्रतिकृति है। इसमें मंदिरों के समान खंभे हैं। ये दृष्टिगोचर है कि अकबर ने राजपूत रानियों के लिए गुजराती शैली में महल बनवाए थे। इस तथ्य से इनकार नहीं किया जा सकता हैं कि जोधाबाई का महल, दीवान-ए-आम, दीवान-ए-खास और बुलंद दरवाजा देखने लायक हैं। बुलंद दरवाजा अकबर द्वारा गुजरात विजय की स्मृति में गुजराती और ईरानी शैलियों को मिलाकर बनवाया गया था[3]

यह कहा जा सकता है कि मुगल काल के दौरान वास्तुकला का विकास विश्व कला में एक मील का पत्थर साबित हुआ है। यह एक तथ्य है कि मुगल इमारतें अपनी विशाल संरचनाओं के लिए प्रसिद्ध थीं, जो गुंबदों, भव्य मीनारों, कंगनियों, विस्तृत डिजाइनों और पिएत्रा ड्यूरा से सुशोभित थीं। भारत में मुगल काल (1526-1857) में कला, वास्तुकला, साहित्य और चित्रकला में महत्वपूर्ण विकास हुए थे। इस तथ्य से इनकार नहीं किया जा सकता हैं कि मुगल कला और वास्तुकला में फारसी, भारतीय और मध्य एशियाई प्रभावों का अनूठा मिश्रण देखने को मिलता है। मुगल वास्तुकला भारतीय वास्तुकला का अभिन्न अंग है। ये दृष्टिगोचर है कि वर्तमान चुनौतियों के बावजूद इसे समकालीन सांस्कृतिक विरासत के रूप में संरक्षित और सुरक्षित रखने के प्रयास जारी हैं। यह एक तथ्य है कि मुगल वास्तुकला (1526-1857) फारसी, तुर्की और भारतीय शैलियों का एक अनूठा मिश्रण है जिसने भारत को ताजमहल, लाल किला और हुमायूं का मकबरा जैसे विश्व धरोहर स्थल दिए हैं[4] वर्तमान भारत में, ये मुगल वास्तुकला स्मारक सांस्कृतिक गौरव के प्रतीक और प्रमुख पर्यटन स्थल हैं जिनका संरक्षण भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण द्वारा किया जाता है।

हरियाणा के पानीपत में स्थित काबुली बाग मस्जिद की एक तस्वीर।

Retrieved from https://www.britannica.com/art/Mughal-architecture

वर्तमान भारत में मुगलकालीन स्थापत्य की दशा:

मुगल वास्तुकला, जो फारसी, मध्य एशियाई और भारतीय स्थापत्य परंपराओं का मिश्रण है, ने एक विशिष्ट शैली को जन्म दिया जिसने मुगल युग की सांस्कृतिक और कलात्मक उत्कृष्टता को चिह्नित किया है[5] इस तथ्य से इनकार नहीं किया जा सकता कि लाल बलुआ पत्थर और सफेद संगमरमर के व्यापक उपयोग के साथ मुगल वास्तुकला ने भारतीय उपमहाद्वीप में एक नया अध्याय लिखा है।

प्रमुख विशेषताएं: गोल गुंबद, पतले स्तंभ, विशाल द्वार और चारबाग शैली।

संरक्षण और विरासत: इस तथ्य से इनकार नहीं किया जा सकता हैं कि ताजमहल, हुमायूं का मकबरा, और दिल्ली का लाल किला जैसी प्रमुख मुगल वास्तुकला इमारतें मुगल-काल के दौरान वास्तुकला का विकास दिखाती हैं ताजमहल, हुमायूं का मकबरा, और दिल्ली का लाल किला यूनेस्को विश्व धरोहर स्थल हैं[6] और भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण द्वारा संरक्षित हैं। इन पर व्यापक संरक्षण कार्य चल रहे हैं।

पर्यटन केंद्र: ये दृष्टिगोचर है कि ये इमारतें देश-विदेश के पर्यटकों के लिए आकर्षण का मुख्य केंद्र हैं, जो भारतीय पर्यटन उद्योग में भारी योगदान देती हैं। इसीलिए यह कहा जा सकता है कि भारत में मुगल वास्तुकला ने पर्यटन उद्योग को बढ़ावा देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है और यह मुगल वास्तुकला राजस्व उत्पन्न करने वाली प्रणाली साबित हुई है।

दशा और चुनौतियाँ: अपने ऐतिहासिक महत्व के बावजूद, प्रदूषण (विशेष रूप से ताजमहल), संरचनात्मक क्षय और रखरखाव की कमी के कारण कई छोटी और कम प्रसिद्ध मुगल इमारतें जर्जर अवस्था में हैं। यह स्पष्ट है कि ताजमहल, हुमायूं का मकबरा और लाल किला जैसे अधिकांश प्रमुख मुगल स्थापत्य स्मारक यूनेस्को विश्व धरोहर स्थलों के रूप में संरक्षित हैं। ताजमहल को 'द्वितीय शास्त्रीय युग' की पराकाष्ठा माना जाता है। इस तथ्य से इनकार नहीं किया जा सकता कि वायु प्रदूषण और समय के साथ होने वाला प्राकृतिक क्षरण दिल्ली में 'हुमायूं के मकबरे' जैसी सांस्कृतिक जगहों पर प्रमुख चुनौतियाँ प्रस्तुत कर रहा हैं।

राजनीतिक और सामाजिक दृष्टिकोण: इस तथ्य से इनकार नहीं किया जा सकता कि मुगल-युग के ऐतिहासिक महत्व वास्तुकला स्थलों के संबंध में वर्तमान में मिश्रित सामाजिक और राजनीतिक चर्चा चल रही है। कुछ समूह इन वास्तुकला स्थलों को भारतीय इतिहास का अभिन्न अंग मानते हैं, जबकि अन्य इन मुगल स्थापत्य स्मारकों के विनाशकारी पहलुओं पर जोर देते हैं।

वर्तमान भारत में मुगलकालीन स्थापत्य की दिशा:

- जीर्णोद्धार और संरक्षण: भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण ने पुरानी तकनीकों और सामग्रियों का उपयोग करते हुए मुगल स्थापत्य स्मारकों के संरक्षण के लिए एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाया है।
- पर्यटन केंद्रित विकास: सरकार द्वारा चलाए जा रहे 'अतुल्य इंडिया' अभियान के तहत इन मुगल वास्तुकला स्थलों को बेहतर सुविधाओं, प्रकाश व्यवस्था और सुगम पहुंच के साथ विकसित किया जा रहा है।
- डिजिटल प्रलेखन: मुगल स्थापत्य स्मारकों के डिजिटल रिकॉर्ड बनाने के लिए आधुनिक तकनीक (जैसे 3डी लेजर स्कैनिंग) का उपयोग किया जा रहा है ताकि उन्हें भावी पीढ़ियों के लिए संरक्षित किया जा सके।
- सांस्कृतिक कूटनीति: हम कह सकते हैं कि ये मुगल वास्तुकला की इमारतें भारत की सांस्कृतिक विरासत का प्रतिनिधित्व करती हैं, जिसे दुनिया के सामने प्रस्तुत किया जाता है[7]

मुगल वास्तुकला के संरक्षण के लिए वर्तमान प्रयास:

ASI द्वारा पत्थरों की सफाई, ढांचागत सुदृढ़ीकरण और पच्चीकारी (Pietra Dura) की मरम्मत पर ध्यान केंद्रित किया जा रहा है। यह सर्वमान्य तथ्य है कि मुगल वास्तुकला भारत की राष्ट्रीय धरोहर है। यह भारतीय इतिहास की विरासत है। इसलिए प्रत्येक भारतीय नागरिक को इसकी रक्षा करनी चाहिए। केंद्र सरकार और राज्य सरकारों को भारत में इस मुगल वास्तुकला को समृद्ध करने के लिए मिलकर प्रयास करने चाहिए। इन मुगल वास्तुकला स्मारकों को 'लाइट एंड साउंड शो' और 'आभासी पर्यटन' के जरिए आधुनिक पर्यटकों के लिए अधिक आकर्षक बनाया जा रहा है। हम ऐसा कह सकते हैं की ये मुगल वास्तुकला इमारतें न केवल इतिहास को जीवंत रखती हैं, बल्कि Indian architecture के अध्ययन के लिए मुख्य स्रोत भी हैं।

निष्कर्ष:

हम ऐसा कह सकते हैं की मुगल वास्तुकला भारत की बहुआयामी संस्कृति का अभिन्न अंग है। इन मुगल वास्तुकला स्मारकों का संरक्षण न केवल ऐतिहासिक विरासत को संरक्षित करने के लिए बल्कि पर्यटन और भारत की अर्थव्यवस्था को मजबूत करने के लिए भी आवश्यक है। यह एक तथ्य है कि मुगल वास्तुकला ने भारत को विश्व प्रसिद्ध स्मारक तो दिए ही हैं, साथ ही यह विदेशी शैलियों और भारतीय संस्कृति के सामंजस्य का एक जीवंत प्रतीक भी दिया है। इस तथ्य से इनकार नहीं किया जा सकता हैं कि मुगल वास्तुकला भारत की बहु-सांस्कृतिक विरासत की आधारशिला है। यद्यपि 2026 तक इसकी स्थिति में सुधार हो रहा है, फिर भी 'कम ज्ञात स्मारकों' के संरक्षण को प्राथमिकता देने और प्रदूषण नियंत्रण के लिए सख्त उपाय करने की तत्काल आवश्यकता है। भारत की केंद्र सरकार (मोदी सरकार) और सभी राज्य सरकारों को भारत में मुगल वास्तुकला स्मारकों के पुनर्निर्माण में बड़ी भूमिका निभानी चाहिए। मुगल काल की वास्तुकला को जल्द से जल्द संरक्षित किया जाना चाहिए क्योंकि यह भारत की राष्ट्रीय धरोहर है।

संदर्भग्रंथ सूची:

1. आशेर, कैथरीन बी. मुगल भारत की वास्तुकला। खंड 4. कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, 1992.
2. लॉरी, ग्लेन डी. 'हुमायूँ का मकबरा:प्रारंभिक मुगल वास्तुकला में रूप, कार्य और अर्थ' मुकरनास,4,(1987):133-148.
3. अजमत, सोनी, आबिद हादी, और सी. सोनी अजमत, '1526-1737 की अवधि के दौरान भारत में मुगल वास्तुकला में प्रयुक्त ज्यामितीय पैटर्न डिजाइन', इंटरनेशनल जर्नल ऑफ होम साइंस,4.2,(2018): 21-26.
4. नाथ, राम, मुगल वास्तुकला का इतिहास, खंड-3, अभिनव प्रकाशन, 1982.
5. मिश्रा, वंदना कुमारी। 'भारत में मुगल काल के दौरान वास्तुकला का विकास', जमशेदपुर रिसर्च रिव्यू,1(32),(2019):43-44.
6. हिलनब्रैंड, रॉबर्ट, मुगल वास्तुकला की खोज, दक्षिण एशियाई अध्ययन,12.1,(1996):105-123.
7. कुमारी, अनु, 'भारतीय मुगल वास्तुकला के साथ वस्त्र सिल्हूट और रूपांकनों के बीच संबंध का स्पष्टीकरण', 6.1, (2019):17-18.

निराला की कविताओं में भावानुभूति

डॉ० पंकज कुमार झा

विद्यावाचस्पति, ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय, दरभंगा

आधुनिक काल की अधिकतर रचनाएं मनुष्य के हृदय में करुणा एवं अन्य भावनाओं को जगाने में अपना सफल प्रयास करती है। इससे पूर्व की रचनाएं भक्ति-भावना एवं प्रेमभावना को आधार मानकर मानव हृदय तक पहुँचने का प्रयत्न करती रही हैं। कवि अपनी रचनाओं के माध्यम से मनुष्य की भावनाओं को समझने एवं उन्हें प्रकट करने का काम करता है। जब तक कोई रचना मानव हृदय के तरंगों तक न पहुंच जाय तब तक कवि की साधना सार्थक नहीं होती। अपने जीवन में कवि समाज के विरोधों को सहन करते हुए आगे लिखते रहने का जो सिलसिला कायम रखता है, वह किसी योद्धा के साहस से कम नहीं होता। यहाँ यह जान लेना आवश्यक होगा कि प्रत्येक नये साहित्य को समाज के विरोधों को झेलना पड़ता है। आधुनिक काल की रचनाओं को भी समाज के भारी विरोधों का सामना अवश्य ही करना पड़ा है।

आधुनिक काल के छायावाद के प्रवर्तकों में निराला का अन्यतम स्थान है। निराला की रचनाओं ने मानव- हृदय तक पहुँचने और उसे समाज के सामने लाने की जो हिम्मत दिखाई है, वह इससे पूर्व की रचनाओं में कम देखने को मिलती है। छायावाद के अनेक प्रसिद्ध लेखक काल्पनिक साहित्य की रचना से मुँह मोड़कर समाज के यथार्थ जीवन की ओर झुके और साहित्य में एक नई प्रगतिशील धारा के प्रवर्तक बनें। इन कवियों में निराला का कार्य मुख्य है। "श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' का जन्म बंगाल में महिषादल राज्य में हुआ था। महिषादल में वे नौकरी करते थे। निराला जी की प्रारम्भिक शिक्षा भी वहीं हुई। बंग्ला, संस्कृत और अंग्रेजी के अध्ययन के साथ व संगीत का अभ्यास तथा कुश्ती लड़ना भी सीखते थे। किन्तु अपने स्वभाव की अतिशय स्वच्छंदता के कारण वे हाईस्कूल से आगे अपनी पढ़ाई जारी नहीं रख सकें।"[1] इसके बाद का सारा जीवन सांसारिक दृष्टि में कष्टों एवं दु:खों से भरा रहा एवं अत्यन्त आर्थिक विपन्नता का भी सामना करना पड़ा, किन्तु इन भौतिक परिस्थितियों का सामना करते-करते उन्होंने अपने निजी कार्यक्षेत्र को अपना आलम्बन बना लिया और ये अपने अध्ययन, चिंतन, मनन और रचना के कार्य में लिन हो गये! कोई भी कलाकार अपने जीवन के कटु अनुभवों से प्रेरणा लेकर अपनी कला के प्रति समर्पण की भावना को विस्तार देता है ऐसा ही जीवन निराला का रहा है। "अपने उद्दात्त और प्रयोगशील स्वर के कारण निराला का काव्य - व्यक्तित्व प्रारम्भ में बहुत कुछ अस्वीकृत रहा है। किन्तु आज उनकी सार्वभौमिकता निस्संशय है। कविता के अतिरिक्त निराला ने अन्य साहित्यिक विधाओं में रचनाएँ की है- जिनमें उपन्यास, कहानी, संस्मरण, रेखाचित्र, नोट्स, टिप्पणियाँ और अनेक विषयों पर लिखे गये लेख शामिल हैं।"[2] निराला कई मोर्चों पर एक साथ संघर्ष कर रहे थे। आज निराला की जो प्रतिमा हिन्दी समाज में है। उसे आकार देने में उनके जीवन के संघर्षो का मूल्यवान योगदान है। निराला का जीवन इस बात कीपुष्टि करता प्रतित होता है कि शबिज अपने आप को खोकर ही वृक्ष बनता है, शायद यही कारण है कि निराला मनुष्य के भावों का प्रस्तुतीकरण इतनी सरलता एवं विशेषता के साथ करते हैं। राष्ट्रप्रेम एवं देशभक्ति का दृढ़संकल्प उनके काव्य के आधार रहें हैं।

"क्लेदयुक्त अपना तन दूंगा,
मुक्त करूंगा तुझे अटल,
तेरे चरणों पर देकर बलि,
सकल श्रेय - श्रम सन्चित फल।"[3]

निराला के काव्यों ने देशभक्त वीरों के अन्दर के भय को मिटाकर जोश भरने का कार्य भी किया है। बीसवीं सदी का समाज कैसा रहा होगा यह अनुमान लगाना कठिन है, परन्तु हिन्दी साहित्य की रचनाएं बहुत कुछ साबित करने में सफल रहीं हैं, यह उक्ति इस बात की पुष्टि करती है कि जोश कितना आवश्यक है।

"सिहीं की गोद से - छीनता रे शिशु कौन?मौन भी क्या रहती वह रहते प्राण? रे अजान ! एक मेषमाता ही रहती है निर्निमेष दुर्बल वह
छिनती सन्तान जब जन्म पर अपने अभिशप्त तप्त आँसू बहाती है; किन्तु क्या, योग्य जन जीता है, पश्चिम की उक्ति नहीं- गीता है,
गीता है, स्मरण करो बार-बार - जागो फिर एक बार!"[4]

उनके जागरण के शब्द देशभक्तों को सोने नहीं देते। वे ललकार भरे शब्दों से उन्हें जगाने का प्रयत्न करते हैं आगे लिखते हैं: "तुम हो महान् तुम सदा हो महान, है नश्वर यह दीन भाव, कायरता, कामपरता, बह्रम हो तुम, पर-रज-भर भी है नहीं पूरा यह विश्व भार" जागो फिर हएक बार!"[5]

यह उक्तियाँ प्रमाणित करती हैं कि वे देशभक्ति की भावना से ओतप्रोत कविताओं की रचना भी जन-जागृति के लिए करते हैं। वे देशभक्तों की भावानाओं को महसूस करते हैं, उनकी हृदय वेदना और प्रार्थना दोनों के प्रस्तुतीकरण का प्रावधान रचते हैं। उनकी सबसे चर्चित प्रार्थना जो आम भी जन-जन के हृदय में बसती है:-

"नव गति, नव लय, ताल-छन्द नव,
नवल कण्ठ,नव जलद- मन्द्र रव,

नव नभ के नव विहग-वृन्द को
नव पर नव स्वर दे!
वर दे, विणावादिनि वर दे!"[6]

प्रार्थना के स्वर निराला के काव्यों के आधार रहे हैं इसके लिए उनके शब्दों का चयन हमें हतप्रभ करता है। उनके शब्द मानव हदय के प्रत्येक भाव को प्रकट करने का सामर्थ्य रखते हैं। शब्दों का उच्चारण भावों के प्रगाघ्ढता को प्रकट करने में सक्षम है -

"जला दे जीर्ण- शीर्ण प्राचीन,
क्या करूँगा तन जीवन-हीन?
माँ, तू भारत की पृथ्वी पर
उतर रुपमय माया तन धर,
देवव्रत नरवर पैदा कर,
फैला शक्ति नवीन"[7]

एक सरस्वती बन्दना तो ऐसी है जो मन के अवन्त भावों को प्रदर्शित करती है। कविता पाठ करते समय धारा प्रवाह भावों का एक क्रम सा बन जाता है। हर शब्द में नई भावना, नई पुकार, नई जागृति का आभास होता है। वन्दना की शुरुआत सरस्वती के नख-शिख के वर्णन से शुए होती है और उनकी महत्ता का गुणगान करती हुई प्रकृत की हर छटा का बखान करते-करते भक्त के हृदय तक पहुँचती है। इस कविता में उपमानों की संख्या की भरमार है

"शरत पंकजों से
खञ्जन - नयनों से प्रेक्षण,
हरसिंगार के हार
विश्व के द्वार प्रतीक्षण,
नमित शालि से भरी हुई,
सुन्दर वन वासना,
श्वेत - शशि- मुखी,
जगती पर मधुराधर-हसना।"[8]

इस कविता में कवि प्रकृत की हर वस्तु को अपना विषय बनाता है और देवी की महिमा का प्रभाव हर किसी पर कैसा है यह बताने का प्रयत्न करता है जो मानव हृदय को सुख पहुँचाने का साधन बनता है कविता किसान के खेतों से होकर गाँवों एवं शहरों से गुजरती हुई समाज के हर पहलू का वर्णन करते हुए गीता, रामायण, तुलसी, सुर, मीरा के पदों का बखान करती है एवं कबीर के ज्ञान तक पहुंच कर विराम पाती है!

"ज्ञानालोक विकीर्ण हुआ कबीर से, निर्झर
फूटे कितने, ज्ञानदास के, दादू के स्वर।
तुम्हीं चिरन्तन जीवन की उन्नायक, भविता,
छवि विश्व की मोहिनी, कवि की सनयन कविता।[9]

अद्भूत है यह वर्णन जिसमें सरस शब्दों का समावेश कविता को मनोरंजक, आकर्षक एवं रुचिपूर्ण बनाने में अपना सार्थक योगदान देता है। कविता पाठ करते समय पाठक को अवकाश ही नहीं मिलता की वह विश्श्राम करे। भावों का क्रमानुसार उद्गम उत्साह को प्रवाह देता है और आगे जानने की निरंतरता बनी रहती है। आश्चर्य होता है इस बात से कि ऐसी अतुलनीय रचना को समाज में स्थान पाने को इतना संघर्ष करना पड़ा है। शब्दों के सजावट में 'निराला' का कोई जोड़ नहीं। उनकी यहीं शब्द शैली हर भावों को प्रदर्शीत करने में मददगार होती है। शब्दों का चयन, उसकी सजावट, उसकी सार्थकता एवं उसका सही जगह पर उपयोग यह सब मिलकर ही एक अद्वितीय रचना को आकार प्रदान करते हैं।

भावाभिव्यक्ति में निराला के गीतों की कोई तुलना ही नहीं की जा सकती है "निराला के काव्य का सामना करना हर एक का कटघरे में खड़े होना है। 'निराला 'मैं' शैली को अपनाने का दावा करते हैं वे अपने काव्य के स्वयं नायक हैं।"[10] उनके गीतों में दिन पर दिन भावों का समावेश बढ़ता जाता है उनकी स्चना 'वनबेला' एक अलग ही दृश्य प्रकट करती है। 'बनवेला' के आरम्भ में उन्होंने पृथ्वी और सूर्य के प्रणय- व्यापार का वर्णन किया है। प्रकृति का वर्णन करते-करते वे स्वयं को कल्पना के सागर में ले चलते हैं और कुछ पंक्तियां वे लिखते हैं।

"फिर लगा सोचने यथासूत्र - "मैं भी होता
यदि राजपुत्र - मैं क्यों न सदा कलंक ढोता,
ये होते - जितने विद्याधर-मेरे अनुचर,
मेरे प्रसाद के लिए विनत-सिर उद्यत कर
मैं देता कुछ, रख अधिक, किन्तु जितने पेपर,

सम्मिलित कण्ठ से गाते मेरी कोर्ति अमर
जीवन-चरित्र।"[11]

इस कल्पना से कवि मनुष्य के स्वप्न भाव को प्रकट करता है कि कोई व्यक्ति प्रकृत की गोद में बैठकर अपने सपनों को सजा सकता है, प्रकृत के समीप जो सुकुन मिलता है उसमें मानव के सभी कष्टों को हरने की क्षमता होती है। श्वनबेला के माध्यम से वे मनुष्य और प्रकृत के सम्बन्ध को दर्शाना चाहते हैं किस प्रकार मनुष्य फूल-पत्तो को अपना सखा मानकर अपने हृदय की किड पीड़ा को कम कर सकता है एवं उससे प्रेरणा भी ले सकता है। अचानक कवि की आँखे खुलती है और वह पुनः बेला के आकर्षण में खो जाता है कवि उसके समीप पहुँचता है। फिरः-

"झुक झुक, तन तन, फिर सूम झूम हँस हँस, झकोर,
चिर परिचित चितवन डाल, सहज मुखड़ा मरोर।"[12]

बेला कवि के पराजय और इर्ष्या के भावों की ओर संकेत करके उससे दूर ही रहने को कहती है। कवि अपने स्पर्श को अपवित्र समझकर रुक जाता है। बेला उसे सुझाती है आपा खोकर उसने जीवन का खेल खेला है। जीवन का मेला दिखाऊ वस्तुओं से ही चमकता है। इस तड़क-भड़क में आत्मा की निधि पत्थर बन जाती है। बेला के माध्यम से कवि समाज को आध्यात्म का दर्शन भी कराता है, कविता में कवि स्वयं को जीता है। कविता मन की बातों को व्यक्त करने का माध्यम भी बन सकती है यह 'निराला' के काव्यों में स्पष्ट रूप से दुष्टगत होता है।

निराला के काव्यों से कवियों को प्रेरणा लेनी चाहिए निराला कभी धन प्राप्ति के लिए कुछ भी लिखने की चेष्टा नहीं करते वे अभाव का जीवन व्यतीत करते हुए अपनी भावनाओं को व्यक्त करते हैं इसका उदाहरण हमें 'सरोज - स्मृति' में मिलता है। निराला अपने दुःख के ही कवि नहीं है। वह मानवीय करूणा और सहानुभूति के कवि हैं। वे व्यक्ति के हर भाव को समझने एवं व्यक्त करने की कला जानते हैं। "सरोज- स्मृति, हिन्दी की एकमात्र प्रसिद्ध 'एलेजी' या शोकगीत है। इसे कवि ने अपनी कन्या के निधन पर लिखा था।"[13] अपनी पुत्री के निधन पर कुछ लिखना और उसे काव्य का रूप देना यह कोई साधारण व्यक्ति का कार्य नहीं है। आर्थिक अभाव के कारण वे अपनी पुत्री के स्वास्थ्य के लिए ज्यादा कुछ नहीं कर पाये थे जिसका अफसोस उन्हें बहुत दिनों तक रहा यह काव्य इसकी पुष्टि करता हैः-"

"धन्ये मैं पिता निरर्थक था,
कुछ भी तेरे हित न कर सका!
जाना तो अर्थागमोपाय
पर रहा सदा संकुचित - काय
लखकर अनर्थ आर्थिक पथ पर
हारता रहा मैं स्वार्थ - समर।"[14]

सरोज की मृत्यु से आहत होकर निराला कुछ दिनों तक मौन रहे किसी से कुछ नहीं कहा फिर अचानक कवि के हृदय का रूदन 'सरोज - स्मृति' के रूप में प्रकट हुआ। इसकी हर पंक्ति में यह भाव बोलता है कि मैं पुत्री के लिए कुछ न कर सका। इस भावाभिव्यक्ति में निराला ने सरोज की जीवन कथा ही लिख डाली। ऐसी कथा जिसमें सरोज के जीवन वर्णन के साथ अपनी भी व्यथा एवं लाचारी को दर्शाया है। यह यथार्थ जीवन की एक नई और कटु अनुभूति थी जो निराला हिन्दी को दे रहे थें। यह एक ऐसा महानाटक था जो पाठक के हृदय में अपार करूणा और सहानुभूति की सृष्टि करता है। निराला की यह भावाभीव्यक्ति अद्वितीय है।

"मुझ भाग्यहीन की तू सम्बल
युग वर्ष बाद जब हुई विकल,
दुख ही जीवन की कथा रही
क्या कहूँ आज, जो नहीं कही !
कन्ये, गत कर्मों का अर्पण कर,
करता मैं तेरा तर्पण!"[15]

इस प्रकार शीत से भ्रष्ट होते हुए शतदल के सामान वह विफल कार्यों से कन्या का तर्पण करते हैं। शनिरालाश जी ने ऐसे अनेक स्चनाएँ की हैं, जिनमें जीवन की अनकही कथा अपने - आप फूट निकलती है। अपनी रचना के शुरुआती दिनों में निराला की व्यस्तता कुछ खास असर नहीं डालती। कई बार पत्रिकाओं से लौटी हुई रचनाएँ लेकर वह एकान्त में सम्पादकों के गुण गाया करते थे। उनकी प्रथम रचना 'जूही की कली' सन् 1922 की रचना है एवं सरोज-स्मृति 1935 की रचना है। लगभग तेरह वर्षों की तपस्या रंग लायी और निराला सच में निराला' बन जाते हैं। उनका अब बाहरी दुनिया से कोई जुड़ाव नहीं, इस आदर्श को लोग पागल भी कहने लगे थें। ''हजारी प्रसाद द्विवेदी ने छोटे-से लेख में लिखा है कि निराला पागल नहीं थे। वे एक छन्द थें। समाज के कायदे - कानून नियम मानते हैं तो आप पागल नहीं हैं और इससे अलग यदि अपना अलग कानून बनाते है, नियम बनाते हैं तो बाह्य यथार्थ से विच्छेद हो पागल कहलाता है। यह परिभाषा देते हुए द्विवेदी जी ने इस प्रसंग में कहा कि लोगों ने निराला जी की कविताओं का अर्थ समझना और उसे पकड़ना चाहा, जब पकड़ में नहीं आया तो लोग उन्हें पागल कहने लगे।''[16] निराला के भावों को समझना साधारण लोगों के बस की बात नहीं थी। वे जिन छन्दों के माध्यम से कविता रचते थें। उस समय वे नवीन कहे जा सकते हैंः और यदि कोई नवीन को ना समझ पाये तो इसमें कविता का क्या दोष है २. निराला की कविताओं में जीवन - रस है, रूप है, रंग है, गन्ध है उसे समझना जरूरी है। निराला की कविता सहज सुबोध नहीं है। इसका कारण भाषा की क्लिष्टता

नहीं है, बल्कि भाव की गहराई है भावों की प्रस्तुती करने हेतु उन्होंने शब्दों का चुनाव कीया है। शब्दों का समावेश भावाभिव्यक्ति को सरल बनाने में अपनी अहम भूमिका निभाता है शब्द जीतने गंभीर होंगे भावों की अभिव्यक्ति उतनी अच्छी होगी। शब्द बाणों की तरह पाठक के हृदय को बेंधने वाले होने चाहिए। निराला थोड़े सारगर्भित शब्दों में एक विशद चित्र खिंच देते हैं।निराला एक चतुर काव्य शिल्पी हैं। उनकी प्रत्येक रचना सुगठित होती है। उनके काव्यों में एक साथ कई दृश्यों को देखा जा सकता है ''उदाहरण के लिए 'राम की शक्ति-पूजा' ले सकते हैं। राम-रावण का संघर्ष, -, राम की पराजय और क्षोभ, परोक्ष रूप में स्वयं निराला के जीवन - संघर्ष का चित्रण - विषयवस्तु महत्वपूर्ण है। उसे नाटकीय रूप दिया गया है, राम के चरित्र - चित्रण से।"[17] उनके काव्यों से यह भी ज्ञात होता है की 'मैं' शैली का बोध उनके जीवन की दशा, दु:ख एवं निराशा के भावों को व्यक्त करने में सहयोगी बना है मन की निराशा, शक्ति का प्रदर्शन, लोभ, तेज, विवशता, आक्रामकता एवं लाचारी इन सभी मनोदशाओं का चित्रण एक ही काव्य में दिखाई पड़ता है। 'राम की शक्ति-पूजा' में एक ओर राम का पराजित मन है तो दूसरी ओर हनुमान का शक्ति - प्रदर्शन है। विभीषण की दीनता और राज्य-लोलुपता है तो दूसरी ओर लक्ष्मण का अमोघ तेज है। कविता में युद्ध की विभीषीका का वर्णन है तो माँ को याद करते हुए राम की वह सरल उक्ति है: 'कहती थीं माता मुझे सदा राजीवनयन।"[18] उनके इस काव्य में युद्ध की स्थिति परिस्थिति का वर्णन है राम की निराशा उनके पराजय को लेकर नहीं बल्कि अपनी प्रिय सीता को खो देने के डर से है। एक शक्तिशाली, असाधारण अद्वितीय, महापुरूष के हृदय में भी कोमल भावों का रहस्य निराला इस उक्ति से दर्शाते है:-"

"याद आया उपवन विदेह का,
प्रथम स्नेह का लतान्तराल मिलन नयनों का
नयनों से गोपन - प्रिय सम्भाषण पलकों का
नव पलकों पर प्रथमोत्थान - पतन काँपते
हुए किसलय - झरते पराग - समुदाय
गाते खग- नव-जीवन - परिचय - तरू मलय- वलय
ज्योति : प्रपात स्वर्गीय, ज्ञात छवि प्रथम स्वीय
जानकी नयन - कमनीय प्रथम कम्पन तुरीय।"[19]

राम के हतास और निराश होने पर यह भाव उनके अन्दर एक जागरूकता एवं जोश का प्रतिपादन करते हैं और पुन: वे युद्ध जीतने के नाना प्रकार के उपायों में लग जाते हैं। लक्ष्मण, हनुमान, विभीषण एवं जाम्बवाहन के उक्तियों पर विचार करते हुए तय करते है कि बिना शक्ति' के समर्थन के यह असम्भव है और वे दुर्गा शक्ति की पूजा में जुट जाते हैं। पूजा ऐसी है जिसमें तन-मन के साथ अपना सबकुछ न्योछावर करने की प्रगाढ़ भक्ति के दर्शन होते हैं। अन्तत: जब वे कमल के फूल के जगह अपना नयन समर्पित करने को अपना हाथ बढ़ाते हैं तो शक्ति स्वयं प्रकट होकर उनको रोकते हुए आर्शिवाद देती है :-

"साधु, साधु साधक धीर, धर्म-धन धन्य राम!"
कह लिया भगवती ने राघव का हस्त थाम।"[20]

इस प्रकार इस काव्य में अनेको भावों की अनुभूति ओर अभिव्यक्ति स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। इसके अतिरिक्त कवि के काव्य कौशल का भी परिचय मिलता है, "क्या कला क्या विषयवस्तु, क्या भाव, क्या छन्द हर दृष्टि से निराला आधुनिक हिन्दी के अद्वितीय कवि हैं। यह सरल सुबोध नहीं है लेकिन नितान्त दुर्बोध और दुरूह भी नहीं है।"[21] यदि कोई एक साथ मनुष्य हृदय के अनेक भावों से परिचित होना चाहे तो उसे निराला का काव्य अवश्य ही पढना चाहिए। उनकी रचनाओं की संख्या बहुत अधिक है फिर भी सीर्फ श्रेष्ठ रचनाओं को भी देखा जाए तो इसकी पुष्टि आसानी से की जा सकती है।

संदर्भ सूची:-

1. श्रेष्ठ रचनाएँ, महादेवी, प्रसाद, निराला, पंत, राजकमल प्रकाशन - पृष्ठ० सं०- 95
2. 1श्रेष्ठ रचनाएं, महादेवी, प्रसाद, निराला, पंत, राजकमल प्रकाशन, - पृष्ठ० सं० -97
3. प्रतिनिधि कविताएँ, सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला, राजकमल पेपरबैक्स - पृष्ठ सं०-48
4. वही. पृष्ठ सं०-41
5. वहीं पृष्ठ सं0-42
6. वहीं पृष्ठ सं० -49
7. वहीं. पृष्ठ सं०-54
8. वही. पृष्ठ सं0-115
9. वही. पृष्ठ संठ-123
10. निराला, रामविलास शर्मा, राधाकृष्ण प्रकाशन, पृ० सं० -99
11. प्रतिनिधि कविताएँ, सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला, राजकमल पेपरबैक्स-पृष्ठ सं०-81
12. वहीं पृष्ठ सं0-84
13. निराला,रामविलास शर्मा, राधाकृष्ण प्रकाशन, पृष्ठ सं० - 109
14. प्रतिनिधि कविताएं, सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला, राजकमल पेपरबैस पृष्ठ सं०-57
15. वही. पृष्ठ सं0-67

16. छायावाद: प्रसाद, निराला, महादेवी और पन्त, नामवर सिंह, राजकमल प्रकाशन, पृष्ठ सं०-73
17. निराला, रामविलास शर्मा, राधाकृष्ण प्रकाशन, पृष्ठ सं.-168
18. वही. पृष्ठ सं.-169
19. प्रतिनिधि कविताएं, सूर्यकांत त्रिपाठी निराला, पृष्ठ सं.-69
20. वही. पृष्ठ सं.-78
21. निराला, राम विलास शर्मा, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ सं.-171

हिंदी रंगमंच और राष्ट्रीय चेतना

डॉ० देवेन्द्र शुक्ल

अध्यक्ष, हिंदी विभाग, शोध अनुसंधान केंद्र, जे.एल.एन. कॉलेज, शक्ति, जिला-शक्ति, छत्तीसगढ़

सारांश

हिंदी रंगमंच हिंदी भाषा में प्रस्तुत किया जाने वाला रंगमंच है, जिसमें ब्रज भाषा, खड़ी बोली और हिंदुस्तानी जैसी बोलियाँ भी शामिल हैं। हिंदी रंगमंच मुख्य रूप से उत्तर भारत और पश्चिम भारत तथा मध्य भारत के कुछ हिस्सों में निर्मित होता है, जिनमें मुंबई और भोपाल शामिल हैं। हिंदी रंगमंच की जड़ें उत्तर भारत के पारंपरिक लोक रंगमंच, जैसे रामलीला और रासलीला में निहित हैं, और यह दूरस्थ संस्कृत नाटकों से भी प्रभावित है। 19वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में भारतेंदु हरिश्चंद्र और उसके बाद जयशंकर प्रसाद, मोहन राकेश जैसे नाटककारों के साथ शुरू होकर, हिंदी रंगमंच 1940 और 50 के दशक में परिपक्व हुआ, जब आईपीटीए आंदोलन ने हिंदी भाषी क्षेत्रों में रंगमंच कलाकारों की एक नई पीढ़ी को जन्म दिया, विशेष रूप से आईपीटीए मुंबई, रंगमंच कलाकार पृथ्वीराज कपूर के पृथ्वी रंगमंच और रंगमंच कलाकार हबीब तनवीर के साथ, जिन्होंने अगली पीढ़ी के कलाकारों के लिए मार्ग प्रशस्त किया, जो 1959 में दिल्ली के राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय के शुरू होने के बाद सामने आए।

हिंदी रंगमंच ने स्वतंत्रता संग्राम के दौरान भारतीय जनता में राष्ट्रीय चेतना, सांस्कृतिक गौरव और सामाजिक सुधार की भावना जागृत करने में निर्णायक भूमिका निभाई। भारतेंदु हरिश्चंद्र से लेकर प्रसाद युग तक, नाटकों ने औपनिवेशिक शोषण के खिलाफ राष्ट्रवाद को मुखर किया। यह मंच पारंपरिक लोक कला (रामलीला, रासलीला) से लेकर आधुनिक रंगमंच के यथार्थवादी नाटकों तक विकसित हुआ है, जो आज भी सांस्कृतिक अस्मिता का प्रतीक है।

मूल शब्दः हिंदी रंगमंच, राष्ट्रीय चेतना, ऐतिहासिकता, राष्ट्रीयता, राष्ट्रबोध, सांस्कृतिकता, नाट्य चेतना

प्रस्तावना

भारतीय रंगमंच की जड़ें नाट्यशास्त्र में निहित हैं- यह ग्रंथ ऋषि भरत द्वारा रचित माना जाता है, जिससे भारतीय रंगमंच को धार्मिक आधार मिलता है। पाँचवें वेद के रूप में माने जाने वाले नाट्यशास्त्र में अभिनय, नृत्य, वेशभूषा, संगीत, नाट्यकला, मेकअप, प्रॉप्स, कलाकारों और दर्शकों के बीच पारस्परिक संबंध आदि विषयों पर चर्चा की गई है। नाट्यशास्त्र, अभिनय के महत्व पर बल देता है, जिसके दो पहलू हैं: यथार्थवादी और पारंपरिक नाटक। यह ग्रंथ प्रदर्शन के महत्व पर बल देता है; भारतीय रंगमंच में प्रदर्शन को प्राथमिकता देने की शुरुआत स्वयं भारतीय रंगमंच से हुई। इसमें अभिनय, संगीत, नृत्य और मंच प्रस्तुति के विभिन्न रूपों का विस्तृत वर्णन है। इस ग्रंथ का एक अन्य महत्वपूर्ण पहलू रस सिद्धांत पर इसका बल है। अभिनय या प्रदर्शन रस या सौंदर्यबोध उत्पन्न करता है; यह संवाद, वेशभूषा, संगीत, हावभाव, भाव और मंच सज्जा जैसे नाटक के अन्य तत्वों को एक साथ लाकर ऐसा करता है।[1]

भारत में प्रचलित विभिन्न नाट्य विधाएँ

भारतीय पारंपरिक रंगमंच

केरल में कुट्टियाट्टम, गुजरात में भवाई, असम में भाओना और अंकीय नाट्स, हरियाणा, उत्तर प्रदेश और मालवा में स्वांग, कर्नाटक में यक्षगना, बंगाल में जात्रा और केरल में कत्थकली - ये भारतीय पारंपरिक रंगमंच के कुछ उदाहरण हैं।[2]

भारतीय कठपुतली रंगमंच

कठपुतली कला भारत में मनोरंजन के सबसे प्राचीन रूपों में से एक है। कठपुतली कला का इतिहास ईसा पूर्व पाँचवीं शताब्दी तक जाता है। केरल, आंध्र प्रदेश, कर्नाटक और ओडिशा जैसे राज्यों में कठपुतली कला अधिक लोकप्रिय है। कठपुतली रंगमंच की कहानियाँ अधिकतर रामायण और महाभारत की कथाओं पर आधारित होती हैं। भारत में प्रारंभिक कठपुतली रंगमंच में महान राजाओं, नायकों और पौराणिक पात्रों की कहानियाँ प्रस्तुत की जाती थीं। ये कठपुतलियाँ अक्सर चमड़े से बनी होती हैं और इनकी गति को एक डोरी द्वारा नियंत्रित किया जाता है। व्यंग्य, कल्पना, वास्तविकता और प्रहसन - एक कठपुतली शो अपनी कहानी में इनमें से किसी भी विषय को शामिल कर सकता है।[3]

भारतीय नुक्कड़ रंगमंच

भारतीय नुक्कड़ रंगमंच मुख्य रूप से आम लोगों की भावनाओं को व्यक्त करने पर केंद्रित है; इसे अक्सर जनता का रंगमंच और जनता के लिए रंगमंच के रूप में जाना जाता है। नुक्कड़ रंगमंच मुख्य रूप से आम लोगों की समस्याओं को सामने लाता है। स्वतंत्र भारत में यह लोगों की सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक स्थितियों को व्यक्त करने का एक लोकप्रिय माध्यम बन गया। मनोरंजन के एक रूप से कहीं अधिक, भारतीय नुक्कड़ रंगमंच भारत में लोगों

की सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक चिंताओं को दर्शाने पर अधिक केंद्रित है। 'चार्जशीट' (1949) कलकत्ता में हजारों श्रमिकों के एक समूह के लिए प्रदर्शित किए गए शुरुआती नुक्कड़ नाटकों में से एक है। नुक्कड़ रंगमंच आम लोगों के मन को छूने में सफल रहा है क्योंकि यह उनकी कहानियों को उनकी अपनी भाषा में प्रस्तुत करता है और उन्हें इसका हिस्सा बनने का अवसर देता है।[4]

भारतीय नुक्कड़ रंगमंच में एक अन्य प्रमुख योगदानकर्ता सफदर हाशमी हैं, जिन्होंने विभिन्न राजनीतिक मुद्दों पर जागरूकता पैदा करने के लिए 1973 में जन नाट्य मंच की स्थापना की थी। जन नाट्य मंच ने विभिन्न राजनीतिक और सामाजिक मुद्दों पर जागरूकता पैदा करने के लिए श्वुमनश, श्हल्लाबोलश और श्मशीनश आदि सहित कई नुक्कड़ नाटक प्रस्तुत किए हैं।

दक्षिण भारत में भी नुक्कड़ रंगमंच लोकप्रिय हो गया है, जहां चंद्रशेखर पाटिल और अन्य कई नाटककारों ने इसका उपयोग सामाजिक बुराइयों पर व्यंग्य करने के लिए किया है। केरल, असम और तमिलनाडु जैसे राज्यों में यह जनता से संवाद का एक लोकप्रिय माध्यम बन गया है। इस प्रकार, भारत के नुक्कड़ रंगमंच आंदोलन का एक राजनीतिक उद्देश्य है और यह समाज के शोषित वर्ग के विकास के लिए काम करता है।

वर्तमान समय में, नुक्कड़ रंगमंच कई व्यक्तियों और संगठनों द्वारा परिवार नियोजन, एचआईवी, भ्रष्टाचार, हिंसा आदि जैसे विभिन्न मुद्दों पर जागरूकता पैदा करने के लिए अभिव्यक्ति का एक प्रमुख माध्यम बन गया है। उत्पल दत्ता और बादल सरकार जैसे प्रख्यात रंगमंच कलाकार भी इस रंगमंच का समर्थन करते हैं और इसके विकास के लिए काम करते रहे हैं।[5]

भारतीय मोबाइल थिएटर

मोबाइल थिएटर की उत्पत्ति असम में हुई थी और यह एकमात्र ऐसा राज्य है जहाँ वर्तमान में यह नाट्य शैली प्रचलित है। मोबाइल थिएटर में, नाटक मंचन के लिए अभिनेताओं का एक समूह होता है जो गायकों, संगीतकारों और नर्तकों के साथ स्थान-स्थान पर यात्रा करता है। पूरा दल एक साथ यात्रा करता है। यहाँ तक कि दर्शकों के लिए तंबू और कुर्सियाँ भी साथ ले जाई जाती हैं। अच्युत लाहकर को मोबाइल थिएटर का जनक माना जाता है, जिसका पहला मंचन 2 अक्टूबर, 1963 को असम के पाठशाला में हुआ था। ये भारत में प्रचलित नाट्य शैलियों में से कुछ हैं, साथ ही लिखित नाटक का भी व्यापक प्रचलन है।[6]

अंग्रेजी में भारतीय नाटक

अंग्रेजी में भारतीय नाटक का अस्तित्व 18 वीं शताब्दी में ब्रिटिश नाटक के प्रभाव के बाद ही आया, जब अंग्रेजों ने मुख्य रूप से अपने लाभ के लिए भारत में अंग्रेजी का परिचय कराया। उनका मुख्य उद्देश्य अंग्रेजी बोलने और लिखने में सक्षम कर्मचारियों का एक वर्ग बनाकर प्रशासनिक लाभ सुनिश्चित करना और ईसाई धर्म का प्रचार करना था। लेकिन यह भारतीय लोगों के लिए वरदान साबित हुआ, जिन्हें एक नई भाषा और संस्कृति सीखने का अवसर मिला। धीरे-धीरे, भारतीय ब्रिटिश संस्कृति और साहित्य से प्रभावित होने लगे, जिससे सांस्कृतिक आदान-प्रदान हुआ। ब्रिटिश थिएटर समूहों ने भारत में बॉम्बे, मद्रास और कलकत्ता जैसे स्थानों पर शेक्सपियर के नाटकों सहित विभिन्न नाटकों का मंचन किया, जिससे भारतीय साहित्यकारों को इन नाटकों का और अधिक अध्ययन करने और इनका अनुसरण करने की प्रेरणा मिली। इस पश्चिमी प्रभाव के तहत, भारत के कई नाटककारों ने अंग्रेजी में नाटक लिखना शुरू किया। अंग्रेजी में पहला नाटक कृष्ण मोहन बनर्जी द्वारा 1831 में लिखा गया था, जिसका शीर्षक था 'द पर्सिक्यूटेड'। हालांकि, भारतीय अंग्रेजी नाटक की वास्तविक यात्रा माइकल मधुसूदन दत्त के नाटक 'इज दिस सिविलाइजेशन?' से शुरू हुई। यह शैली 1871 में साहित्यिक जगत में उभरी। लेकिन इसकी शुरुआत से ही इस शैली का विकास बहुत धीमा रहा है। समकालीन काल में ही हमने कुछ ऐसे नाटककारों को देखा है जो मूल रूप से अंग्रेजी में नाटक लिखते हैं और भारतीय समाज के विभिन्न पहलुओं को दर्शाते हैं, जिससे यह धारणा पुष्ट होती है कि रंगमंच समाज का दर्पण है।[7]

रंगमंच और राष्ट्रीय चेतना

राष्ट्रीय चेतना शब्द में राष्ट्रीय और चेतना दो शब्दों का मेल है। 'प्रामाणिक हिंदी कोश' सं. रामचंद्र वर्मा के अनुसार 'राष्ट्र' शब्द का अर्थ है - (क) राज्य, (ख) देश, (ग) एक राज्य में बसनेवाला समस्त जन-समूह।

इस प्रकार राष्ट्रीयता का अर्थ हुआ (क) राष्ट्र संबंधी (ख) देश संबंधी (ग) अपने राष्ट्र की एकता, महत्ता और उन्नति आदि से संबंध रखनेवाला।

वहीं इसी पुस्तक के अनुसार चेतना शब्द का अर्थ है ख़ (क) बुद्धि (ख) शोध करने कि वृत्ति या शक्ति।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि राष्ट्रीय चेतना का अर्थ है- 'अपने राष्ट्र की एकता, महिा और उन्नति में लगी हुई बुद्धि, वृत्ति या शक्ति।'

राष्ट्रवाद का आधुनिक अर्थ जिसमे अपने ही राष्ट्र को सर्वप्रथम और सवोपरि माना जाता है; यह प्रवृत्ति भारत में शायद कभी नहीं रही है। इस प्रवृत्ति के स्थान पर भारत में अपने राष्ट्र की उन्नति, सुरक्षा, कल्याण आदि विचार और प्रयास की प्रवृत्ति अधिक रही है और इस प्रकार की प्रवृत्ति भारत में वैदिक काल से आज तक मिलती है। इस प्रकार के विचार और प्रयास ही राष्ट्रीय चेतना को अधिक समीचीन बनाता है। इस प्रवृत्ति की राष्ट्रीय चेतना को इक्कीसवीं सदी के नाटकों में खोजने का प्रयास इस शोध आलेख में किया गया है।[8]

हिंदी रंगमंच और राष्ट्रीय चेतना का विकास

उन्नीसवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध भारतीय नवजागरण का संक्रमणकाल था, जहाँ औपनिवेशिक दमन, सांस्कृतिक हीनताबोध और सामाजिक जड़ता के विरुद्ध एक सशक्त वैचारिक प्रतिक्रिया आकार ले रही थी। भारतेंदु हरिश्चंद्र इस नवजागरण के अग्रदूत के रूप में हिंदी नाटक को आधुनिक चेतना से जोड़ते हैं, राष्ट्रीयता और सांस्कृतिक पुनरुत्थान का प्रभावी माध्यम भी बनाते हैं।

हिन्दी साहित्य में ऐतिहासिक नाटक केवल अतीत की घटनाओं का नाट्य-रूपांतरण मात्र नहीं है, वह राष्ट्रीय चेतना, सांस्कृतिक स्मृति और सामूहिक अस्मिता के निर्माण का एक सशक्त साहित्यिक माध्यम रहा है। विशेषत: औपनिवेशिक काल और स्वतंत्रता-पूर्व भारत में ऐतिहासिक नाटकों ने भारतीय समाज को अपने गौरवशाली अतीत से जोड़ते हुए राष्ट्रीय आत्मबोध को सुदृढ़ किया।[9]

प्रस्तुत शोध-पत्र में ऐतिहासिक नाटकों के आलोक में यह विश्लेषण किया गया है कि किस प्रकार नाटककारों ने इतिहास का सृजनात्मक पुनर्पाठ करते हुए राष्ट्रीय चेतना, सांस्कृतिक गौरव, नैतिक मूल्यों तथा राजनीतिक आत्मसम्मान की अवधारणाओं को विकसित किया। यह अध्ययन तुलनात्मक पद्धति के माध्यम से न केवल इन नाटककारों की वैचारिक समानताओं और भिन्नताओं को रेखांकित करता है, यह भी स्पष्ट करता है कि हिन्दी ऐतिहासिक नाटक आधुनिक भारत में राष्ट्र-निर्माण की प्रक्रिया का एक महत्त्वपूर्ण साहित्यिक उपकरण रहा है।

हिंदी रंगमंच और राष्ट्रीय चेतना के विकास के मुख्य चरण:

- भारतेन्दु युग (जागरण काल): भारतेन्दु हरिश्चंद्र ने श्भारत दुर्दशाश और श्अंधेर नगरीश जैसे नाटकों के माध्यम से अंग्रेजी शासन की शोषणकारी नीतियों को उजागर किया। उन्होंने राष्ट्रीय चेतना जगाने के लिए हिंदी रंगमंच को एक जन-माध्यम के रूप में स्थापित किया।[10]
- प्रसाद युग (सांस्कृतिक राष्ट्रवाद): जयशंकर प्रसाद ने 'चंद्रगुप्त', 'स्कंदगुप्त' और 'ध्रुवस्वामिनी' जैसे ऐतिहासिक नाटकों द्वारा भारत के गौरवशाली अतीत को पुनर्जीवित किया। इन नाटकों का उद्देश्य स्वतंत्रता-पूर्व भारत में नैतिक मूल्यों, सांस्कृतिक अस्मिता और आत्म-सम्मान की भावना को सुदृढ़ करना था।[11]
- स्वतंत्रता संग्राम और रंगमंच: इस दौरान रंगमंच ने लोगों को अंग्रेजों के खिलाफ एकजुट होने के लिए प्रेरित किया। ऐतिहासिक नाटकों ने राष्ट्रप्रेम की भावना को बढ़ावा दिया।
- स्वतंत्रता पश्चात विकास: 1959 में राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय की स्थापना के बाद हिंदी रंगमंच अधिक परिपक्व हुआ। इसमें इब्राहीम अल्काजी और हबीब तनवीर जैसे निर्देशकों ने यथार्थवादी नाटकों के माध्यम से सामाजिक मुद्दों को उठाया।[12]
- आधुनिक स्थिति: आज हिंदी रंगमंच न केवल पुरानी परंपराओं को आगे बढ़ा रहा है, बल्कि समीक्षाधीन अध्ययनों के अनुसार यह राजनीतिक और सामाजिक मुद्दों का सशक्त माध्यम बना हुआ है।

इस प्रकार, हिंदी रंगमंच केवल मनोरंजन का साधन नहीं रहा, बल्कि यह भारत के स्वतंत्रता आंदोलन और राष्ट्र निर्माण का एक अत्यंत महत्वपूर्ण साहित्यिक और सांस्कृतिक उपकरण रहा है।[13]

निष्कर्ष

दुनिया के सबसे बड़े नाटककार शेक्सपीयर ने कहा था पूरी दुनिया एक रंगमंच है और रह व्यक्ति एक अभिनेता है। यह बात आज के संदर्भ में उतना ही सच है जितना कल था। बढ़ते सिनेमा और धारावाहिक के दौर में भी रंगमंच का महत्व कम नहीं हुआ है। विभिन्न देशों में अनेक भाषा में रंगमंच का समृद्ध इतिहास है। रंगकर्म एक सामाजिक कर्म है। विश्व में रंगमंच की एक समृद्ध परंपरा है। भारत के संदर्भ में आजादी आंदोलन के दौरान बंगाल में नील दर्पण नाटक को देखकर लोगों में राष्ट्रीय चेतना जगी। बाद में अंग्रेज द्वारा इस नाटक को जब्त किया गया। इससे यह पता चलता है कि रंगकर्म जन आंदोलन का सशक्त माध्यम है। रंगमंच का आरंभ से ही सामाजिक परिवर्तन में मुख्य भूमिका रही है। इससे समाज का हर तपके का सीधा जुड़ाव है।

ऊपरोक्त विवेचना में हमने पाया कि इस इक्कीसवीं सदी के हिंदी नाट्य-लेखन परंपरा में राष्ट्रीय चेतना के सहायक और बाधक दोनों तत्वों को लेकर नाटक लिखे जा रहे हैं। हिंदी में नाटक कम लिखे जाते हैं। इसमें भी राष्ट्रीय चेतना को लेकर और भी काम नाटक मिलते है। लेकिन जो भी हिंदी नाटक इसे लेकर लिखे गए हैं, वे युग की चुनौतियों के सापेक्ष हैं। इधर लोगों में राष्ट्र के प्रति प्रेम और जागरूकता भी बढ़ी है और अभी इस सदी का दो दशक ही बीता है। अत: इस विषय की ओर बढ़ने के लिए हिंदी नाटक के पास पर्याप्त समय, संसाधन और कारण हैं।

सन्दर्भ

1. द्विवेदी, हजारीप्रसाद. (1990). आधुनिक हिन्दी नाट्य चेतना. इलाहाबाद: लोकभारती
2. तिवारी, शिवकुमार. (2001). भारतीय राष्ट्रवाद और साहित्य. नई दिल्ली: वाणी प्रकाशन
3. गुप्ता, अमरनाथ. (2008). नाट्य और सांस्कृतिक बोध. नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन
4. मिश्र, कृष्णकांत. (2010). आधुनिक हिन्दी नाटक और समाज. इलाहाबाद: लोकभारती
5. त्रिपाठी, देवदत्त. (2012). हिन्दी साहित्य में राष्ट्रीय चेतना. नई दिल्ली: साहित्य अकादमी
6. वर्मा, सत्यप्रकाश. (2014). ऐतिहासिक चेतना और हिन्दी नाटक. नई दिल्ली: वाणी प्रकाशन
7. शर्मा, प्रेमशंकर. (2016). रंगमंच और राष्ट्रीय अस्मिता. जयपुर: पॉइंटर पब्लिशर्स
8. सिंह, रमेश. (2018). औपनिवेशिक संदर्भ और हिन्दी नाटक. नई दिल्ली: ओरिएंट ब्लैकस्वान
9. कुमार, नरेश. (2021). इतिहास, नाटक और राष्ट्रबोध. नई दिल्ली: सेज पब्लिकेशन्स
10. शुक्ल, रामकृष्ण. (1950). हिन्दी ऐतिहासिक नाटक: एक अध्ययन. दिल्ली: भारतीय साहित्य अकादमी.
11. मिश्र, लक्ष्मीनारायण मिश्र. (2008). लक्ष्मीनारायण मिश्र: नाटक और सामाजिक चेतना. इलाहाबाद: लोकभारती प्रकाशन।
12. गुप्ता, रमेश. (2002). हिन्दी नाटक और सामाजिक चेतना. लखनऊ: संस्कृति प्रकाशन.
13. त्रिपाठी, कमल. (2010). राष्ट्रीय चेतना और हिन्दी नाट्य साहित्य. वाराणसी: साहित्य भारती.

विमुद्रीकरण का भारतीय अर्थव्यवस्था पर प्रभाव और राजनीतिक संकट

डॉ० ममता कुमारी

राजनीति विज्ञान विभाग, वीर कुँवर सिंह विश्वविद्यालय, आरा (भोजपुर)

सारांश – 8 नवंबर 2016 को रात 8 बजे माननीय प्रधानमंत्री श्री नरेंद्र मोदी द्वारा राष्ट्र के संबोधन में अप्रत्याशित रूप से इस बात की घोषणा की गई कि मध्य रात्रि से उच्च मूल्य वर्ग के रू. 500 एवं रू. 1000 के नोट लीगल टेंडर (वैद्य मुद्रा) नहीं रहेंगे अर्थात् सीमित अवधि में सीमित सेवाओं के साथ इसकी वैधता समाप्त हो जाएगी।

विमुद्रीकरण वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा सरकार किसी भी सीरीज एवं मूल्यवर्ग की मुद्राओं को अवैध घोषित कर चलन से बाहर कर देती है। सामान्यत: इस प्रक्रिया में प्रचलित पुरानी मुद्रा की जगह नई मुद्राएँ लाई जाती हैं। ऐसा कई बार काले धन पर अंकुश एवं जाली मुद्रा पर नियंत्रण हेतु होता है।

सरकार की मानें तो काले धन को समाप्त करना विमुद्रीकरण का प्राथमिक लक्ष्य था हालाँकि कई लोगों ने भारतीय रिजर्व बैंक (RBI) द्वारा जारी आँकड़ों के आधार पर नोटबंदी के इस उद्देश्य पर प्रश्नचिह्न लगाया है।

काला धन असल में वह आय है जिसे कर अधिकारियों से छुपाने का प्रयास किया जाता है यानी इस प्रकार की नकदी का देश की बैंकिंग प्रणाली में कोई हिसाब नहीं होता है और न ही इस पर किसी प्रकार का कर दिया जाता है।

वर्ष 2018 में भारतीय रिजर्व बैंक की वार्षिक रिपोर्ट में दर्शाया गया था कि विमुद्रीकरण के दौरान अवैद्य घोषित किये गए कुल नोटों का तकरीबन 99. 3 प्रतिशत यानी लगभग पूरा हिस्सा बैंकों के पास वापस आ गया था। आँकड़ों के मुताबिक अमान्य घोषित किये गए 15.41 लाख करोड़ रुपए में से 15. 31 लाख करोड़ रुपए के नोट वापस आ गए थे। फरवरी 2019 में तत्कालीन वित्त मंत्री पीयूष गोयल ने संसद का बताया था कि विमुद्रीकरण समेत सभी प्रकार के काले धन को समाप्त करने के लिये उठाए गए विभिन्न उपायों के कारण 1.3 लाख करोड़ रुपए का काला धन बरामद किया गया था, जबकि सरकार ने विमुद्रीकरण की घोषणा करते हुए इस संबंध में तकरीबन 3-4 लाख करोड़ रुपए बरामद करने की बात कही थी। अत: आँकड़ों के आधार पर कहा जा सकता है कि विमुद्रीकरण यानी नोटबंदी भारतीय अर्थव्यवस्था से काले धन की समस्या को समाप्त करने में कुछ हद तक विफल रही है।

मुख्य शब्द:- विमुद्रीकरण, भारतीय, अर्थव्यवस्था, अर्थव्यवस्था आदि।

परिचय

विमुद्रीकरण क्या है – 8 नवम्बर 2016 से पहले संभवत: भारत के आम लोग इस शब्द से अपरिचित ही रहे होंगे इसकी वजह इस शब्द का रोजमर्रा के जीवन में प्रयोग का लगभग ना होना रहा है। हाँ, अर्थशास्त्र के विद्यार्थी, शिक्षक और फिर अर्थजगत के ज्ञाता विमुद्रीकरण से अवगत तो रहे होंगे, परन्तु क्या भारत में इसे अमल में लाया जा सकता है, इसके बारे में उन्होंने शायद सोचा भी नहीं होगा हालाँकि जिस तरह से पिछले लगाम लगाने के लिए सक्रिय थी, उससे अनुमान लगाया जाने लगा था कि काले धन को नेस्तनाबूद करने के लिए वह कोई बड़ा और अभूतपूर्व कदम उठा सकते हैं। अंतत: 8 नवम्बर 2016 को राष्ट्र को संबोधित करते हुए, उन्होंने बड़े मूल्य के नोटों यानि 500 और 1000 के नोटों को उसी दिन की अर्धरात्रि से बंद कर दिए जाने का ऐलान कर दिया। इस ऐलान के बाद उपरोक्त दोनों मूल्य वर्ग के नोट कानूनी तौर पर अवैध हो गए और उन नोटों यानि मुद्रा की कोई कीमत नहीं रह गई।

संक्षिप्त तौर पर कह सकते हैं कि विमुद्रीकरण वह प्रक्रिया है जिसके तहत किसी देश की सरकार अपने देश की किसी मुद्रा (नोट को कानूनी तौर पर प्रतिबंधित कर देती है प्रतिबंध के बाद उस मुद्रा की कोई कीमत नहीं रह जाती उस मुद्रा से किसी प्रकार की खरीद-बिक्री लेन-देन और उसे संचित करना भी अपराध माना जाता है। मुद्रा पर प्रतिबंध के बाद सरकार एक समय सीमा तय करती है जिसके अंदर लोग प्रतिबंधित किए गए नोटों को बैंकों में बदलकर उसके बदले उतने ही मूल्य के अन्य वर्ग के प्रचलित नोट या फिर नए जारी किए गए नोट ले सकते हैं अगर तय समय सीमा के अंदर जिस प्रतिबंधित मुद्रा को बदला नहीं जाता है या फिर उसे बैंक में जमा नहीं किया जाता है तो वे सभी नोट कागज के टुकड़े या रद्दी हो जाते हैं।

विमुद्रीकरण क्यों किया जाता है- किसी भी देश की सरकार द्वारा देश में प्रचलित विभिन्न मूल्य वर्ग के नोटों में से किसी खास वर्ग या वर्गों को प्रतिबंधित करने के कई कारण होते हैं। इस प्रकार के प्रतिबंध के संबंध में सबसे खास बात यह है कि सामान्यत: प्रतिबंध बड़े मूल्य वर्ग के नोटों पर लगाया जाता है जैसे कि भारत में 500 और 1000 के नोटों पर प्रतिबंध लगाया गया जो देश में प्रचलित नोटों में सबसे बड़े मूल्य वर्ग के नोट थे विमुद्रीकरण के कारणों में सबसे प्रमुख है। देश की अर्थव्यवस्था में काले धन और जाली मुद्रा की विनाशकारी भूमिका जब किसी देश में लोग टैक्स चोरी करने के उद्देश्य से नगद लेन-देन ज्यादा करने लगते हैं तब मुद्रा की जमाखोरी बोंककर देश की आर्थिक व्यवस्था को पंगु बनाने की साजिश रचते हैं।

वहीं आलोचकों का मत है कि नोटबंदी ने भारतीय अर्थव्यवस्था को काफी गहरे तक प्रभावित किया है और इससे नकदी पर निर्भर रहने वाले अधिकांश छोटे व्यवसायों को कठिर्नाइ का सामना करना पड़ा था। विमुद्रीकरण को लागू किये जाने के पीछे मुख्यत: तीन उद्देश्य थे-

1. काले धन को समाप्त करना
2. नकली नोटों के प्रचलन को समाप्त करना
3. डिजिटल लेन-देन को बढ़ावा देकर कैशलेस अर्थव्यवस्था का निर्माण करना

1. काले धन को समाप्त करना- भारतीय रिजर्व बैंक द्वारा जारी आंकड़ों को देखें तो स्पष्ट हो जाता है कि देश में काले धन का एक बड़ा साम्राज्य स्थापित हो चुका था. आंकड़ों के अनुसार 31 मार्च 2016 तक देश में 16.42 लाख करोड़ रुपये मूल्य के नोट प्रचलन में थे, जिसमे से 14.18 लाख करोड़ रुपये 500 और 1000 मूल्य वर्ग के थे. यानि कुल नोटों में से 500 और 1000 मूल्य वर्ग के नोटों की हिस्सेदारी 86 फीसदी थी. परन्तु आरबीआई के आंकड़े कहते हैं कि इन बड़े मूल्य वर्ग के नोट बाजार में सिर्फ 24 फीसदी ही थे. यानि कि बाकी बचे 76 फीसदी बड़े मूल्य वर्ग के नोटों को जमाखोरी कर काले धन में परिवर्तित कर दिया गया था।

2. नकली नोटों के प्रचलन को समाप्त करना- भारतीय अर्थव्यवस्था जाली नोटों की बढ़ती संख्या से भी त्रस्त था। अनुमान लगाया गया था कि देश की अर्थव्यवस्था में विमुद्रीकरण से पूर्व लगभग 400 करोड़ रुपए के जाली नोटों का प्रवाह था। यानि प्रति 10 लाख नोटों में 250 जाली नोट थे इतना ही नहीं, इन जाली नोटों के भंडार में प्रति वर्ष 70 करोड़ का इजाफा भी हो रहा था। इन जाली नोटों में से 50 फीसदी से अधिक केवल 1000 मूल्य वर्ग के नोट ही थे और बाकी 500 मूल्य वर्ग के थे। ऐसे में भारतीय अर्थव्यवस्था का खोखला होते जाना लाजिमी था। अंतत: जरूरी था कि सरकार कोई ऐसा कदम उठाए, जिससे अर्थव्यवस्था के लिए नासूर बनते जा रहे काले धन और जाली नोटों के खेल पर करारा प्रहार हो सक। देश की वर्तमान नरेन्द्र मोदी सरकार द्वारा लिया गया विमुद्रीकरण का फैसला इसी दिशा में उठाया गया एक सफल प्रयास कहा जा सकता है।

3. डिजिटल लेन-देन को बढ़ावा देकर कैशलेस अर्थव्यवस्था बनाना कैशलेस अर्थव्यवस्था का निर्माण करना - सरकार द्वारा नोटबंदी को दीर्घकाल में अर्थव्यवस्था को कैशलेस बनाने के एक उपाय के रूप में प्रस्तुत किया गया था। हालाँकि रिजर्व बैंक के आँकड़ों की मानें तो नोटबंदी लागू होने से अब तक अर्थव्यवस्था में प्रचलित नोटों के कुल मूल्य और मात्रा में वृद्धि दर्ज की गई है। आँकड़ों के अनुसार, वित्तीय वर्ष 2015-16 में अर्थव्यवस्था में प्रचलित कुल नोटों की संख्या तकरीबन 16.4 लाख करोड़ रुपए थी।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि नोटबंदी लागू किये जाने के बाद भी अर्थव्यवस्था में प्रचलित नोटों की संख्या और मात्रा में वृद्धि हुई है हालाँकि नोटों की संख्या में वृद्धि के साथ-साथ डिजिटल लेन-देन में भी बढ़ोत्तरी हुई है।

कोरोना वायरस महामारी ने भी लोगों के बीच नकदी के प्रचलन को और बढ़ावा दिया है। जब मार्च माह में सरकार ने देशव्यापी लॉकडाउन की घोषणा की थी तो आम लोगों ने किसी भी आपातकालीन परिस्थिति से निपटने के लिये नकदी को एकत्र करना शुरू कर दिया, जिसके कारण हाल के कुछ दिनों में अर्थव्यवस्था में नकदी के प्रचलन में काफी बढ़ोत्तरी हुई है।

डिजिटल लेनदेन में बढ़ोत्तरी

इसी वर्ष अक्तूबर माह में प्रकाशित रिजर्व बैंक के आँकड़ों से पता चलता है कि वित्तीय वर्ष 2019-20 में भारत में डिजिटल भुगतान की मात्रा में 3434. 56 करोड़ की भारी वृद्धि हुई है। आँकड़ों के अनुसार, बीते पाँच वर्षों में डिजिटल भुगतान की मात्रा में 55.1 प्रतिशत की वार्षिक वृद्धि हुई है, वहीं डिजिटल भुगतान के मूल्य के मामले में 15.2 प्रतिशत की वृद्धि दर्ज हुई है।

अक्टूबर 2020 में एकीकृत भुगतान प्रणाली (UPI) आधारित भुगतान ने 207 करोड़ लेन-देन के साथ एक नया कीर्तिमान स्थापित किया है। विमुद्रीकरण के समय जमा धन से जुड़े विधिक व व्यावहारिक पहलू मात्र रू. 2000 प्रतिदिन या रू. 20 हजार की साप्ताहिक निकासी की सीमा का सामान्यीकरण, शादी व बीमारी के वक्त व्यक्ति के स्वयं के संचित धन की निकासी हेतु पहचान पत्र जैसे साक्ष्यों के प्रस्तुतीकरण एवं निकासी सीमा का आरोपण कहाँ तक तर्कसंगत है?

भारत में ग्रामीण ऋण का 46 प्रतिशत को-ऑपरेटिव बैंकों द्वारा दिया जाता है। ऐसे में को-ऑपरेटिव बैंकों में नोट जमा और वापस लेने के अधिकार को प्रतिबंधित करना उचित नहीं है। आदिवासी, खाता विहीन व्यक्ति व मंदबुद्धि, बेघर, पहचान पत्र विहीन लोगों के धन की रक्षा हेतु सरकार की नीति अस्पष्ट थी। नेपाल राष्ट्र में जमा रू. 3.5 करोड़ के भारतीय नोट के विनिमय (Euchange) के अनुरोध को त्थ्प् द्वारा ठुकराना एवं सांस्कृतिक रूप से व्यावहारिक लेन-देन पर आधारित नेपाल में घ 10000 करोड़ की प्रचलित भारतीय मुद्रा को हवाला का धन मानना अनुचित है।[1]

विमुद्रीकरण के फायदे:-

1. काले धन पर करारा प्रहार - विमुद्रीकरण का सबसे करारा चोट काले धन के कुबेरों पर पड़ा है। अनुमान लगाया गया था कि देश में लगभग 3 लाख करोड़ रुपये काले धन के रूप में छिपा कर रखे गए हैं। इन रुपयों का हवाला कारोबार, तस्करी, आतंकवाद और आपराधिक गतिविधियों में धड़ल्ले से उपयोग हो रहा था। कश्मीर में जारी हिंसा में भी काला धन मुख्य भूमिका निभा रहा था। देश की सियासत में भी काला धन लंबे समय से एक मुद्दा रहा है। अंतत: विमुद्रीकरण कर जब इस पर प्रहार किया गया, तो माना जा रहा है कि काले धन पर पूर्ण तो नहीं परन्तु इसके सम्राज्य पर लगभग 80 से 90 फीसदी प्रभाव अवश्य पड़ेगा।

2. आतंकवाद नक्सलवाद और आपराधिक गतिविधियों पर चोट -विमुद्रीकरण के चोट से आतंकवादी गुटों, नक्सली समूहों, नशे के कारोबारियों सहित अन्य गैरकानूनी गतिविधियों को करारा आघात पहुंचा है. इसका स्पष्ट प्रभाव कश्मीर में देखने को मिल रहा है. एक तरफ जहाँ इन समूहों द्वारा जमा किए गए नोटों के ब ंडल कागज के टुकड़ों में तब्दील हो गए हैं वहीँ नए नोटों के अभाव में इनकी गतिविधियां ठप्प पड़ गई हैं।
3. टैक्स कलेक्शन में सरकार ने विमुद्रीकरण से पहले और विमुद्रीकरण के दौरान काले धन को छिपाकर रखने वालों को राहत देते हुए कहा था कि वे अपने धन का खुलासा कर नियम के अनुसार टैक्स चुका कर मुख्यधारा में आ सकते हैं। इसका असर हुआ. बहुत सारे लोगों ने राहत का फायदा उठाया और जो छिपे रहे उनमें से कईयों के ठिकाने पर एजेंसियों ने छापा मारकर उन्हें पकड़ा और नगदी को जब्त किया। अब तक की सरकारी रिपोर्ट के अनुसार विमुद्रीकरण के बाद टैक्स कलेक्शन में 14.5 फीसदी की बढ़ाएंगे।

विमुद्रीकरण के नुकसान

विमुद्रीकरण के नुकसान इस प्रकार है-

1. देश में आपातकाल जैसी स्थिति बन जाती है विमुद्रीकरण में लोगों के पास जो नोट होते हैं वह अवैध माने जाते हैं। उन्हें कोई स्वीकार नहीं करता है। लोग उन पैसों से कुछ भी नहीं खरीद पाते हैं, इसलिए लोगों के बीच आपातकाल जैसी स्थिति बन जाती है। 2016 में भारत में नोटबंदी के बाद 200 लोगों की जान चली गई। बहुत से लोग अस्पताल में अपना इलाज भी नहीं करवा पाए क्योंकि उनके पास जो पैसे थे उसे अस्पताल वालों ने स्वीकार नहीं किया। रोजमर्रा की चीजें जैसे दूध, सब्जियां, राशन खरीदने में भी लोगों को भारी दिक्कतों का सामना करना पड़ा।
2. गरीब वर्ग को अनेक समस्याओं से जूझना पड़ता है नोटबंदी होने पर वहां के गरीब वर्ग को अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ता है। ऐसे मजदूर जो देहाड़ी पर रोज के हिसाब से काम करते हैं उनका रोजगार छिन जाता है क्योंकि मालिक के पास उन्हें देने के लिए पैसा नहीं होता है। 2016 में भारत में ऐसा ही हुआ था। हजारों मजदूरों का काम अचानक से बंद हो गया था क्योंकि मालिक के पास उन्हें देने के लिए सही मुद्रा ही नहीं थी।[2]
3. रियल एस्टेट सेक्टर पर नकारात्मक असर पड़ता है नोटबंदी के समय लोगों के पास पैसा बिल्कुल भी नहीं होता है। जो थोड़ा बहुत नकदी लोगों के पास होता है। वह रोजमर्रा की चीजें खरीदने के काम आता है। इससे रियल एस्टेट सेक्टर पर बुरा असर पड़ता है। लोगों के पास बड़ी मात्रा में नकदी ना होने से वो मकान, जमीन, फ्लैट नहीं खरीद पाते हैं।
4. किसानों को नुकसान नोटबंदी होने से लोगों के पास पैसा बिल्कुल भी नहीं होता है इसलिए वह सब्जियां भी नहीं खरीद पाते हैं। किसानों को मजबूरन अपने सब्जियों के दाम कम करने पड़ते हैं और उन्हें बहुत नुकसान उठाना होता है। सब्जियों के दाम 50 प्रतिषत से 60 प्रतिषत कम हो जाते है। बहुत से लोग पूरे दिन लाइनों में खड़े होकर अपनी बारी का इंतजार करते रहते थे। बहुत से लोगों को सदमा लग गया और वे मर गए। अनेक लड़के लड़कियों की शादी सिर्फ इस वजह से टूट गई क्यूँकि उनके पास नकदी नहीं थी।[3]

बहुत से लोग अस्पताल में अपना इलाज नहीं करवा सके क्योंकि उनके पास वैध नकदी नहीं थी। जो पुराने नोट उनके पास थे वे अवैध घोषित हो चुके थे और अस्पताल वालों ने उसे लेने से मना कर दिया था। इस तरह नोटबंदी में बहुत से लोगों की जान चली गई।

निष्कर्ष-

रिजर्व बैंक की वर्ष 2019-20 की वार्षिक रिपोर्ट की मानें तो विमुद्रीकरण के बाद के वर्ष में जब्त किये गए अधिकांश नोटों में 100 रुपए मूल्यवर्ग की संख्या सबसे अधिक है। वर्ष 2019-20 में 1.7 लाख नकली नोट, वर्ष 2018-19 में 2. 2 लाख नकली नोट और वर्ष 2017-18 में 2.4 लाख नकली नोट जब्त किये गए थे।

रिपोर्ट में कहा गया है कि वित्त वर्ष 2018-19 की तुलना में वर्ष 2019-20 में 10,50,200 और 500 रुपए मूल्यवर्ग में जब्त किये गए नकली नोटों की संख्या में क्रमशः 144.6 प्रतिशत, 28.7 प्रतिशत, 151.2 प्रतिशत और 37.5 प्रतिशत की वृद्धि हुई थी।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची:-

1. योजना पत्रिका जनवरी 2019
2. कुरूक्षेत्र पत्रिका मार्च 2018
3. दैनिक समाचार पत्र

यजमानी ब्राह्मणों के बीच स्वार्थ संघर्ष और विभेदन

पूजा सिंह

शोध-छात्रा (इतिहास) बी.आर. अम्बेदकर बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर

प्रो० रेणु कुमारी

विभागाध्यक्ष, विश्वविद्यालय इतिहास विभाग, बी.आर. अम्बेदकर बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर

सारांश

भारतीय समाज की पारंपरिक संरचना में 'यजमानी व्यवस्था' एक महत्वपूर्ण सामाजिक-आर्थिक संस्था के रूप में विद्यमान रही है। यह व्यवस्था केवल आर्थिक लेन-देन तक सीमित नहीं थी, बल्कि सामाजिक संबंधों, धार्मिक कर्तव्यों तथा सांस्कृतिक परंपराओं से भी गहराई से जुड़ी हुई थी। यजमानी व्यवस्था में ब्राह्मणों की भूमिका अत्यंत केंद्रीय थी, क्योंकि वे धार्मिक अनुष्ठानों, संस्कारों तथा वैदिक कर्मकाण्डों के प्रमुख संचालक माने जाते थे। परंतु समय के साथ-साथ यजमानी अधिकारों, धार्मिक प्रतिष्ठा तथा आर्थिक संसाधनों पर नियंत्रण को लेकर ब्राह्मणों के विभिन्न समूहों के बीच स्वार्थ संघर्ष उत्पन्न होने लगे।

कुंजी शब्दः पारंपरिक धार्मिक संस्थाएँ, आर्थिक हित, सामाजिक प्रतिष्ठा, सांस्कृतिक वर्चस्व, धार्मिक संरक्षण।

भूमिका

यजमानी व्यवस्था का प्रमुख आधार आर्थिक लाभ था। धार्मिक कर्मकाण्डों से प्राप्त दक्षिणा, अनाज तथा अन्य उपहार ब्राह्मणों की आजीविका का महत्वपूर्ण साधन थे। आधुनिकता, नगरीकरण तथा शिक्षा के विस्तार के साथ पारंपरिक यजमानी व्यवस्था कमजोर होने लगी। ब्राह्मण समाज के भीतर भी उपजातीय विभाजन मौजूद थे। प्रत्येक उपजाति स्वयं को श्रेष्ठ सिद्ध करने का प्रयास करती थी। अधिक यजमान प्राप्त करना सामाजिक वर्चस्व का प्रतीक माना जाता था।

कई बार विभिन्न ब्राह्मण समूह एक-दूसरे की धार्मिक वैधता पर प्रश्न उठाते थे। कुछ समूह स्वयं को अधिक 'शुद्ध' या 'वैदिक' सिद्ध करने का प्रयास करते थे। कुछ क्षेत्रों में ब्राह्मणों को दानस्वरूप भूमि प्राप्त होती थी। इससे वे आर्थिक रूप से भी शक्तिशाली बन जाते थे। भूमि, मंदिरों और धार्मिक संस्थानों पर नियंत्रण को लेकर भी संघर्ष देखने को मिलता है।

स्मृतियों और पुराणों में बहुत सारे उदाहरण उपलब्ध है जिससे यह स्पष्ट होता है कि यजमानी ब्राह्मणों के विभिन्न वर्गों में शत्रुता की भावना बढ़ती जा रही थी। यह संघर्ष उपहार-विनिमय, या दान लेने-देने में छिपा था। इस प्रथा से संबंधित सामाजिक अर्थव्यवस्था में कई परिवर्तन हुए जिनके फलस्वरूप दान में मिलने वाली वस्तुओं का वितरण अब कम से कम फायदेमंद था। उदाहरण के लिए, गृह्यसूत्रों के निर्माण से पहले कबीलाई समाज में यज्ञ का सबसे महत्वपूर्ण स्थान था। वह उनके जीवन का एक प्रमुख हिस्सा था। उल्लेखनीय है कि रचनाकाल के आसपास, गृह्यसूत्रों पर बाजार-आधारित सामाजिक अर्थव्यवस्था का प्रभाव पड़ा, इसलिए यज्ञकर्म के लिए अपेक्षित बहुत अधिक तामझाम के प्रति गृहस्थ यजमानों का आकर्षण पहले की अपेक्षा कम हो गया। यज्ञकर्मों में कमी आने से पुरोहितों की दक्षिणा बहुत गिर गई। इसकी क्षतिपूर्ति के लिए कई नवीनतम ग्रह्यसंस्कार बनाए गए। इन संस्कारों के फलस्वरूप नगरवासी गृहस्थ यजमानों की ओर से पुनः यजमानी ब्राह्मणों को दान-दक्षिणा मिलने लगी और इस प्रकार यजमान-पुरोहितों के बीच संरक्षक-संरक्षित की परंपरा नए रूप में चलती रही। तीसरी शताब्दी में नगरों का टूटना फिर से शुरू हुआ, जिससे नगरवासी गृहस्थ यजमानों की कमी हो गई, जिससे यजमानी ब्राह्मणों के जीवन निर्वाह के लिए आवश्यक साधन न थे। जब इन अपर्याप्त साधनों को भरने की फिर से आवश्यकता महसूस हुई। दान संबंधी कई नए अनुष्ठानों का जन्म हुआ।[1]

यजमानी ब्राहणों के बीच शुरू हुए स्वार्थ-संघर्ष के ऐतिहासिक संदर्भ को समझने के लिए हमें अपात्रीकरण के सिद्धांत और परवर्ती 'नरक की यातना की अवधारणा' पर विचार करना होगा। अपात्रीकरण के सिद्धांत को पहली बार ग्रह्यसूत्र साहित्य में देखा गया था। इस सिद्धांत का मुख्य उद्देश्य था ब्राह्मणों द्वारा पारंपरिक अनुष्ठान संपादित करते समय मिलने वाले उपहारों में हिस्सा बंटाने वाले प्रतिद्वंद्वी साथियों को अवैध ठहराना। ब्राह्मण-पुरोहितों के बीच उपहार वितरण के दायरे के सिकुड़ जाने से उत्पन्न आर्थिक कष्ट को दूर करने के लिए अपात्रीकरण का सिद्धांत एक सचेतन सामाजिकीकरण का प्रयास था। संबंधित ब्राह्मण वर्गों को अपात्र ठहराने का कारण यह था कि वे अपने जीवन में कुछ ऐसे घृणित कार्यों को कर चुके थे जिसके संपर्क में आने से वे अपवित्र हो गए थे। यह आश्चर्यजनक है कि ये काम अनिवार्य थे, लेकिन ब्राह्मणों के लिए वर्जित थे, जैसे उत्पादन, वितरण और प्रशासनिक प्रबंध व्यवस्था।[2]

गृह्यसूत्रों और मनुस्मृति में अपपात्रता संबंधी कर्मों की सूची देखें तो स्पष्ट है कि कोई यजमानी ब्राह्मण अपने यजमानों के लिए विहित यज्ञकर्मों और संस्कार संबंधी अनुष्ठानों को छोड़कर जीविकोपार्जन के लिए कोई अन्य कर्म करता था तो उन्हें अपात्र घोषित कर दिया जाता था। वैसे ब्राह्मण जिन्हें अपात्र घोषित कर दिया गया था वे या तो राज सेवा में या किसी व्यवसायी संघ में नियुक्त हो गए थे या वाणिज्य, खनन और विनिर्माण क्षेत्रों को अपने पेशे के रूप में अपनाया था। इनके अलावा, ज्योतिषी या चिकित्सा कार्य करने वाले, शूद्रों, ग्रामीणों, स्त्रियों और अपधर्मी या विधर्मी संप्रदायों में पौरोहित्य कार्य करने वाले भी अपपात्र थे। मनुस्मृति में अपात्र ब्राह्मणों की सबसे लंबी और विधिवत सूची दी गई है। इस सूची में उन सभी ब्राह्मणों को शामिल किया गया है जिन्होंने या तो अपने जीविकोपार्जन के लिए पौरोहित्य कार्यों को अपनाया था या जो निंदनीय प्रकृति वाले पौरोहित्य कार्यों से जुड़े हुए थे। गृह्यसूत्रों में भी अपात्र ब्राह्मणों की सूचियां दी गई हैं, लेकिन मनुस्मृति वाली सूची में दिखाई देने वाले सामाजिक पूर्वाग्रहों का कोई अंश इन गृह्यसूत्रों में दिखाई नहीं देता है। मनुस्मृति वाली सूची में ग्रामयाजी, शूद्रयाजीय, लोकयाजी, देवलक (मंदिरों में देव प्रतिमाओं की पूजा करने वाले पुजारी), भिषकशास्त्रोपजीवी (चिकित्सक), नक्षत्रपाठक (ज्योतिषी), वेदविक्रयिन (पैसे लेकर वेद पढ़ाने वाले), राजाओं और व्यापार संघों में नौकरी करने वाले, दुकानदार, मांस विक्रेता, कुसीदिक (सूदखोर), गोपाल मनुस्मृति में अपात्र कर्मों की इतनी लंबी सूची है कि परवर्ती ग्रंथों में ऐसा नहीं है। अलग बात यह है कि इन परवर्ती ग्रंथों में अपात्र कर्मों की कुछ अतिरिक्त श्रेणियां भी शामिल थीं जो मनुस्मति के काल तक सम्मिलित कर्मों को भर्त्सना लायक नहीं मानते थे।[3]

अपात्रता की प्रक्रिया का एक रोचक पक्ष यह है कि इसी प्रक्रिया से जुड़कर नरकों की कल्पना की गई और उनकी यातनाओं के भागीदार इन्हीं अपात्रों को माना गया। तीसरी सदी के पश्चात् रचित पुराणों में नए-नए नरकों की संख्या और उनकी यातनाओं का वर्णन किया गया। गृह्यसूत्रों में जहाँ यह कहा गया है कि अपातकों ब्राह्मणों को श्राद्ध भोज के लिए निमंत्रित करने पर नैवेद्य पूर्वजों तक नहीं पहुंच सकता, उपरोक्तं पुराणों में अपातकों की कहानी को और विस्तार देते हुए कहा गया है कि वे असली अपवित्र हैं और मृत्यु के उपरांत नरक में कठोर यातनाएं भोगनी होंगी।[4]

अवधारणात्मक दृष्टि से अवैधता अथवा अपात्रता की इस प्रक्रिया का एक महत्वपूर्ण पहलू यह है कि इसके साथ नरक की कल्पनाओं का भी विकास हुआ तथा इन अपात्र व्यक्तियों को उन यातनाओं का अधिकारी माना गया। तृतीय शताब्दी के पश्चात् विभिन्न प्रकार के नरकों की कल्पनाएँ तथा उनमें निहित यातनाओं का वर्णन प्रत्येक पुराण का एक विशिष्ट अंग बन गया। गृहसूत्रों में अपात्र व्यक्तियों के संदर्भ में केवल इतना उल्लेख मिलता है कि ऐसे व्यक्तियों को श्राद्ध-भोजन के लिए आमंत्रित करने पर वे देव-पूजन तक नहीं पहुँच पातेय किन्तु पुराणों में इस अवधारणा का विस्तार करते हुए यह प्रतिपादित किया गया कि ऐसे व्यक्तियों को मृत्यु के पश्चात् नरक-यातनाओं का भोग करना पड़ता है।

विष्णुपुराण के एक श्लोक में यज्ञ के स्थान पर तपस्या को प्रमुखता दिए जाने का उल्लेख मिलता है। इस ग्रंथ में पुरोहितों द्वारा यज्ञकर्म के क्षय के लिए स्वयं उनकी प्रवृत्तियों को उत्तरदायी ठहराया गया है। इस प्रकार यह स्पष्ट किया गया है कि उनकी प्रमुखता में आई कमी का मूल कारण उनकी ही कार्यप्रणाली थी। परंपरागत यज्ञकर्म के स्थान पर तपस्या के धार्मिक महत्व को सभी आरंभिक पुराणों में स्वीकार किया गया है। कूर्मपुराण में तो यहाँ तक कहा गया है कि कलियुग में केवल ब्राह्मण ही अपने जीवन-निर्वाह हेतु वैदिक यज्ञकर्म का अनुष्ठान करेंगे। चूँकि कूर्मपुराण की रचना पाँचवीं से आठवीं शताब्दी के मध्य मानी जाती है, अत: इसमें तत्कालीन सामाजिक यथार्थ का यथार्थपरक चित्रण परिलक्षित होता है।[5]

इसके विपरीत, आरंभिक पुराणों में तपस्या को यज्ञकर्म के स्थान पर स्थापित करने की प्रवृत्ति केवल उच्चवर्गीय ब्राह्मणों के व्यवहारिक दृष्टिकोण का एक सांकेतिक उल्लेख मात्र प्रतीत होती है। वस्तुत: ब्राह्मणों के मध्य उत्पन्न हो रहे व्यावसायिक संकट ने परंपरागत ब्राह्मण समुदाय को विभिन्न वर्गों में विभाजित करने की प्रक्रिया को जन्म दिया। जो पुरोहित अधिक कठोर धार्मिक आचारों का पालन करने में असमर्थ थे, उन्होंने परंपरा से विमुख होकर विविध नवीन व्यवसायों को अपनाना प्रारंभ किया। ऐसे ब्राह्मणों की संख्या अपेक्षाकृत अधिक थी, जो अल्पसंख्यक होते हुए भी अपने को वैदिक यज्ञकर्म से पृथक रखना चाहते थे और कालांतर में 'स्मार्त' कहलाने लगे।[6]

इन स्मार्तों ने प्राचीन संस्कारप्रधान कर्मकांडों से प्राप्त होने वाले पारिश्रमिक के स्थान पर नवीन दानप्रधान अनुष्ठानों को स्वीकार नहीं किया, अपितु वे लोकप्रचलित पूजा-पद्धतियों से जुड़ गए। परंपरा से विचलित होकर ग्राम्य, लोकायत अथवा देवालय-आधारित धार्मिक गतिविधियों में संलग्न होने वाले ब्राह्मणों की स्मार्तों द्वारा आलोचना की गई। सभी पुराणों में इस प्रकार के आलोचनात्मक कथनों की प्रचुरता इस तथ्य की ओर संकेत करती है कि आरंभिक मध्यकालीन स्मार्तों ने अपनी आवश्यकताओं एवं सुविधाओं के अनुरूप इन ग्रंथों की रचना या संपादन किया।[7]

जिन ब्राह्मणों ने लोकप्रचलित पूजा-पद्धतियों में सक्रिय भागीदारी प्रारंभ की अथवा जो द्विजेतर जातियों के सलाहकार अथवा पुरोहित के रूप में कार्य करने लगे, उनकी सामाजिक प्रतिष्ठा में गिरावट आई। यह स्थिति पुरोहित वर्गों के मध्य विद्यमान दीर्घकालीन द्वेष और प्रतिस्पर्धा का द्योतक है। मंदिरों की आय पर आश्रित पुजारियोंकृजिन्हें उस समय 'देवलक' कहा जाता थाकृका एक पृथक वर्ग अस्तित्व में आया। गृह्यसूत्रों अथवा प्राचीन साहित्य में इस वर्ग का उल्लेख नहीं मिलता, किंतु मनुस्मृति तथा पुराणों में इनके अपमानजनक संदर्भ मिलते हैं।

यह प्रश्न महत्वपूर्ण है कि देवालयों के पुजारी, जो प्रत्यक्षत: धार्मिक गतिविधियों से जुड़े थे, उन्हें निम्नतर सामाजिक स्थिति क्यों प्राप्त हुई। इसका उत्तर मंदिर-निर्माण की प्रक्रिया में निहित है। पाँचवीं शताब्दी से मंदिरों के निर्माण में तीव्र वृद्धि हुई, और स्थापत्यकला से युक्त भव्य मंदिरों का विकास प्रारंभ हुआ। इसके साथ ही मंदिरों को भूमि-दान तथा अन्य आर्थिक संसाधनों की प्राप्ति भी होने लगी। परिणामस्वरूप, मंदिर-आधारित पुजारियों का महत्व बढ़ा और वे आर्थिक दृष्टि से सशक्त होते गए।

प्रारंभिक मध्यकाल में जब मंदिरों के पुजारी यजमानों को प्राप्त होने वाले उपहारों के वास्तविक दावेदार बनने लगे, तब वैदिक शिक्षित ब्राह्मणों और लोकपूजा से जुड़े ब्राह्मणों के मध्य संघर्ष तीव्र रूप में उभरकर सामने आया। वैदिक परंपरा के अनुयायी ब्राह्मण स्वयं को श्रेष्ठ मानते थे, जबकि लोकपूजा पद्धतियों से जुड़े ब्राह्मणों ने भी वैकल्पिक धार्मिक मार्ग अपनाकर अपनी स्वतंत्र पहचान निर्मित करने का प्रयास किया। उन्होंने बौद्धिक मठों के समान संस्थाएँ स्थापित कीं तथा अपनी विशिष्ट पूजा-पद्धतियों को दार्शनिक आधार प्रदान करने के उद्देश्य से ग्रंथों की रचना की।[8]

इस प्रकार, पुरोहित परिवारों ने धीरे-धीरे लगभग सभी बड़े सामंती राज्यों पर कब्जा कर लिया, और उनके प्रतिनिधि मठों और उनसे जुड़े मंदिरों के वास्तविक संरक्षक भी बन गए। उनकी देखरेख में कई नए मठ स्थापित हुए। अबलुर में मंदिरों और मठों को मिले दस बड़े भूमि अनुदानों में से सात अनंतपाल परिवार के सदस्यों द्वारा पंजीकृत किए गए थे।

अपनी उत्पत्ति और स्वरूप में, कालमुख संप्रदाय तमिलनाडु के नयनार संप्रदाय से मिलता-जुलता था। यद्यपि दोनों संप्रदायों के बीच लौकिक और स्थानिक दूरी काफी थी, फिर भी दोनों दक्षिण भारत में शैव आंदोलन के इतिहास में अलग-अलग चरणों का प्रतिनिधित्व करते हैं। दोनों संप्रदाय शैव मंदिरों में पूजा पद्धति और मठों में शैव सिद्धांतों के प्रचार के आधार पर उत्पन्न हुए। दोनों की स्थापना ब्राह्मणों ने की थी। दोनों संप्रदायों के अनुयायी रूढ़िवादी स्मार्त सिद्धांतों या विधर्मी जैन विचारों को बर्दाश्त नहीं करते थे, और दोनों ने भक्ति को अपने संप्रदायों का वैचारिक आधार बनाया। हालाँकि, उनके बीच मूलभूत अंतर यह था कि नयनार भक्ति संप्रदाय उन पेशेवर ईश्वर भक्तों के लिए समर्थन और सहायता जुटाने में लगा था जो जाति व्यवस्था के भीतर भाईचारे और सहयोग को बढ़ावा देने में विश्वास करते थे, जबकि कालमुखी और पाशुपत संप्रदाय जाति व्यवस्था की बेड़ियों को तोड़ने और भ्रातृत्वपूर्ण संगठन बनाने वाले पहले संप्रदाय थे। इन दोनों शैव संप्रदायों ने मठों में भूमि स्वामित्व का विस्तार करने और अतिरिक्त आवश्यकताओं का उत्पादन करने वाले श्रमिक वर्ग को अधिकाधिक अधीन बनाने में अत्यंत प्रभावी भूमिका निभाई।[9]

लोकजीवन की ओर उन्मुख इस नई यजमानी सेवा-पद्धति की एक प्रमुख विशेषता यह थी कि इसमें कीर्तन एवं गायन को विशेष महत्व प्रदान किया गया। भक्ति-आधारित इन संप्रदायों ने स्थानीय भाषाओं को भी प्रोत्साहित किया, जिससे उनका सामाजिक आधार अधिक व्यापक एवं सुदृढ़ हुआ तथा उनकी लोकप्रियता में उल्लेखनीय वृद्धि हुई। यह भी उल्लेखनीय है कि मंदिर-आधारित संप्रदायों का समर्थन करने वाले अधिकांश पुराणों की रचना इसी कालखंड में संपन्न हुई।

प्राचीन भारतीय समाज में ब्राह्मणों के मध्य मतभेदों के बढ़ने से पारस्परिक विश्वास की भावना क्रमशः क्षीण होने लगी। इसके परिणामस्वरूप परंपरागत पौरोहित्य कर्मों की प्रतिष्ठा में भी गिरावट आई। अनेक ब्राह्मणों ने याज्ञिक कर्मों से स्वयं को पृथक कर लिया तथा कुछ ने मंदिरों में पुजारी का कार्य ग्रहण कर लिया, जबकि अन्य ने वैकल्पिक व्यवसायों की ओर रुख किया। यद्यपि उस काल में वेदाध्ययन और अनुष्ठानिक क्रियाएँ अभी भी प्रचलित थीं, तथापि उनकी लोकप्रियता में निरंतर कमी दृष्टिगोचर होती है।[10]

इसी परिप्रेक्ष्य में कुछ ब्राह्मणों ने वैदिक कर्मकांड की आड़ लेकर स्वयं को उसका विशेष अधिकारी घोषित किया और विभिन्न प्रकार से आजीविका अर्जित करने लगे। परिणामस्वरूप पारंपरिक धार्मिक मान्यताओं में विचलन उत्पन्न हुआ तथा कापालिक, पाशुपत और पांचरात्र जैसे वैकल्पिक संप्रदायों के विकास को प्रोत्साहन मिला। साथ ही आयुर्वेद, ज्योतिष, भाषाविज्ञान, स्मृतिशास्त्र एवं हेतुवाद जैसी विद्याओं का भी प्रसार होने लगा।

प्राचीन यज्ञ-व्यवस्था तथा संस्कार-आधारित उपहार- विनिमय प्रणाली में आई अवनति के कारण पौरोहित्य व्यवस्था में विविधता का विकास हुआ। प्रारंभिक पुराणों में यह संकेत मिलता है कि आर्थिक कठिनाइयों से जूझ रहे ब्राह्मणों को परंपरागत वर्जित व्यवसाय अपनाने के लिए बाध्य होना पड़ा। इस स्थिति को अनुचित न मानते हुए यह तर्क प्रस्तुत किया गया कि जब जीविका के पारंपरिक साधन उपलब्ध न हों, तब वैकल्पिक उपाय स्वीकार्य हैं।[11]

फलतः वेदाध्ययन की परंपरा भी प्रभावित हुई और यज्ञ-संबंधी क्रियाओं में कमी आने लगी। इस परिवर्तनशील स्थिति को कई पुराणकारों ने 'कलियुग' के आगमन का संकेत माना। उनके अनुसार, राजा और प्रजा दोनों ही यज्ञों से विमुख हो चुके थे, जिससे धार्मिक संरचना में व्यापक परिवर्तन दृष्टिगोचर हुआ। इस प्रक्रिया में कुछ ब्राह्मणों ने वैदिक परंपराओं का परित्याग कर दिया।

आर्थिक दृष्टि से भी ब्राह्मणों की स्थिति में परिवर्तन हुआ। पारंपरिक आजीविका के साधनों के लुप्त होने तथा परिवार के आकार में वृद्धि के कारण उन्हें दान पर अधिक निर्भर होना पड़ा। पुराणों में स्पष्ट रूप से उल्लेख मिलता है कि दान उन्हीं ब्राह्मणों को दिया जाना चाहिए जो अपने आश्रितों का पालन-पोषण करते हैं। कूर्मपुराण एवं वाराहपुराण में ऐसे दरिद्र एवं वृत्तिहीन ब्राह्मणों का उल्लेख मिलता है, जो अपने कर्तव्यों के निर्वहन हेतु संघर्षरत थे।[12]

दान-प्रथा को इस प्रकार महिमामंडित किया गया कि उसे अनंत पुण्य का स्रोत बताया गया। यहाँ तक कहा गया कि जो व्यक्ति वेदज्ञ, श्रौतिय अथवा अग्निहोत्री ब्राह्मणों को दान देता है, उसे मोक्ष की प्राप्ति होती है। इस संदर्भ में दानकर्ता की धार्मिक प्रतिष्ठा को भी विशेष महत्व प्रदान किया गया।[13]

कूर्मपुराण के अनुसार, बड़े परिवार वाले ब्राह्मणों को जीविका हेतु कृषि, वाणिज्य एवं शिल्प जैसे कार्य अपनाने की अनुमति दी गई, यद्यपि इन्हें परंपरागत रूप से वर्जित माना जाता था। साथ ही यह भी कहा गया कि यदि ब्राह्मण अपनी आय का एक भाग दान में अर्पित करे, तो वह पाप से मुक्त हो सकता है। इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि उस समय ब्राह्मण समुदाय के कुछ वर्ग कृषि कार्य में संलग्न थे, चाहे वह स्वयं खेती करते हों या मजदूरों के माध्यम से।[14]

ब्राह्मणों द्वारा अपने-अपने संप्रदायगत स्वार्थों, परंपराओं एवं मान्यताओं को केंद्र में रखकर विचार करना स्वाभाविक था, अतः इसमें आश्चर्य का कोई कारण नहीं है। किंतु आश्चर्य इस तथ्य पर होता है कि समकालीन शास्त्रीय एवं धार्मिक विमर्शों में प्रतिद्वंद्वी ब्राह्मणों के प्रति कठोर और कभी-कभी अमानवीय दृष्टिकोण अपनाया गया। पाप, प्रतिलोम कर्म तथा नरक संबंधी अवधारणाओं के माध्यम से एक प्रकार की दंडात्मक चेतना का निर्माण किया गया। विशेषतः श्रौत ब्राह्मणों की चिंता का विषय यह था कि देवालय-केन्द्रित संप्रदायों एवं पुजारियों की निरंतर बढ़ती लोकप्रियता उनके सामाजिक एवं धार्मिक वर्चस्व के लिए चुनौती बन रही थी। इसीलिए यह चेतावनी दी गई कि देवालयों की सेवा करने वाले व्यक्ति को परलोक में दुष्परिणाम भुगतने होंगे और उसे बार-बार निम्न योनि में जन्म लेना पड़ेगा।[15]

निष्कर्ष

यदि मध्यकालीन पुराणों के स्मृति-संबंधी अध्यायों को छोड़कर अन्य अंशों का अवलोकन किया जाए, तो स्पष्ट होता है कि ये ग्रंथ तत्कालीन ऐतिहासिक विकास के साथ समन्वय स्थापित करते हुए आगे बढ़ रहे थे। इन ग्रंथों में उस समय की सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक प्रवृत्तियों का सजीव एवं यथार्थ

चित्रण मिलता है। उस समय देवालय-केन्द्रित संप्रदायों में उपहार वितरण की संगठित पद्धति विकसित हो चुकी थी। बाद में श्रौत ब्राह्मणों ने यह प्रयास किया कि वे अपने वैदिक कर्मकांडों एवं धार्मिक विधियों को लोकप्रचलित मंदिर-आधारित व्यवस्था के अनुरूप ढाल सकें।

पुराणों में मंदिरों के निर्माण, देवप्रतिमाओं की प्रतिष्ठा तथा पूजा-अर्चना से संबंधित विधियों का विस्तृत वर्णन मिलता है। यहाँ 'मंदिर' शब्द का प्रयोग केवल देवालय के लिए ही नहीं, बल्कि उससे जुड़े विविध स्थापत्य अंगों-जैसे शिखर, गर्भगृह, मंडप, प्रदक्षिणा-पथ तथा नाट्यशाला के समग्र रूप में किया गया है। इन मंदिरों के साथ श्रौत ब्राह्मणों का संबंध इस तथ्य से स्पष्ट होता है कि मंदिर-सेवा के लिए ऋग्वेदी, यजुर्वेदी एवं सामवेदी ब्राह्मणों की नियुक्ति की जाने लगी। इसके साथ ही वैदिक विधि-विधान को भी मंदिर-पूजा में समाहित किया गया।

देवालयों में 'देवकुल' की अवधारणा का उदय देवप्रतिमा-केन्द्रित पूजा-पद्धति में एक महत्वपूर्ण परिवर्तन का द्योतक है। प्राचीन काल (विशेषत: ईसा पूर्व की प्रारंभिक शताब्दियों) में पारिवारिक पूजा-अर्चना हेतु निजी मंदिरों की स्थापना की जाती थी, जिनमें पुरोहितों का कार्य वैदिक शिक्षा प्राप्त ब्राह्मणों के अधिकार क्षेत्र में होता था। किंतु चौथी शताब्दी के पश्चात सार्वजनिक मंदिरों की स्थापना में वृद्धि हुई, जिससे पूजा-अर्चना का दायित्व ऐसे ब्राह्मणों के हाथों में चला गया जो वैदिक परंपरा से भिन्न नवीन धार्मिक विचारों से प्रभावित थे।

मंदिरों के निर्माण तथा मंदिर-आधारित संप्रदायों के विकास को प्रारंभिक मध्यकाल की एक प्रमुख विशेषता माना जा सकता है। इस धारणा का आधार यह है कि तीसरी से पाँचवीं शताब्दी के बीच रचित अनेक पुराणों में मंदिर-व्यवस्था एवं देवप्रतिमा-पूजा के विस्तृत उल्लेख मिलते हैं। उदाहरणत: मत्स्यपुराण में अनेक अध्याय देवप्रतिमाओं के निर्माण, स्थापना एवं पूजन-विधियों के लिए समर्पित हैं।

गृहस्थ पूजा-पद्धति से जुड़े पुरोहितों के लिए 'मूर्ति-पमाचार्य' जैसे विशिष्ट पदों का प्रयोग किया गया, जबकि सार्वजनिक मंदिरों के पुजारियों को 'देवकुल' कहा गया। यद्यपि दोनों ही वर्ग देवपूजा से संबंधित थे, तथापि सामाजिक दृष्टि से इनके बीच पर्याप्त अंतर विद्यमान था। इन दोनों वर्गों के मध्य धार्मिक अधिकारों को लेकर निरंतर संघर्ष चलता रहा।

इस प्रकार, पूजा-पद्धतियों के इन दो भिन्न रूपों के मध्य संघर्ष केवल श्रौत ब्राह्मणों और देवालय-पुजारियों तक सीमित नहीं रहा, बल्कि यह व्यापक सामाजिक स्तर पर भी प्रभाव डालने लगा। जैसे-जैसे मंदिर-आधारित संप्रदायों का विस्तार हुआ, वैसे-वैसे इन संप्रदायों के बीच वैचारिक मतभेद और संघर्ष तीव्र होते गए। परिणामस्वरूप, यह विवाद कभी-कभी हिंसात्मक रूप भी ग्रहण करने लगा और धार्मिक जीवन में असहिष्णुता की प्रवृत्ति बढ़ने लगी।

सन्दर्भ सूची:

1. आर.एन. नंदी, 'सम सोशल एस्पेक्ट्स ऑफ दि गृह्यसूत्राज', प्रोसिडिंग्ज ऑफ दि इंडियन हिस्टरी कांग्रेस, 38वां सत्र, भुवनेश्वर, 1977.
2. रमेंद्रनाथ नंदी, प्राचीन भारत में धर्म के सामाजिक आधार, ग्रंथ शिल्पी, नई दिल्ली, 2008.
3. उपरोक्त.
4. विष्णुपुराण, खंड 6, अध्याय 1, श्लोक 48-8.
5. आर.एन. नंदी, ग्रोथ ऑफ रूरल इकोनॉमी इन अर्ली फ्युडल इंडिया, अध्यक्षीय अभिभाषण (प्राचीन भारत संबंधी सत्र), इंडियन हिस्टरी कांग्रेस का 45वां सत्र, अन्नामलै नगर, दिसंबर 1984, पृ. 72.
6. उपरोक्त, पृ. 73.
7. सी.वी.एन. अय्यर, ओरिजिन एंड अर्ली हिस्टरी ऑफ शैविज्म इन साउथ इंडिया, मद्रास, 1936, पृ. 260-61.
8. उपरोक्त, पृ. 263.
9. आर.एन. नंदी, रिलीजियस इस्टीट्यूशंस एंड कल्ट्स इन दि डेक्कन, दिल्ली, 1973, पृ. 96-101.
10. डेविड लोरंजन, दि काप्रालिकाज एंड कालामृखाज, दिल्ली, 1972.
11. आर.एन. नंदी, ग्रोथ ऑफ रूरल इकोनॉमी इन अर्ली फ्युडल इंडिया, पूर्वोद्धत, पृ. 2-50.
12. वायुपुराण, अध्याय 58, 67.
13. मत्स्यपुराण, अध्याय 144, श्लोक 71.
14. आर.एस. शर्मा, इंडियन फ्युडलिज्य: 300-1200 ई., कलकत्ता, 1965.
15. उपरोक्त, पृ. 5-20.

डिजिटल भारत में चुनावी सुधारः एक अध्ययन

कुमारी प्रियंका शास्त्री

शोध छात्रा, राजनीति विज्ञान विज्ञान विभाग, ल.ना.मि.वि.वि., दरभंगा

डॉ० शैलेन्द्र श्रीवास्तव

शोध निर्देशक, स्नातकोत्तर, राजनीति विज्ञान विभाग, सी0 एम0 कॉलेज, दरभंगा

प्राचीन गौरवशाली परम्पराओं, सांस्कृतिक धरोहरों से परिपूर्ण एवं विविधता में एकता की भावना को पूर्णरूपेण अभिव्यक्त करता भारतवर्ष विश्व का सबसे बड़ा लोकतान्त्रिक देश है। लोकतान्त्रिक देश की मुख्य विशेषता स्वतन्त्र एवं निष्पक्ष निर्वाचन प्रणाली है। निष्पक्ष निर्वाचन प्रणाली के अन्तर्गत लोकतन्त्र के जीवन्त स्वरूप को स्पष्टतः देखा जा सकता है। लोकतन्त्र को अधिक परिपक्व एवं सुदृढ बनाने हेतु देश की राजनीतिक, सामाजिक एवं प्रशासनिक व्यवस्था में वृहद् परिवर्तन वर्तमान समय की महत्वपूर्ण माँग है। राजनीतिक व्यवस्था में सुधार हेतु निर्वाचन व्यवस्था में परिवर्तन एक अहम् विषय है।

भारत में प्रथम लोकसभा के निर्वाचन से लेकर वर्तमान में सत्रहवीं लोकसभा के निर्वाचन तक निर्वाचन व्यवस्था में समय-समय पर अनेक परिवर्तन किए गए हैं। चुनाव सुधारों के क्रम में निर्णयों का महत्वपूर्ण योगदान है। यद्यपि निर्वाचन व्यवस्था में सुधार किए गए हैं एवं विभिन्न नवाचारों यथा-ईवीएम मशीन का प्रयोग, नोट विकल्प की उपस्थिति, वीवीपेट को भी चुनाव में प्रयोग किया गया है, तथापि इस सन्दर्भ में अधिक ठोस सुधारों की दशा में 'वर्क इन प्रोग्रेस' के काल्पनिक आवरण से बाहर निकलकर व्यवहारिक एवं क्रियात्मक समाधान प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।

वस्तुतः चुनाव लोकतन्त्र की जीवन्त शक्ति एवं राष्ट्रीय चरित्र का प्रतिबिम्ब है। लोकतन्त्र में स्वस्थ मूल्यों को बनाए रखने के लिए चुनाव प्रणाली की पारदर्शिता एवं शुद्धता अत्यन्त आवश्यक है। किन्तु वर्तमान समय में चुनावी राजनीति में स्वार्थपूर्ण तत्वों का समावेश हो गया है। चुनाव के समय प्रत्येक राजनीतिक दल अपने स्वार्थ की बात सोचता है तथा येन केन प्रकारेण अधिक से अधिक मत प्राप्त करने के प्रयास करता है, इसी कारण बूथ कैप्चरिंग एवं अवैध मतदान जैसी घटनाओं का जन्म होता है। अयोग्य एवं भ्रष्टाचार में संलग्न व्यक्ति भी चुनाव में विजयी होता है तथा राजनीतिक पद का दुरूपयोग करता है। जिसके परिणामस्वरूप राजनीतिक अस्थिरता की स्थिति उत्पन्न होती है, जो कहीं न कहीं लोकतान्त्रिक मूल्यों के पतन को दर्शाती है। निर्वाचन प्रणाली की दूषित प्रवृति के कारण ही 'हार्स ट्रेडिंग' जैसे शब्द प्रचलित हुए हैं। देश के विभिन्न राज्यों यथा-कर्नाटक, मध्यप्रदेश, राजस्थान के राजनीतिक घटनाक्रमों ने राजनीतिक उठापठक की स्थिति उत्पन्न की है। बढ़ती सामाजिक-आर्थिक असमानता, धनबल, राजनीति का अपराधीकरण, विभाजनकारी राजनीति आदि ऐसे कारक हैं जिसके कारण नागरिको एवं राजनीतिक वर्ग के बीच स्वस्थ मतैक्य के अभाव को स्पष्टतः देखा जा सकता है। इन कारकों का अध्ययन करने पर यह ज्ञात होता है कि चुनाव सुधार वर्तमान में अत्यन्त ही आवश्यक एवं महत्वपूर्ण प्रश्न बन गया है, जिस पर गम्भीर चिन्तन एवं मनन किया जाना चाहिए।

चुनाव सुधार की आवश्यकता हेतु उत्तरदायी कारक प्रत्येक निर्वाचन को मतदाता की राजनीतिक, आर्थिक, शैक्षिक स्थिति अवश्य प्रभावित करती है, इसके आधार पर ही निर्वाचन की परिशुद्धता प्रमाणित होती है। वर्तमान में निर्वाचन प्रणाली में व्याप्त दूषित कारकों के कारण चुनाव सुधार एक चिन्तन का विषय बनकर उभरा है। इन कारकों को निम्न प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है:-

धनबल की बढ़ती भूमिकाः चुनाव में धनबल की भूमिका भारत में चुनाव सुधार के प्रत्येक विचार विमर्श में सर्वमान्य प्रश्न बन गया है। राजनीतिक दलों के वित पोषण की उचित व्यवस्था नहीं होने से चुनाव में अत्यधिक धन व्यय किया जाता है। राजनीतिक दलों को वित पोषण के सन्दर्भ में सबसे प्रमुख समस्या उन्हें मिले चन्दे का स्त्रोत का अस्पष्ट ओर अनाधिकृत होना है, जिसका वैधानिक स्तर पर पता नहीं लगाया जा सकता और इसी वजह से उनका ऑडिट नहीं हो सकता। किन्तु निवार्चन आयोग द्वारा समय-समय पर चुनावी व्यय की सीमा निर्धारित की गई है। निर्वाचन लड़ने के लिए व्यक्ति को काफी मात्रा में धन की आवश्यकता होती है। व्यय विहित सीमा निरर्थक है और प्रायः कभी इसका पालन नहीं किया जाता। यह राजनीतिक क्षेत्र में भ्रष्टाचार की काफी मात्रा में विवशता भी उत्पन्न करता है। इसने क्रमशः पूरी प्रणाली को ही दूषित कर दिया है। धन शक्ति वस्तुतः निर्वाचन के सम्पूर्ण क्षेत्र को नियन्त्रित करती है और लोग ऐसे भ्रष्ट तत्व के साथ हो जाते हैं जो येन-केन-प्रकारेण संसद सदस्य या राज्य विधानमण्डल के सदस्य की प्रस्थिति पाना चाहते हैं। धनबल की भूमिका को स्पष्ट करते हुए संविधान की कार्यशैली की समीक्षा करने वाले राष्ट्रीय आयोग ने वर्ष 2001 में कहा था कि - "धन के लिए चुनावी मजबूरियाँ भ्रष्टाचार की ईमारत की नींव बन जाती है"।

भ्रामक समाचार का प्रकाशनः मीडिया द्वारा राजनीतिक दलों के समाचारों के प्रकाशन एवं प्रसारण के लिए मूल्य माँगना चिन्ताजनक विषय है, यह लोकतन्त्र के चौथे स्तम्भ की छवि को नकारात्मक रूप में प्रस्तुत करता है। इस सन्दर्भ में वर्ष 2012 में पीपल फॉर नेशन संस्था द्वारा आयोजित राष्ट्रीय संगोष्ठी में पूर्व निर्वाचन आयुक्त एच. एस. ब्रह्मा ने इसे लोकतन्त्र के लिए घातक बताया। उन्होंने कहा कि वर्ष 1991 के बाद से इस सम्बन्ध में मुद्रित एवं इलेक्ट्रानिक मीडिया के विरूद्ध पंजाब, उत्तरप्रदेश चुनाव पर सैकड़ों याचिकाएँ मिली है, जो बहुत ही दुःख की बात है।

जाति आधारित राजनीतिः देश के निर्वाचनों में प्रारम्भ से ही जाति एवं सम्प्रदाय निर्णायक भूमिका निभाते है, जो कि अत्यन्त ही चिन्ता का विषय है। जब राजनीतिक दल चुनाव के लिए उम्मीदवारों के नाम तय करता है तो चुनाव क्षेत्र के मतदाताओं की जातियों को ध्यान में रखता है ताकि उन्हें चुनाव जीतने के लिए जरूरी मत मिल जाए। राजनीतिक दल और उम्मीदवार समर्थन प्राप्त करने के लिए जातिगत भावनाओं को उकसाते हैं। कुछ दलों को जातियों के मददगार एवं प्रतिनिधि के रूप में देखा जाता है। राजनीति में जाति पर जोर देने के कारण कई बार यह धारणा बन जाती है कि चुनाव जातियों का खेल है।

राजनीति में बढ़ता मोहभंगः देश की राजनीतिक व्यवस्था से जनता का तेजी से मोहभंग हो रहा है। चुनावी निर्णयों का उनके लिए कोई महत्व नहीं रह गया है। इसके कारण वे लगातार पैसे के ताकत के बढ़ते कुचक्र, मतदान में अनियमितताओं और भ्रष्टाचार के साक्षी बन रहे हैं। मत पाने के लिए दलों के लुभावने तथ्यों को जनता बड़ी आसानी से स्वीकार कर लेती है। इसने चुनावों को एक बड़े आयोजन में बदल दिया है और राजनीति व्यापार कारोबार में परिवर्तित हो गई है। इसने चुनावी व्यय की समस्या को बढ़ा है।

चुनाव में सरकारी मशीनरी का दुरूपयोगः चुनाव में शासक दल द्वारा सरकारी मशीनरी का दुरूपयोग एक सामान्य बात है। दलीय लाभों के लिए प्रशासनिक तन्त्र के दुरूपयोग के विरूद्ध विपक्षी दल आवाज उठाते हैं किन्तु जब विपक्षी दल सता में हो तब वे भी इस दोष से मुक्त नहीं हो पाते हैं। इनका मूल उदेश्य चुनाव में अधिक से अधिक मत प्राप्त करना होता है। सरकारी मशीनरी के दुरूपयोग से देश के नैतिक एवं आर्थिक मूल्यों का ह्रास होता है।

निर्वाचन अधिकारियों पर अनुचित दबाव- निर्वाचन अधिकारियों पर अनुचित रूप से राजनीतिक एवं अन्य प्रकार के दबाव डाले जाते हैं, जिसके परिणामस्वरूप इन्हें अनेक प्रकार की समस्याओं का सामना करना पडता है। दबाव के कारण वे अपना कार्य निष्पक्ष रूप से सम्पन्न नहीं करवा पाते है। यही कारण है कि प्रत्येक चुनाव चाहे वह लोकसभा चुनाव हो या विधानसभा चुनाव, इनमें निर्वाचन की वैधता एवं परिशुद्धता पर सवालिया निशान लगाए जाते हैं।

मतदाता सूचियों की अपूर्णताः निर्वाचन प्रणाली की एक मुख्य समस्या यह है कि चुनावों के समय विशेषकर मध्यावधि चुनावों के समय मतदाता सूचिया प्रायः अपूर्ण रहती है। इनमें गलतियाँ भी पाई जाती है, परिणामस्वरूप अनेक नागरिक अपने मताधिकार का प्रयोग करने से वंचित रह जाते हैं। चुनाव क्षेत्रों में कई बार ऐसा परिवर्तन कर दिया जाता है जो शासक दल के अनूकूल होता है।

निर्दलीय उम्मीदवारों की बहुलताः भारतीय चुनाव व्यवस्था की गम्भीर समस्या निर्दलीय उम्मीदवारों की है। निर्दलीय उम्मीदवारों की अधिक संख्या के कारण मतपत्र बहुत लम्बे बनाने पड़ते हैं। मतदान पेटियाँ बड़ी एवं अधिक संख्या में तैयार करनी पडती है, जिससे व्यर्थ में निर्वाचन व्यय बढ़ता है। साथ ही उम्मीदवार को कुछ राजनीतिक दल द्वारा अपने हित में खड़ा भी किया जाता है, जिससे चुनावी प्रक्रिया प्रभावित होती है।

मतदाता में शिक्षा का अभावः भारतीय निर्वाचन व्यवस्था की सबसे बड़ी समस्या मतदाता में शिक्षा का अभाव है। मतदाता शिक्षा के अभाव में अपने मत का सही उपयोग नहीं कर पाता तथा कभी-कभी अपना मत बेचने को भी तैयार हो जाता है, जिसके परिणामस्वरूप अयोग्य, अप्रशिक्षित एवं अनुभवहीन उम्मीदवार राजनीति में अपना स्थान बनाने के स्वार्थपूर्ण उद्देश्य में सफल हो जाते हैं।

अदृश्य होती महिला मतदाताः निर्वाचन व्यवस्था में सर्वाधिक चिन्ताजनक विषय यह है कि 18 वर्ष की आयु होने और मतदान करने की योग्यता के बावजूद भारत की करोड़ों महिलाएँ मत देने के लिए पंजीकृत नहीं है। 2011 की जनगणना यह बताती है कि वर्ष 2019 तक भारत में 18 वर्ष या उससे अधिक आयु की महिलाओं की कुल संख्या पुरूषों की कुल संख्या का 97.2 प्रतिशत होगी, परिणामस्वरूप इस बात की मात्र उम्मीद की जा सकती है कि देश में कुल महिला मतदाताओं की संख्या कुल पुरूष मतदाताओं की तुलना में इसी अनुपात में होगी, या कम से कम इस आँकड़े के आसपास ही होगी, किन्तु वर्ष 2019 के लिए निर्वाचन आयोग का आँकड़ा बताता है कि पुरूष मतदाताओं की तुलना में महिला मतदाताओं की संख्या महज 92.7 प्रतिशत ही है।

इस प्रकार अतीत की जनगणनाओं और निर्वाचन आयोग के आँकड़ों से यह स्पष्ट है कि महिलाओं का आनुपातिक रूप से कम प्रतिनिधित्व चुनाव दर चुनाव, दशक दर दशक होता गया है। महिला मतदाताओं का नाम मतदाता सूची से अदृश्य होने की सबसे आश्चर्यजनक घटना 2014 के लोकसभा चुनाव में सामने आई जब 2 करोड़ 34 लाख महिलाओं को मताधिकार से वंचित होना पड़ा।

चुनाव सुधार हेतु किए गए प्रयासः

वर्तमान समय में निर्वाचन व्यवस्था से सम्बन्धित समस्याएँ विद्यमान है, किन्तु ऐसा नहीं कहा जा सकता है कि इनके निराकरण हेतु प्रयास नहीं किए जा रहे हैं। देश की निर्वाचन व्यवस्था में शनैः शनैः अनेक परिवर्तन किए गए हैं जिसके परिणाम स्वरूप लोकतन्त्र के आचार एवं नीति नियमों में शुद्धता का समावेश हुआ है। निर्वाचन व्यवस्था में सुधार के सन्दर्भ में निर्वाचन आयोग, उच्चतम न्यायालय, संसद, विधि आयोग, विभिन्न संस्थाओं का महत्वपूर्ण योगदान है।

चुनाव सुधार हेतु निर्वाचन आयोग के प्रयास निर्वाचन आयोग द्वारा लोकसभा के प्रथम चुनाव के समय से ही निर्वाचन व्यवस्था को सुदृढ़ बनाने हेतु प्रयास किए गए हैं। सर्वाधिक महत्वपूर्ण सुधार मतदाता पहचान पत्र जारी करना माना जा सकता है। मतदाता के मत की अभिव्यक्ति के सशक्त माध्यम के रूप में पूर्व मुख्य चुनाव आयुक्त टी एन शेषन के कार्यकाल के समय भारतीय मतदाता पहचान पत्र को प्रथम बार वर्ष 1993 में प्रस्तुत किया गया था। भारतीय मतदाता पहचान पत्र भारत के वयस्क मतदाताओं के लिए भारत निर्वाचन आयोग द्वारा दिया गया पहचान का प्रमाण है। प्रारम्भ में चुनाव मतपत्र के माध्यम से करवाए जाते थे। उस समय अगर मतदाता किसी भी उम्मीदवार के पक्ष में अपना मत नहीं देना चाहता था तो उसके लिए विशेष प्रकार की व्यवस्था की गई थी।

मतदाताओं की सुविधा को ध्यान में रखते हुए भारत निर्वाचन आयोग द्वारा 25 जनवरी 2021 को राष्ट्रीय मतदाता दिवस पर मतदाताओं को 'ई-इपिक' की सुविधा प्रदान की गई है। यह मतदाता पहचान पत्र को डिजिटल प्रारूप में प्राप्त करने का वैकल्पिक और त्वरित माध्यम है। इसे मोबाईल या कम्प्युटर के माध्यम से डाउनलोड कर प्रिंट निकाला जा सकता है। निश्चित रूप से यह प्रयास चुनाव सुधारों के क्रम में डिजिटल क्रान्ति लाने में सहायक सिद्ध होगा। निर्वाचन आयोग ने निर्वाचन प्रक्रिया में लैंगिक समानता और महिलाओं की अधिक रचनात्मक भागीदारी हेतु साधारण निर्वाचन के समय प्रत्येक विधानसभा

क्षेत्र में महिलाओं द्वारा पूर्णरूपेण संचालित मतदान केन्द्र को स्थापित करने के निर्देश दिए हैं। इन केन्द्रों पर समस्त मतदान कर्मचारी, जिसमें पुलिस एवं सुरक्षा कार्मिक शामिल हैं, महिलाएँ होगी। इस महिलाओं द्वारा पूर्णरूपेण संचालित मतदान केन्द्रों का नाम 'सखी मतदान केन्द्र' दिया गया है। निर्वाचन आयोग ने मतदाता जागरूकता हेतू एक वेब रेडियो 'हैलो वोटर्स' प्रारम्भ किया है, यह देश भर से हिन्दी, अंग्रेजी और क्षेत्रीय भाषाओं में गीत, नाटक, चर्चा, निर्वाचन की कहानियों आदि के माध्यम से निर्वाचकीय प्रक्रियाओं के सम्बन्ध में शिक्षा एवं जानकारी प्रदान करता है। इसके अतिरिक्त आयोग द्वारा मतदाता शिक्षा को मजेदार एवं प्रेरणादायक बनाने के लिए एक कॉमिक पुस्तक- 'चलो करे मतदान' भी प्रकाशित की गई है।

इसके अलावे मतदाता शिक्षा, मतदाता जागरूकता का प्रसार करने एवं मतदाता साक्षरता को बढ़ावा देने के लिए आयोग द्वारा 'स्वीप पोर्टल' लांच किया गया है, इसे 'सुव्यवस्थित मतदाता शिक्षा एवं मतदाता सहभागिता कार्यक्रम' के नाम से जाना जाता है। डिजिटल भारत के इस युग में चुनावी प्रक्रिया को अधिक पारदर्शी, समावेशी और कुशल बनाने के लिए तकनीक का व्यापक उपयोग किया जा रहा है। भारत निर्वाचन आयोग (ECI) द्वारा प्रस्तावित और लागू किए गए डिजिटल सुधार के मुख्य कारक निम्न हैं:

ईवीएम (EVM) और वीवीपीएटी (VVPAT): मतदान प्रक्रिया को कागजी मतपत्रों से मुक्त कर इलेक्ट्रॉनिक वोटिंग मशीनों (EVM) में बदला गया है। चुनाव की विश्वसनीयता बढ़ाने के लिए VVPAT मशीनों का उपयोग किया जाता है, जो मतदाता को उनके द्वारा डाले गए वोट की भौतिक पुष्टि प्रदान करती हैं।

ई-इपिक (e-EPIC): अब मतदाता अपना फोटो पहचान पत्र (Voter ID) डिजिटल रूप में डाउनलोड कर सकते हैं, जिससे भौतिक कार्ड खो जाने की समस्या खत्म हो गई है। मतदाता पंजीकरण और पोर्टल: NVSP पोर्टल और 'Voter Helpline App' के माध्यम से मतदाता पंजीकरण, सुधार और स्थानांतरण की प्रक्रिया को पूरी तरह से डिजिटल बना दिया गया है।

सी-विजिल (cVIGIL) ऐप: चुनावी आचार संहिता के उल्लंघन की रिपोर्ट करने के लिए नागरिकों के पास एक शक्तिशाली डिजिटल टूल है, जिससे रीयल-टाइम निगरानी संभव हुई है।

केवाईसी (KYC) ऐप: 'Know Your Candidate' ऐप के माध्यम से मतदाता अपने उम्मीदवारों की आपराधिक पृष्ठभूमि और संपत्ति का विवरण देख सकते हैं।

डिजिटल माध्यम से पारदर्शिता और दक्षता के लिए कई प्रयास किए हैं, जो निम्न हैं:

डेटा एनालिटिक्स: फर्जी मतदान रोकने और मतदाता सूचियों के शुद्धिकरण (Purification) के लिए एआई (AI) और डेटा एनालिटिक्स का उपयोग किया जा रहा है।

परिणामों का त्वरित प्रकाशन: डिजिटल इंफ्रास्ट्रक्चर के कारण चुनाव परिणामों की गणना और घोषणा अब अधिक तेजी से और सटीक रूप से की जाती है।

चुनौतियां और भविष्य की राह

निश्चय ही तकनीकी प्रगति के बावजूद, डिजिटल सुधारों के सामने कुछ चुनौतियां भी हैं, जो निम्न हैं:

साइबर सुरक्षा और गलत सूचना: हैकिंग का डर और सोशल मीडिया पर फैलने वाली 'फेक न्यूज' चुनावों की निष्पक्षता के लिए खतरा बनी हुई हैं।

डिजिटल साक्षरता: ग्रामीण क्षेत्रों में डिजिटल उपकरणों के उपयोग के प्रति समझ की कमी एक बड़ी बाधा है।

रिमोट वोटिंग: भविष्य में रिमोट वोटिंग और ब्लॉकचेन तकनीक जैसी नई प्रणालियों पर विचार किया जा रहा है ताकि प्रवासी मतदाता भी अपने स्थान से मतदान कर सकें।

अत: भारत में, सोशल मीडिया पॉलिटिकल कैंपेन और कम्युनिकेशन के लिए एक असरदार जरिया बन गया है। पॉलिटिकल पार्टियां और कैंडिडेट Facebook और Twitter जैसी सोशल मीडिया साइट्स के जरिए वोटर्स से सीधे बात कर सकते हैं, अपने विचार फैला सकते हैं और पब्लिक की राय बदल सकते हैं। क्योंकि सोशल मीडिया रियल-टाइम कम्युनिकेशन को आसान बनाता है, इसलिए पॉलिटिकल लीडर पब्लिक के सवालों और चिंताओं का जवाब दे सकते हैं। लेकिन चुनावों में सोशल मीडिया की भूमिका ने फेक न्यूज, गलत जानकारी और टारगेटेड पॉलिटिकल एडवर्टाइजमेंट के बढ़ने को लेकर चिंताएं पैदा की हैं। इन समस्याओं को हल करने के लिए, चुनाव आयोग ने ऐसे नियम प्रस्तावित किए हैं जो पॉलिटिकल एडवर्टाइजमेंट के लिए प्री-अप्रूवल जरूरी बनाते हैं और ऑनलाइन एडवर्टाइजिंग में खुलेपन को बढ़ावा देते हैं। डिजिटल प्लेटफॉर्म की सुरक्षा पक्का करना बहुत जरूरी है क्योंकि वे पॉलिटिकल प्रोसेस में तेजी से इंटीग्रेट हो रहे हैं। साइबर अटैक, हैकिंग की कोशिशों और डेटा ब्रीच में बढ़ोतरी से चुनाव की ईमानदारी को गंभीर खतरा है। इलेक्शन कमीशन ने इलेक्शन इंफ्रास्ट्रक्चर की सुरक्षा के लिए मजबूत साइबर सिक्योरिटी सेफगार्ड्स लगाए हैं, जिसमें बार-बार ऑडिट, सिक्योरिटी प्रोसीजर और इलेक्शन ऑफिशियल ट्रेनिंग शामिल हैं।

इसके अलावा, यह पक्का करना भी जरूरी है कि वोटर डेटा सुरक्षित रहे। डिजिटल रूप से रखे जाने वाले वोटर डेटा की मात्रा के साथ डेटा ब्रीच की संभावना बढ़ जाती है। चुनाव आयोग ने इन चिंताओं को दूर करने के लिए कई कदम उठाए हैं, प्राइवेट डेटा की सुरक्षा के लिए सरकारी ऑर्गनाइजेशन और साइबर सिक्योरिटी स्पेशलिस्ट के साथ मिलकर काम किया है। रिमोट वोटिंग और ब्लॉकचेन जैसे भविष्य के डेवलपमेंट में भारत के चुनाव के तरीकों को पूरी तरह से बदलने की क्षमता है। ब्लॉकचेन टेक्नोलॉजी का इस्तेमाल करके वोट सुरक्षित और ट्रांसपेरेंट तरीके से रिकॉर्ड किए जा सकते हैं, जो यह भी पक्का करता है कि सबमिट होने के बाद वोट बदले नहीं जा सकते। ब्लॉकचेन-बेस्ड वोटिंग सिस्टम की जांच की जा रही है क्योंकि वे चुनावी धोखाधड़ी के खिलाफ ज्यादा मजबूत सुरक्षा दे सकते हैं। इसके अलावा, रिमोट वोटिंग के तरीकों को आसान बनाने वाले सुरक्षित डिजिटल प्लेटफॉर्म में वोटर टर्नआउट बढ़ाने की

क्षमता है, खासकर नॉन-रेसिडेंट इंडियंस (NRIs), दूर के इलाकों में रहने वाले लोगों और दिव्यांग लोगों के बीच। भले ही इन टेक्नोलॉजी को अच्छी तरह से टेस्ट करने की जरूरत है, लेकिन वे भविष्य में सुरक्षित और सबको साथ लेकर चलने वाले चुनावों की उम्मीद जगाती हैं।

निष्कर्ष

निश्चय ही टेक्नोलॉजी ने प्रोसेस की एक्सेसिबिलिटी, एफिशिएंसी और ट्रांसपेरेंसी को बढ़ाकर भारत के चुनाव सुधारों में क्रांति ला दी है। EVM, डिजिटल वोटर रजिस्ट्रेशन, स्मार्टफोन ऐप्स और डेटा एनालिटिक्स के आने से वोटर पार्टिसिपेशन बढ़ा है और इलेक्शन प्रोसेस और भी एफिशिएंट हो गया है। लेकिन गलत जानकारी, डिजिटल अनपढ़ता और साइबर सिक्योरिटी रिस्क जैसे मुद्दे अभी भी बड़ी चिंता का विषय बने हुए हैं। अत: अपने डेमोक्रेटिक प्रोसेस की इंटीग्रिटी बनाए रखने के लिए, भारत को नई टेक्नोलॉजी एडवांसमेंट को अपनाते हुए इन मुद्दों से निपटने में सावधान रहना चाहिए। ब्लॉकचेन टेक्नोलॉजी, आर्टिफिशियल इंटेलिजेंस और रिमोट वोटिंग में भविष्य में इलेक्शन सिस्टम को और भी बेहतर बनाने की बहुत ज्यादा क्षमता है, जिससे भारत में फ्री, फेयर और लेजीटिमेट इलेक्शन की गारंटी मिलती है। सच तो यह है कि टेक्नोलॉजी अभी भी भारत के डेमोक्रेटिक प्रोसेस को मजबूत करने, सभी वोटर्स के लिए इलेक्शन की लेजीटिमेसी और इनक्लूसिविटी बढ़ाने में एक बड़ा फैक्टर है।

अत: स्पष्ट है कि वर्तमान में निर्वाचन व्यवस्था में तीव्रगति सुधार हेतु अथक प्रयास किए जा रहे हैं। चुनाव सुधारों की सही दिशा में क्रियान्विति हेतु सभी सहभागियों चाहे वे राजनीतिक दल हो, राजनीतिक कुलीन वर्ग हों, विधिक एवं औपचारिक संस्थाएँ हों, सबको नए उत्साह के साथ आगे बढ़ना चाहिए। प्रशासनिक तन्त्र को पूर्णत: सकारात्मक ऊर्जा, ईमानदारी एवं लगन के साथ निर्वाचन कार्यक्रमों के सफल संचालन के लिए योजनाएँ निर्मित करनी चाहिए, साथ ही भारत के प्रत्येक नागरिक को अपने मत का प्रयोग अनिवार्यत: एवं विवेकयुक्त होकर करना चाहिए तथा लोकतन्त्र के इस महापर्व में अवश्य अपनी भागीदारी निभानी चाहिए, जिससे कि निष्पक्ष एवं पारदर्शी रूप से चुनाव सम्पन्न हो एवं राजनीतिक अस्थिरता से बचा जा सके। जिसके परिणामस्वरूप मजबूत एवं ईमानदार छवि वाली संसद का निर्माण हो, जो देश को निरन्तर प्रगति के पथ पर ले जाए और हमारा भारत देश विश्व पटल पर पुन: विश्वगुरू की भूमिका निभाएँ।

संदर्भ सूची

1. मनोज अग्रवाल "चुनाव सुधार: सुशासन की ओर एक कदम'' प्रभात प्रकाशन, 4/19 आसफ अली रोड, नई दिल्ली-110002 प्रथम संस्करण 2015 पृष्ठ संख्या 118, 131
2. प्रॉनॉय रॉय, दोराब सोपारीवाला, "भारतीय जनादेश: चुनावों का विश्लेषण,'' पेंगुइन बुक्स, पेंगुइन रैंडम हाउस इण्डिया प्राइवेट लिमिटेड पृष्ठ संख्या 50
3. https://eci.gov.in/ecimain/currentelection/17032011A.pdf
4. नवीन चावला, एवरी वोट काउंट्स, हार्पर कॉलिन्स पब्लिशर्स, इण्डिया पृष्ठ संख्या 178
5. https://eci.gov.in
6. www.adrindia.org
7. www.allindiareportey
8. Indiankanoon.org
9. www.india.gov.in
10. https://pib/.gov.in
11. Election Commission of India (2020). Annual Report on Electoral Reforms and Technological Advancements.
12. Election Commission of India. (2021). "Technological Innovations in Electoral Process." Retrieved from https://eci.gov.in/.
13. Khanna, P. (2018). The Politics of Electoral Reform in India. New Delhi: Oxford University Press.
14. Roy, S. (2018). "Elections and Democracy in India: The Role of Technology." Journal of Political Studies , 15(2), 113-130.
15. Sharma, A., & Mishra, R. (2020). "Social Media and Indian Elections: Impacts on Voter Behavior and Political Communication." Journal of Media Studies, 8(3), 225-240.
16. Jain, P. (2021). "Blockchain Technology in Electoral Systems: A Case Study of India." International Journal of Digital Governance, 4(1), 30-45

पंचायती राज और ग्रामीण महिला सशक्तीकरण

डॉ० कमलेश कुमार

पीएचडी, ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय, दरभंगा

सारांश

सुशासन तब तक सफल नहीं हो सकता है जब तक आदि आबादी को समुचित प्रतिनिधित्व नहीं प्राप्त हो जाता है इस दिशा में पंचायती राज व्यवस्था कारगर और सार्थक भूमिका अदा कर सकती है महिला सशक्तिकरण में पंचायती राज की विशेष भूमिका है क्योंकि इसके माध्यम से सामाजिक एवं संस्थागत स्तर पर बदलाव आया है तथा राजनीतिक सशक्तीकरण के माध्यम से सामाजिक सशक्तिकरण लाने का प्रयास किया जा रहा है महिला सशक्तिकरण की दृष्टि से पंचायती राज मिल का पत्थर साबित हो रहा है।

महिला सशक्तिकरण का अभिप्राय महिलाओं को पुरुषों के बराबर वैधानिक राजनितिक मानसिक सामाजिक और आर्थिक क्षेत्रों में निर्णय की स्वतंत्रता से है। उनमें इस प्रकार की क्षमता का विकास करना जिससे वह अपने जीवन का निर्माण इच्छानुसार कर सके एवं उनके अन्दर आत्मविश्वास और स्वाभिमान जागृत हो। महिला सशक्तिकरण एक बहुयामी एवम सतत चलने वाली प्रक्रिया है। इसका उद्देश्य एक न्यायपूर्ण एवं सम-समाज की स्थापना करना है, क्योंकि लैंगिक समता को सुशासन की कुंजी कहा जाता है। सुशासन तब तक सफल नहीं हो सकता है जब तक आधी आबादी को समुचित प्रतिनिधित्व नहीं प्राप्त हो जाता है। इश दिशा मे पंचायती राज व्यवस्था कारगर और सार्थक भूमिका अदा कर सकती है। महिला सशक्तिकरण मै पंचायती राज की विशेष भूमिका है क्योंकि इश्के माध्यम से सामाजिक सशक्तिकरण लाने का प्रयास किया जा रहा है। महिला सशक्तिकरण की दृष्टि से पंचायती राज मील का पत्थर साबित होरहा है। कई अध्यता इसे नारीवादी क्रान्ति का नाम देते है क्योंकि इसका परिप्रेक्ष्य बहुत व्यापक है।

देश की आजादी के बाद संविधान निर्माता और राष्ट्रीय नेताओं ने महिलाओं को पुरुषों के समान स्थान दे दिया बाद में की सभी सरकारों ने महिलाओं को आर्थिक राजनीति और सामाजिक क्षेत्र में समान दर्जा देने के लिए कई उपाय किए जिससे उनको अपनी प्रतिमा दर्शाने तथा राष्ट्रीय गतिविधियों में सहभागिता के लिए अवसर प्राप्त हुए केंद्र और विभिन्न राज्य सरकारों द्वारा चलाई जा रही विभिन्न योजनाओं ने महिलाओं की भी मुक्ति की दिशा में बहुत कुछ किया है लेकिन आज भी स्त्री शोषण एवं विभेदीकृत असमानताओं की शिकार है प्रधानमंत्री ने महिला जनप्रतिनिधियों को संबोधित करते हुए महिला नेतृत्व से युक्त विकास के महत्व पर बल देते हुए कहा कि राष्ट्र हमेशा ही महिलाओं में सशक्त होता आया है। उन्होंने महिला विकास की सोच से आगे बढ़कर महिलाओं के नेतृत्व में विकास के लिए सोचने की अपील की। महिला सशक्तिकरण का उद्देश्य एक न्यायपूर्ण एवं सम-समाज की स्थापना करना है क्योंकि लैंगिक समानता को सुशासन की कुंजी कहा जाता है। स्पष्ट है कि सभी समस्याओं को असमानता में अंतर निहित है एक समाज अपने स्वभाव और प्रकृति में प्रीत्सातामक है। जैसा की सीमांत जी बुआ ने अपनी पुस्तक दस सेकंड सेक्स में लिखा है कि "अब तक औरत के बारे में पुरुषों ने जो कुछ लिखा है इस पर शक किया जाना चाहिए क्योंकि लिखने वाला न्यायाधीश और अपराधी दोनों है इसलिए महिलाओं के साथ व्यवहार में समानता और देश के विकास में उनकी पूरी सहभागिता के लिए आवश्यक कदम उठाना चाहिए।" किसी भी राष्ट्र की परंपरा और संस्कृति उसे राष्ट्र की महिलाओं में परिलक्षित होती है किंतु महिलाओं के पोषण एवं उनके अधिकारों को लेकर हमारे देश में बहुत काम नहीं हुआ है लिंग भेद और माता के कुपोषण को समाप्त करने के लिए अभी बहुत कुछ किया जाना है यह मूल रूप से अस्थि समस्या है हमारे यहां माता के कुपोषण की घटनाएं इस कदर व्यापक है कि गर्भ में पल रहे शिशु कुपोषण के शिकार हो जाते हैं महिला संस्कृतिकरण एवं महत्वपूर्ण सामाजिक घातक है जिसको समझने के लिए हमें अपने राजनीतिक सामाजिक आर्थिक एवं पारिवारिक ढांचे सहित उसके बहुयामी प्रभावों पर चिंतन करना होगा जिनमें असमानता गहरे रूप से विद्यमान है यहां तक राजनीतिक संरचना का प्रश्न है कि महिलाएं आज विश्व मतदाताओं का आधा हिस्सा बन चुकी है लेकिन इसमें से सिर्फ 18 फीसदी सांसद है नॉर्डिक देशों में 41% अमेरिकी विश्व में 21.8% तथा यूरोपीय देश में 19.1 पॉइंट एक प्रतिशत उपसहरा अफ्रीका देश में 17.2 प्रतिशत प्रशांत क्षेत्र के देशों में 13.13 प्रतिशत अरब देशों में 9.6% अब भारत के संदर्भ में राष्ट्रीय विधायको के आज में भागीदारी के मामले में यह आंकड़ा मात्र 11.8% अधिकतर राज्य में आंकड़ा और भी काम है देश में कुल 4118 विधानसभा सदस्यों में से 9% महिलाएं हैं।

चुनिदा देशो की संसद मे महिलायों का प्रतिनिधित्व

रवांडा	61.3
मैक्सिको	42.6
द. अफ्रीका	42.0
इथोपिया	38.8

जर्मनी	37..0
ग्रेट ब्रिटेन	30.0
नेपाल	29.6
फिलिपिन्स	29.5
सिंगापुर	23.8
चीन	23.7
पाकिस्तान	20.6
बांग्लादेश	20.3
इण्डोनेशिया	19.8
सं. राज्य अमेरिका	19.1
रूस	15.8
मिस्र	14.9
भारत	11.8
ब्राजील	10.7
मलेशिया	10.4
जापान	9.3

स्रोत: इंडियन पार्लियामेंट और एवं वूमेन द्वारा प्रकाशित रिपोर्ट वूमेन एंड पार्लियामेंट 2017

एक तरफ तो भारत में महिला राष्ट्रपति और महिला प्रधानमंत्री के रूप में जाने-मानी महिलाएं हुई है तथा राष्ट्रीय तथा राजस्व स्रोत पर बड़े राजनीतिक दलों की प्रमुख महिलाएं हैं लेकिन इसके मौजूद मानव विकास रिपोर्ट 2015 के अनुसार लैंगिक असमानता सूचकांक में 188 देश में भारत 130 वे स्थान पर है तथा भारत में महिलाओं का मानव विकास सूचकांक मूल्य 2014 में 0.525 है जो दक्षिण एशिया में पाकिस्तान को छोड़कर सबसे कम है भारत के संदर्भ में बालिकाओं का औसत स्कूलिंग बालकों की तुलना में 3.6 वर्ष कमतर है जो भारत के सांस्कृतिक संदर्भ में महिलाओं के क्षेत्र पिछड़ेपन को दर्शाता है वर्तमान संस्कृत परिपेक्ष में या आवश्यक है कि भारत की बढ़ती जनसंख्या में महिलाओं के बड़े अनुपात के साथ लगी असमानता संबंधी मुद्दों का समाधान किया जाए जनगणना 2011 में एक महत्वपूर्ण निष्कर्ष निकलता है कि देश में स्त्रियों पुरुष का अनुपात असंतुलित है इससे भी चिंता की बात है इस दुनिया से 6 वर्ष की आयु तक के बच्चों में भी लड़कियों के मुकाबले लड़कों की संख्या ज्यादा है और भारत में लड़कों की तुलना में लड़कियों की जन्मदर सापेक्षताएं पूरी दुनिया में सबसे कम है इस दशक में शिशु लिंगानुपात में कमी आई है जनगणना 2001 में शिशु लिंगानुपात 927 था जो 2011 में घटकर द्वारा 914 हो गया है निराश करने वाला तथ्य है जहां तक आर्थिक ढांचे का प्रश्न है महिलाएं अभी भी आज तक के सक्सेस के कारण और वित्तीय समावेशन की परिधि से बाहर है भारतीय प्रशासनिक सेवा में महिलाओं की भागीदारी सिर्फ 11% है किंतु खेद जनक है यह की नियोजित ढंग से महिलाओं को निचले स्तर पर नरम जी बना दिया दी जाती है नई दिल्ली में 99 सचिव स्तरीय पदों में केवल आठ पद संख्याओं के पास है और 65 अतरिक्त सचिवों में से केवल चार महिला है दूसरे तरह से संयुक्त सचिवों में सिर्फ 37 महिला है भारतीय पुलिस सेवा में महिलाओं की भागीदारी सिर्फ 5.6% के आसपास है। वही भारतीय वन सेवा मै एवं इसकी भागीदारी नगर्येन्य हैप् राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण कार्यक्रम रिपोर्ट कौन सा है वेतन नई कार्य में महिलाओं की कुल संख्या पद्धति पर 15% है अर्थात 85% महिलाओं की नियत की निर्भरता के संरचना के रूप में निहित है इन घटकों का अवलोकन करने से यह तथ्य दृष्टिगत होता है कि महिलाएं आज भी वंचना की शिकार है इस योजना को दूर करने के लिए महिलाओं सशक्तिकरण का एक आवश्यक है महिलाओं को सशक्तिकरण समाज के निचले स्तर से होना चाहिए।

'संयुक्त राष्ट्र सहस्रवादी विकास लक्ष्य' एवं उसके स्थान पर 2015 में स्वीकृत नए 'सतत विकास लक्ष्य 2030 में भी लिंग समानता एवं नारी सशक्तिकरण के लक्ष्य को प्राप्त करने पर बल दिया गया है भारत महिलाओं के प्रति भेदभाव समाप्त करने और उनके अधिकारों के संरक्षण संबंधी संयुक्त राष्ट्र संधि का हस्ताक्षरकर्त होने के साथ-साथ महिलाओं की स्थिति पर संयुक्त राष्ट्र आर्थिक एवं सामाजिक परिषद की आयोग कमिशन ओं स्टेटस ऑफ वूमेन का भी सक्रिय सदस्य है।

भारत में महिलाओं को समान अधिकार प्रदान करने के लिए विभिन्न अंतरराष्ट्रीय अभिसमयो पर तथा मानव अधिकार तंत्र का समर्थन भी किया हैप। इनमें वर्ष 1993 में महिलाओं के साथ सभी प्रकार के भेदभाव के उन्मूलन पर कन्वेंशन अनुसंधान प्रमुख है भारत मेक्सिको कार्य योजना (1975) नैरोबी फॉरवर्ड लुकिंग स्ट्रेटजी (1985) बीजिंग घोषणा तथा कार्रवाई मंत्र (1995) और 21वीं शताब्दी में महिला पुरुष समानता विकास और शांति पर संयुक्त राष्ट्र महासभा क्षेत्र में उनके कार्य किए गए निष्कर्ष दस्तावेज का भी समर्थन है। लेकिन असमानता के खिलाफ सितंबर 2015 में संयुक्त राष्ट्र संघ के 69 में महासभा अधिवेशन द्वारा चलाए गए विश्व अभियान की पॉलिसी में भी भारत संबंधित हुआ महिला और बाल विकास मंत्रालय के विजन के अनुसार हिंसा और भेदभाव से मुक्ति वातावरण में सशक्त महिलाएं सम्मान से रहे और विकास में पुरुषों के समान भागीदारी निभा सके मंत्रालय का मिशन है कि विभिन्न क्षेत्र में संबंध नीतियों और कार्यक्रमों के लिए महिलाओं के सरकारों को मुख्य धारा से जोड़कर महिलाओं का अधिकारों के बारे में उनमें जागरूकता बढाकर या महिलाओं को अपने मानव अधिकार के लिए प्रेरित और संपूर्ण विकास के लिए संस्थागत और कानूनी समर्थन प्रदान करके महिलाओं के सामाजिक को आर्थिक सशक्तिकरण को बढ़ावा देना है।

चुनिंदा देशों की लैंगिक विकास सूचकांक

देश	लैगिंग विकास सूचकांक		मानव विकास सूचकांक		जीवन प्रत्याशा		स्कूल शिक्षा के प्रत्याशित वर्ष		स्कूली शिक्षा के वर्षो का औसत		प्रति व्यक्ति सकल राष्ट्रीय आय	
	2014		2014		2014		2014		2014		2014	
	मूल्य	समूह	महिला	पुरूष	महिला	पुरूष	महिला	पुरूष	महिला	पुरूष	महिला	पुरूष
श्रीलंका	0.948	3	0.730	0.769	78.2	71..5	14.2	13.3	10.7	10.9	5452	14307
चीन	0.943	3	0.705	0.747	77.3	74.3	13.2	12.9	6.9	8.2	10128	14795
भारत	0.795	5	0.525	0.660	69.5	66.6	11.3	11.8	3.6	7.2	2116	8656
बाग्लादेश	0.917	4	0.541	0.590	72.9	70.4	10.3	9.7	4.5	5.5	2278	4083
पाकिस्तान	0.726	5	0.436	0.601	67.2	65.3	7.0	8.5	3.1	6.2	1450	8100

स्रोत : मानव विकास रिपोर्ट 2015.

महिला सशक्तिकरण में पंचायती राज की भूमिका

महिला पुरुष समानता के सिद्धांत भारतीय संविधान में भी लिखित किया गया है भारतीय संविधान में महिलाओं के सशक्तिकरण और सुरक्षा हेतु कई प्रावधान है इनमें 73 में एवं 74वें संविधान संशोधन अधिनियम 1994 के द्वारा पंचायती राज संस्थाओं में महिलाओं को 33% आरक्षण का प्रदान किया गया है महिला सशक्तिकरण की दृष्टि से पंचायती राज दुर्गा में माता का साबित हुआ है कई अधिनियमित जैसे निर्मल मुखर्जी जॉर्ज मृत्यु और राजनीतिक उठा रही किसी क्रांति का नाम देते हैं क्योंकि इसका धारा बहुत ही व्यापक है राजनीतिक तंत्र में परिवर्तन क्या माध्यम बनी पंचायती राज की नई व्यवस्था जिसमें पंचायत की संवैधानिक मान्यता दी गई है उनके कार्य परिभाषित किया गया उनके संस्थाओं के शोषण निश्चित किए गए उन्हें भारतीय राज्य का तीसरा शास्त्र कहा जाता है यह संस्थाएं नागरिक समाज और सरकार के बीच कड़ी का काम करती है साथियों सुनिश्चित हुआ है कि तीनों स्तरों को पंचायत को कम से कम एक ऐसी तू और पदों पर महिलाएं होगी यदि आरक्षण मात्र महिला को दिया गया होता तो ज्यादातर सावन और संपन्न परिवारों की महिलाएं ही दिखाई देती इसलिए समान वर्ग में ही नहीं अनुसूची जातियों तथा अनुसूचित जनजातियों के लिए आरक्षित पदों पर इन वर्गों को एक बिहारी महिलाओं को आरक्षण प्रदान किया गया इस तरह पंचायत क्रांति को समाज के सभी वर्गों तक ले जाने की कोशिश हुई यह पंचायती राज व्यवस्था कर अवधारणा पर काम कर रही है।

- पहला – पंचायती राज के माध्यम से लोग राजनीति में ज्यादा प्रभावी भूमिका का निर्माण कर सके।
- दूसरा – स्थानीय समुदाय को परिवर्तन का वाहन बनाने और उनमें योजनागत चेतना फुकने से आर्थिक परिवर्तन तेजी से और समकक्षतापूर्वक होगा।
- तीसरा – पंचायत को शक्तियों का हस्तांतरण होने से सरकारी संस्थानों सामुदायिक विकास केदो योजना समितियां को एक नई समाज व्यवस्था एवं नागरिक समाज के यूनियन आने एक सरकारी समाज के लिए रास्ता साफ होगा।
- चौथा – आम जनता की ऐसे सामानवाहक अनुभव के आधार पर राजनीतिक संगठनों की एक ऐसी प्रणाली राष्ट्रीय एकता का बनेगी।

सचमुच भारत में पंचायती राज व्यवस्था की रचना प्राचीन इतिहास के प्रत्यक्ष लोकतंत्र की तर्ज पर की गई है हालांकि यह महत्वपूर्ण है कि प्राचीन भारत में ऐसा प्रत्येक लोकतंत्र था और पंचायती राज के सिद्धांत के लिए पंच परमेश्वर को प्राचीन परंपरा से प्रेरणा ग्रहण की गई है इसके पीछे स्थानीय स्वशासन। यह वसूल काम कर रहा है कि सरकार की निकली इकाई को सत्ता का अधिकतम हस्तांतरण और लोकप्रिय निर्वाचन से गठित स्थानीय संस्थाओं के जरिए स्वशासन या अध्यक्ष बुनियादी कर्म पर आधारित है राजनीति में प्रत्येक वर्ग की जनता की भागीदारी आर्थिक विकास के लिए संस्थाओं को झूठना लोकतंत्र बुनियादी संस्थाओं का समावेशन करना और राष्ट्रीय एकता की गारंटी पंचायत के द्वारा महिलाओं को प्राप्त राजनीतिक सशक्तीकरण की ही देन है कि पिछले 25 वर्ष में देश के भीतर राजनीतिक बहस में महिलाओं को उसे महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ है। राजनीतिक प्रक्रिया और राजनीतिक संस्थानों में महिलाओं की भागीदारी की गुणवत्ता में सुधार आया है आर्थिक तथा जीविका से जुड़े मुद्दों सामाजिक को संस्कृत निबंध में भी एस्ट्रोनॉमी महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा है साथी बुनियादी सुविधाओं का विस्तार अधिक हो सकेगा क्योंकि उनकी प्राथमिकता आवश्यकता इस तरह की है पंचायत में महिलाओं की भागीदारी से ग्रामीण विकास महिलाओं के विकास जैसे चिंतन का विकास हुआ और एक नई चेतना का सूत्रपात हुआ है उल्लेखनीय है कि पंचायती राज में महिलाओं की भागीदारी का प्रयोग देश के उन हिस्सों में ज्यादा सफल रहा जहां जहां पहले से ही स्त्रियों की स्थिति अपेक्षाकृत वेश बेहतर रही है अथवा जहां राजनीतिक दलों ने इस कार्यक्रम को अपना समर्थन दिया है लेकिन जहां स्थिति अनुकूल नहीं है या राजनीतिक दलों का सकारात्मक सहयोग नहीं मिला है वहां महिलाएं अपनी वाजिब अधिकार और आज से भी वंचित है पंचायत से चुने जाने के बाद भी महिलाएं अपनी क्षमताओं का परिचय ना दे सके इसके लिए कई अनौपचारिक उपाय अपना लिए गए हैं एक उपाय है उन्हें नाममात्र का प्रतिनिधि बना देना बहुत सी पंचायत में पुरुषों की महिला के नाम पर चुनाव लड़ते हैं वह अपनी पत्नी या किसी अन्य महिला अधिकार को उम्मीदवार बनते हैं उसके जीते जाने पर पंचायत में उन्हें प्रतिनिधि के रूप में सारा काम खुद करते हैं दूसरा उपाय अविश्वास प्रस्ताव कोई महिला सरपंच बहुत प्रभावशाली है आत्मविश्वास से संपन्न है तो उसके खिलाफ अविश्वास प्रस्ताव लाकर उसे पंचायत बेदखल कर दिया जाता है तीसरा दो बच्चों के नियम का सबसे ज्यादा नुकसान महिलाओं को भी उठाना पड़ा है सरपंच महिला को तय कर नहीं कर सकती है कि उसके तीसरा बच्चा होगा या नहीं या निर्णय उसका पति करता है प्लेकिन तीसरा बच्चा हो जाने पर सरपंच पद से हटाया जाता है उसकी पत्नी को।

इसलिए महिलाओं के संपूर्ण वास्तविक सशक्तिकरण के लिए आवश्यक है पंचायत सशक्तिकरण हो क्योंकि कमजोर पंचायती महिला को सशक्त नहीं कर सकती है इसलिए पंचायत की स्थिति को मजबूत करना आवश्यक है अधिकतर पंचायत के पास अपना कोई राजस्व नहीं है नीति निर्माण करने को प्रावधान नहीं है नया प्रशासन पुलिस प्रशासन के विकेट विकेंद्रीकरण का सर्वदा अभाव है इसलिए हमें पंचायती राज की विकास के वॉक के रूप में देखने की वजह विकास भूमि पंचायती राज विभाग के रूप में देखना चाहिए तभी वास्तविक सशक्तिकरण संभव हो सकेगा भारतीय महिलाएं भारत की आबादी का लगभग चार प्रतिशत हिस्सा है इसलिए जरूरी है कि सामाजिक आर्थिक माहौल में उसकी भागीदारी सुनिश्चित की जाए उन्हें सुरक्षा प्रदान की जाए इसके लिए आबादी के बड़े हिस्से को पृथक आत्मक सोच में बदलाव लाने का आवश्यक है और सरकार को उपयुक्त नीतियां अपना कर या बदलाव लाने में सक्रिय भूमिका निभानी होगी सरकार द्वारा 'बेटी बचाओ बेटी पढ़ाओ' 'सुकन्या समृद्धि योजना' 'महात्मा गांधी राष्ट्रीय रोजगार गारंटी' योजना महिलाओं के निश्चित भागीदारी अनिवार्य मातृत्व अवकाश नियम नियमावली इस दिशा में उठेगा महत्वपूर्ण कदम है।

स्वरोजगार उद्योगों के सूजन की भावना के संवर्धन के जरिए महिलाओं के आर्थिक सशक्तिकरण के लिए महिला उद्योग की आकांक्षाओं और आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए महिला की हार्ट नामक एक पहल शुरू की गई है जिसका उद्देश्य है महिला उद्यमियों स्वयं सहायता समूह द्वारा निर्मित उत्पादों के विवरण हेतु प्लेटफार्म उपलब्ध कराना महिलाओं की हितों की रक्षा उसकी सशक्तिकरण हमारा सामूहिक जिम्मेदारी है समझ में महिलाओं की निर्णय लेने संबंधित भूमिका के महत्व को स्वीकार करते हुए सभी नागरिकों के बीच अवसरों की क्षमता के साथ प्रगतिशील समाज क्या निर्णय करने के लिए महिलाओं के लिए तो सुविधाओं को सूचित करना महत्वपूर्ण हो जाता है इसलिए महिला सशक्तिकरण के लिए आवश्यक है पंचायत का सशक्तिकरण किसी भी राष्ट्र की परंपरा और संस्कृति उसे राष्ट्र की महिलाओं से परिलक्षित होती है क्योंकि महिलाएं समाज की रचना कर सकती होती है महिलाओं की स्थिति को सुधारना होगा इसके लिए समाज की मानसिकता बदलनी होगी एवं अपने रूढ़िवादिता का त्याग कर एक नई समावेशी विकासवादी रणनीति अपनानी होगी यहां पर स्वामी विवेकानंद की उसे मुक्ति को स्नान करना उपयुक्त होगा जब तक महिलाओं की स्थिति में सुधार में होगा विश्व के कल्याण की कोई संभावना नहीं है।

सदर्भ

1. योजना, प्रकाश नवि भाग सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार नई दिल्ली सितम्बर 2016 पृष्ठ 23
2. श्रजनी कोठारी, राजनीति की किताब, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2002 पृष्ठ 107
3. सीमोनदीबुआ, द सेकेण्ड सेक्सपिकाडोर, 1988
4. आर्थिक समीक्षा 2017-18 खण्ड 1 वित्तमंत्रालय भारत सरकार नई दिल्ली। पृष्ठ 102
5. आर्थिक समीक्षा 2015-16 वित्तमंत्रालय भारत सरकार नई दिल्ली। पृष्ठ 2015-16
6. आर्थिक समीक्षा 2014-15 वित्तमंत्रालय भारत सरकार नई दिल्ली। पृष्ठ 142-143
7. नेशनल कमीशन ऑन सेल्फइम्प्लॉयड वूमेन, श्रम शक्ति रिपोर्ट, नई दिल्ली, 1988
8. कुरूक्षेत्र, ग्रामीण महिला सशक्ती करण अंक 10 अगस्त 2013 पृष्ठ 11
9. भारत, 2016 सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली पृष्ठ 825
10. महीपाल, पंचायतीराज: अतीत, वर्तमान और भविष्य, सारांश प्रकाशन, नई दिल्ली 1996 पृष्ठ 22-23
11. रजनी कोठारी राजनीति को किताब, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2002 पृष्ठ 106

बिहार की कृषिः किसान, आजीविका और भूमि उपयोग

देव नारायण महतो

शोधार्थी, अर्थशास्त्र विभाग, बी.आर.ए. बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर

सार

बिहार की अर्थ व्यवस्था पर कृषि का महत्वपूर्ण प्रभाव रहा है। यहाँ की उर्वरा मिट्टी, नदियों का जल स्त्रोत, और अनुकूल जलवायु ने वर्षों तक राज्य को कृषि प्रधान बनाए रखा है। हालांकि, पिछले कुछ दशकों में बिहार की कृषि प्रणाली में कई सामाजिक, आर्थिक, और पर्यावरणीय परिवर्तन आए हैं, जिनका सीधा असर किसानों की आजीविका और भूमि के उपयोग पर पडा है। आज कई कारणों से बिहार के किसान विभिन्न चुनौतियों का सामना कर रहे हैं, जैसे कि सीमित और विभाजित कृषि भूमि, सिंचाई की कमी, बीज और उर्वरक की बढ़ती कीमतें, तथा जलवायु परिवर्तन के प्रभाव। बिहार में कृषि आधारित समृद्धि को पुनर्जीवित करने के लिए आवश्यक है कि हम बहु-स्तरीय नीतिगत हस्तक्षेप, जल संचयन तकनीकों के प्रचार और जिम्मेदार भूमि उपयोग को बढ़ावा दें। इसके अलावा, यह अध्ययन बिहार की हरित संपदा के सन्दर्भ में किसान समुदाय की आजीविका, भूमि उपयोग में हुए परिवर्तनों और उनसे जुडे सामाजिक-आर्थिक तथा पारिस्थितिकीय पहलुओं का विस्तृत विश्लेषण प्रस्तुत करता है। इसमें भूमि संसाधनों की महत्वपूर्ण भूमिका, किसानों द्वारा अपनाई गई रणनीतियाँ, जल प्रबंधन, फसल विविधता और कृषि तकनीकों के विभिन्न पहलुओं पर गहराई से चर्चा की गई है। इस अध्ययन के माध्यम से हम जानेंगे कि कैसे ये सभी तत्व मिलकर कृषि विकास में कैसे योगदान देते हैं।

मूल शब्दः बिहार की कृषि, कृषि नीतियाँ, फसल विविधता, कृषि तकनीक, भूमि उपयोग, कृषक उत्पादक संगठन।

परिचय

बिहार, भारत के पूर्वोत्तर हिस्से से में स्थित एक प्रमुख कृषि-आधारित राज्य है। इसकी भौगोलिक स्थिति, नदियों से बनी उपजाऊ घाटियां, और विभिन्न जलवायु स्थितियों सदस्यों से कृषि के लिए अनुकूल माहौल प्रदान करती रही हैं। यहां की अर्थ व्यवस्था का आधार कृषि है, जो लगभग 70% ग्रामीण जनसंख्या के लिए आजीविका का मुख्य साधन है। वित्तीय वर्ष 2023-24 में, बिहार के कुल सकल घरेलू उत्पाद (GSDP) में कृषि और उससे सम्बंधित गतिविधियों का योगदान करीब 23% था, जो ग्रामीण आय के वितरण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। भौगोलिक रूप से, बिहार गंगा और कोसी नदियों से घिरा हुआ है, जो इसकी फसल उत्पादन क्षमता को बढाता है। भू-राजस्व आंकडों के अनुसार, बिहार में औसत खेती का आकार केवल 0.39 हेक्टेयर है, जबकि देश का औसत 1.08 हेक्टेयर है। यह स्थिति बिहार के कृषि क्षेत्र की गुणवत्ता को दर्शाती है। इसके परिणाम स्वरूप, लगभग 86% किसान सीमांत और छोटी श्रेणी में आते हैं। छोटी खेती के आकार के कारण मशीनों का कुशलता से उपयोग करना कठिन हो जाता है, जिससे पारंपरिक और श्रम आधारित कृषि विधियाँ अभी भी प्रमुख बनी हुई हैं। इसके अलावा, बंजर भूमि, जो कुल कृषि भूमि का लगभग 18% है, और बढ़ती हुई जनसंख्या का दबाव औद्योगिक या आवासीय विकास के लिए भूमि के विकल्पों को सीमित कर रहा है। ये सभी कारक भूमि संसाधनों के प्रबंधन को चुनौती दे रहे हैं।

हर मौसम चक्र नई चुनौतियों का सामना करता है। गर्मी में अत्यधिक बारिश, मानसून के असमान वितरण के कारण पानी की कमी और सदी में ठंड के चलते फसलों को खतरा होता है। इन कठिनाइयों के बीच, राज्य सरकारों द्वारा लागू की जा रही कोशी, बागमती और गंडक नहर योजनाएँ जल संरचनाओं के आधुनिकीकरण के माध्यम से सिंचाई की क्षमता में 15 से 20 प्रतिशत तक की वृद्धि कर चुकी हैं। कृषि विश्वविद्यालय, कृषि विज्ञान केंद्र और किसानों के स्वयं सहायता समूह (SHG) मिलकर बीज परीक्षण, भूमि विश्लेषण और बाजार से जुडी प्रशिक्षण कार्यशालाएँ आयोजित कर रहे हैं, जो धीरे-धीरे पारंपरिक किसानों को वैज्ञानिक तरीके से खेती करने वाले किसानों में बदल रहे हैं।[1]

1770 के बाद, जब बंगाल का विभाजन हुआ, तो ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी ने बिहार में अपने प्रभुत्व को और बढ़ा दिया। लिप्पमैन-कार्बरी रिपोर्ट (1793) की सहायता से, यहां भूमि का सर्वेक्षण और सीमांकन की प्रक्रिया आरंभ की गई। इसके परिणाम स्वरूप भूमि स्वामित्व और कर व्यवस्था में अधिक पारदर्शिता आई, लेकिन किसानों पर स्थायी कर का दबाव भी बढ़ गया। 1857 के विद्रोह के बाद, ब्रिटिश सरकार ने स्थायी जमाबंदी की व्यवस्था लागू की, जिसके तहत जमींदारों को कर वसूलने का अधिकार दिया गया। इसके परिणाम स्वरूप, कई बंगाली जमींदारों ने बिहार की भूमि पर अधिकार जताना शुरू कर दिया, हालांकि इस व्यवस्था ने कृषि नवाचारों में बाधाएँ भी उत्पन्न कीं।[2]

1947 में स्वतंत्रता के साथ-साथ भूमि सुधारों पर महत्वपूर्ण ध्यान दिया गया। सत्याग्रह के माध्यम से, राजस्व सुधारों ने भू-राजस्व दरों में कमी और अनावश्यक भूमिधारकों से मुक्ति का प्रयास किया। 1960-70 के दशकों में ग्रीन रिवोल्यूशन के तहत उच्च उपज वाले बीज, रासायनिक उर्वरक और कीटनाशकों के उपयोग से चावल और गेहूं के उत्पादन में उल्लेखनीय वृद्धि हुई। बिहार में, पायलट परियोजनाओं के रूप में अनाज भंडारण, सिंचाई नहरों का विस्तार और सहकारी समितियों की स्थापना की गई, जिससे किसानों को लाभ हुआ। 1990 के बाद से, उदारीकरण और कृषि बाजार के निजीकरण ने

बिहार के कृषि क्षेत्र में महत्वपूर्ण बदलाव लाए। निजी क्षेत्र ने भंडारण, प्रसंस्करण और निर्यात जैसी गतिविधियों में अधिक निवेश करना शुरू किया। 2000 के दशक में, जैविक खेती, सूक्ष्म सिंचाई (जैसे ड्रिप सिंचाई) और एकीकृत कृषि मॉडल (जैसे मछली पालन और पोल्ट्री) की नई पहलों का उदय हुआ। हाल के वर्षों में, डिजिटल जमाखर्च, जीआईएस-आधारित भूमि प्रबंधन और मोबाइल-आधारित मार्केट सूचना सेवाओं ने किसानों के लिए निर्णय लेने की प्रक्रिया को और सरल बना दिया है। इस ऐतिहासिक यात्रा से यह स्पष्ट है कि बिहार की कृषि ने विभिन्न राजनीतिक और तकनीकी परिवर्तनों के अनुसार खुद को अनुकूलित किया है और आज भी कई चुनौतियों का सामना कर रही है।[3]

छोटी और सीमांत कृषि

बिहार में औसत खेती का आकार केवल 0.39 हेक्टेयर है, जो यह दर्शाता है कि लगभग 86% खेती 1 हेक्टेयर से छोटी हैं। छोटी और सीमांत खेतों की इस संरचना से कई चुनौतियाँ और अवसर उत्पन्न होते हैं। छोटी और सीमांत खेतों पर निर्भर परिवारों के लिए कृषि प्रणाली में मौसम में बदलाव, कीटों के हमले, या बाजार में मूल्य में गिरावट के कारण आय में बड़े उतार-चढाव आ सकते हैं। उदाहरण के लिए, यदि मानसून कमजोर या देर से आता है, तो 0. 5 हेक्टेयर के खेती वाले कृषक के लिए उपयुक्त सिंचाई में निवेश करना मुश्किल हो जाता है। इससे फसलों की बर्बादी हो सकती है और बोआई-कटाई के चक्र पर नकारात्मक प्रभाव पड सकता है। कृषि आय की अस्थिरता छोटी और सीमांत खेतों पर निर्भर कृषक परिवारों के लिए एक गंभीर समस्या है। इसका परिणाम यह हो सकता है कि कटाई और तोड़ाई चक्र पूरी तरह से रुक जाए, जिससे किसानों की वार्षिक आय में 20 -30% की कमी आ सकती है। अत्यधिक बारिश या सूखा भी फसलों को गंभीर नुकसान पहुंचा सकते हैं। उदाहरण के लिए, 2017 में बिहार के कुछ क्षेत्रों में जून के अंत में अचानक आई बाढ़ के कारण लगभग 40,000 किसान परिवारों की 0.4 -0.6 हेक्टेयर में फैली धान की फसल बर्बाद हो गई।

कीटों का प्रकोप और रोगों का फैलाव सीमांत खेतों में मिश्रित फसल रोपण वाले छोटी क्षेत्रों की निगरानी और नियंत्रण को कठिन बना देता है। किसी एक स्थान पर होने वाला प्रकोप, जैसे कि गोल्डन बोर या हल्का टैपवार्म, पूरे इलाके में फैलकर किसानों की आय को 15-25% तक प्रभावित कर सकता है। वित्तीय निवेश की कमी के कारण, जोखिम भरे माहौल में बैंक या सहकारी संस्थाएं ऋण देने से हिचकिचाती हैं। इसका परिणाम यह होता है कि किसान महंगे निजी ऋण लेने पर मजबूर होते हैं, जिनकी ब्याज दर 24 से 36 प्रतिशत वार्षिक तक होती है। इन उच्च ब्याज दरों के कारण, फसल की आय में कम से कम 10 से 15 प्रतिशत अतिरिक्त कटौती हो जाती है, और ये ऋण किसानों के लिए एक भारी बोझ बन जाते हैं। दूसरी ओर, मौसम से सम्बंधित जानकारियां, जैसे मोबाइल ऐप्स (जैसे कृषि मौसम सेवा ऐप) के जरिए 3 से 5 दिन पहले अलर्ट मिलने से किसान अपने सिंचाई और कटाई के समय को बेहतर ढंग से निर्धारित कर पाते हैं, जिससे वे 10 से 12 प्रतिशत तक वित्तीय निवेश बचा सकते हैं।[4]

फसल बीमा और वित्तीय समावेश

केन्द्रीय 'प्रधानमंत्री फसल वित्तीय योजना' (PMFBY) ने छोटी किसानों को प्रीमियर सब्सिडी और

त्वरित दावा निपटान (45 दिनों के भीतर) का लाभ प्रदान किया है। इस योजना के अंतर्गत, 2019 से 2024 के बीच बिहार में 60% से अधिक योग्य किसानों ने बीमा कराया है, जिससे फसल के नुकसान होने पर न्यूनतम समर्थन मूल्य (MSP) मिलने का भरोसा बना रहा है। इस योजना के तहत बीमित किसानों को नुकसान का मुआवजा 45 दिनों में मिल जाता है, जिससे उनकी आय में आई कमी की भरपाई में मदद मिली है। उदाहरण के लिए, गया जिले के 200 छोटी किसानों ने वर्ष 2023 में मौसम आधारित बीमा (Weather Index Insurance) करवाया, जिसमें उन्हें रू. 1,200 प्रति हेक्टेयर के प्रीमियर पर मानसून की अनियमितता का वित्तीय प्राप्त हुआ।

बिहार की ग्रामीण बैंकिंग प्रणाली में वित्तीय के साथ-साथ काफी प्रगति देखने को मिली है। वर्तमान में राज्य में 800 से अधिक बैंकिंग आउटलेट और लगभग 4,500 बैंक सेवा केंद्र (BC) सक्रीय हैं, जो किसानों को बैंकिंग सेवाओं तक पहुंच प्रदान कर रहे हैं। इससे उन्हें लंबी यात्रा की आवश्यकता के बिना अपने खातों तक आसानी से पहुंच बनाने का अवसर मिल रहा है। स्थानीय स्वयं सहायता समूह (SHG) और कृषक उत्पादक संगठन (FPO) ऐसे छोटी, बिना जमानत वाले सूक्ष्म-ऋण प्रदान करते हैं, जो रू. 5,000 से लेकर रू. 50,000 तक होते हैं, जिन पर ब्याज दर केवल 4 से 8 प्रतिशत वार्षिक होती है। इसके अलावा, डिजिटल भुगतान के विकास ने इस प्रणाली को और अधिक सुगम बना दिया है। न्यूनतम समर्थन मूल्य (MSP) या वित्तीय दावे सीधे किसानों के बैंक खातों में जमा होते हैं, जिससे मध्यस्थों की भूमिका सीमित हो गई है।

समस्तीपुर जिले में 2021 की बाढ़ के बाद 15,000 किसान परिवारों को प्रधानमंत्री फसल वित्तीय योजना (PMFBY) के तहत रू. 120 करोड का मुआवजा मिला, जो इन किसान परिवारों की फसल में सुधार का एक स्पष्ट उदाहरण है। इस धनराशी का उपयोग करते हुए उन्होंने बीज और उर्वरक खरीदकर अपने खेतों में लौटने में सफलता पाई। इसी प्रकार, औरंगाबाद में 200 महिला स्वयं सहायता समूह (SHG) ने मिलकर रू. 1 करोड का सामूहिक ऋण प्राप्त किया, जिससे उन्होंने सरसों और मसाला फसलों में निवेश कर 20% अधिक लाभ कमाया। हालांकि, कुछ दूरस्थ गांवों में अभी भी बैंक कनेक्टिविटी और इन्टरनेट की सीमित पहुंच बनी हुई है। इसलिए, ब्लाक स्तर पर डिजिटल साक्षरता शिविरों का आयोजन आवश्यक हो जाता है। किसानों को फसल वित्तीय की शर्तों, क्लेम प्रक्रिया और डिजिटल लेन-देन की जटिलताओं को समझने में सहायता देने के लिए यह कदम बहुत महत्वपूर्ण है। इन सभी प्रयासों का लक्ष्य यह सुनिश्चित करना है कि बिहार के छोटी और सीमांत किसान खेती के अनिश्चित खतरों का सामना करने में अधिक आत्मविश्वास महसूस करें, ताकि उनकी आजीविका सुरक्षित और स्थायी बनी रहे।[5]

महिला और युवा सक्रियता

पारंपरिक रूप से, जब पुरुष प्रवासी श्रमिक शहरों की ओर बढ़ते हैं, तो खेतों की जिम्मेदारी महिलाओं और वरिष्ठ नागरिकों पर आ जाती है। इस सन्दर्भ में 'महिला सशक्तिकरण फसल परियोजना' की भूमिका विशेष रूप से महत्वपूर्ण है। इस पहल के तहत महिलाओं को तकनीकी प्रशिक्षण, जैसे हाथ से चलने वाले थ्रेसर और बीज बोने के उपकरण, प्रदान किए गए हैं। इसके परिणाम स्वरूप, उनकी उत्पादकता में 20 -25% तक की वृद्धि देखने को मिली है। जब बिहार में पुरुष प्रवासी श्रमिक शहरी क्षेत्रों, जैसे निर्माण, फैक्ट्रियों या सेवा क्षेत्रों की ओर जाते हैं, तो घर पर कृषि कार्य का मुख्य जिम्मा महिलाओं, बुजुर्गों और कभी-कभी किशोर बच्चों पर आ जाता है। इस परिस्थिति में महिलाओं को खेती से जुडी जटिल और मेहनती गतिविधियाँ, जैसे बुआई, निराई, गुडाई, कटाई और फसल के बाद का उपचार, अधिकतर अकेले करने का बोझ उठाना पड़ता है। 'नारी शक्ति फसल प्रोजेक्ट' की शुरुआत 2020 में हुई थी, जिसका मुख्य उद्देश्य महिला किसानों को तकनीकी प्रशिक्षण प्रदान करना है। इस पहल के तहत, थ्रेसर का उपयोग सिखाया जाता है, जो छोटी खेतों के लिए उपयुक्त होते हैं और इससे धान की कटाई की प्रक्रिया में 2 से 3 गुना तेजी आती है। इसके अलावा, बीज बुआई के लिए मिनी-वैनर सेरोमोटर का इस्तेमाल किया जाता है, जो बुआई को अधिक सटीक बनाता है और बीज की बर्बादी को 10 से 15 प्रतिशत तक कम करता है। स्वयं सहायता समूह के माध्यम से सूक्ष्म-वित्त व्यवस्था महिलाओं को बिना किसी सुरक्षा के रू 10,000 से रू. 15,000 तक के ऋण प्राप्त करने की सुविधा देती है। इस पर ब्याज दर लगभग 4 से 6 प्रतिशत वार्षिक होती है, जो पारंपरिक कृषि ऋणों की तुलना में लगभग 50 प्रतिशत कम है।[6]

कृषक उत्पादक संगठन (FPO) की भूमिका

किसान उत्पादक संगठनों (FPO) ने छोटी और सीमांत किसानों को संगठित करके उनके बाजार में पहुंच बढ़ाने में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। इन संगठनों की संरचना ही उनके सफल मॉडल की नींव है:

प्रत्येक किसान सदस्य को एक शेयर प्रदान किया जाता है, जिससे वे सहकारी ढांचे का हिस्सा बन जाते हैं, और बोर्ड के सदस्य सीधे किसानों द्वारा चुने जाते हैं। इस लोकतान्त्रिक प्रणाली के तहत एक कार्यकारी प्रमुख (CEO) और तकनीकी सलाहकार भी बोर्ड में शामिल होते हैं, जो निरंतर बाजार का विश्लेषण करते हैं, इनपुट प्रबंधन के लिए योजनाएँ बनाते हैं, और वित्तीय पारदर्शिता सुनिश्चित करते हैं। किसानों को बीज, उर्वरक और कीटनाशक खरीदने के लिए समूह-आधारित थोक व्यवस्था अपनाने से 10 से 20 प्रतिशत तक की बचत होती है। इसके अलावा, स्थानीय स्तर पर 'कॉमन स्टोरेज वेयरहाउस' की स्थापना से भंडारण की लागत में लगभग 15 प्रतिशत की कमी आई है। इससे किसान अपनी फसलें सबसे अनुकूल समय पर बेचकर बेहतर मूल्य प्राप्त कर सकते हैं। बाजार में अपने उत्पादों की पहचान स्थापित करने के लिए FPOs ने 'ब्रांडेड एग्री प्रोडक्ट्स' का निर्माण किया है, जैसे 'बिहार गोल्ड' नामक चावल और अरहर की दाल, जिसने उपभोक्ताओं का विश्वास अर्जित किया है। बिहार एग्रो प्रोड्यूसर्स एसोसिएशन (BAPA) ने 2023-24 के दौरान पंद्रह हजार छोटे किसानों को एकजुट करते हुए चावल और अरहर की कुल बिक्री को पचास हजार मीट्रिक टन तक बढ़ाने में सफलता प्राप्त की। इस प्रयास ने पारंपरिक बिचौलियों की भूमिका को कम करते हुए किसानों की औसत आय में लगभग पंद्रह प्रतिशत की वृद्धि का मार्ग प्रशस्त किया। उत्पादों के मूल्य में वृद्धि के लिए छोटी स्तर की चक्कियों, पैकेजिंग इकाइयों और केन्द्रीय भंडारण सुविधाओं की स्थापना की गई है। इसके परिणाम स्वरूप, धान को आटा या परांठा में परिवर्तित करने पर 20-25 प्रतिशत तक अधिक कीमत मिली है। इसके अलावा, अरहर की दाल को प्री-पैक करके सीधे शहरी बाजारों में वेचा जाता है, जिससे मुनाफे में और वृद्धि होती है।[7]

वित्तीय सहायता के क्षेत्र में, कृषि उत्पादक संगठनों ने बैंकों और गैर-बैंकिंग वित्तीय कंपनियों (NBFCs) के साथ मिलकर समग्र क्रेडिट लोन की व्यवस्था की है। इसके परिणाम स्वरूप 2019 से 2024 के बीच रू. 200 करोड से अधिक का ऋण बीज खरीद, मशीनों के उन्नयन और प्रसंस्करण इकाइयों में निवेश के लिए उपलब्ध कराया गया है। इसके साथ ही, कृषि वैज्ञानिकों और मार्केटिंग विशेषज्ञों द्वारा आयोजित नियमित कार्यशालाओं ने किसानों को ड्रोन सर्वेक्षण, सटीक सिंचाई प्रणालियों और बाजार में बदलती मांगों की जानकारी प्रदान की है। हालांकि, कुछ चुनौतियाँ बनी हुई हैं। कई किसान उत्पादक संगठनों में पेशेवर प्रबंधन कौशल की कमी दिखाई देती है, जिसे मेंटरशिप कार्यक्रम और कॉपोरेट गवर्नेंस प्रशिक्षण के माध्यम से सुधारना संभव है। ग्रामीण क्षेत्रों में खराब सडकें अब भी उत्पादों को बाजारों तक समय पर पहुंचाने में बाधा डाल रही हैं; इसके लिए सामुदायिक मार्केट हब का विकास करना लाभकारी होगा। इसके अतिरिक्त, बाजार में मूल्य की अस्थिरता से निपटने के लिए अग्रिम बिक्री अनुबंध और भंडारण वित्तीय जैसे उपायों को भी मजबूत करने की आवश्यकता है। इन सभी प्रयासों ने स्पष्ट कर दिया है कि किसान उत्पादक संगठनों (FPOs) ने केवल छोटी और सीमांत किसानों की खरीदने की क्षमता को ही नहीं बढ़ गया, बल्कि उनकी विपणन पहुंच को भी सुधारने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। इसके साथ ही, इन संगठनों ने मूल्य संशोधन, वित्तीय सहायता, और तकनीकी मार्गदर्शन प्रदान करके किसानों को सतत कृषि विकास की दिशा में आगे बढ़ने में मदद की है।[8]

बंजर और अनुपयोगी भूमि

राज्य की कुल कृषि भूमि का करीब बीस प्रतिशत, अब बंजर या क्षरणग्रस्त है। यह स्थिति सीधे तौर पर उत्पादनशील क्षेत्रों की क्षमताओं को प्रभावित करती है। लंबे समय से मिट्टी की उचित देखभाल की कमी और गलत सिंचाई विधियों के कारण परतदार मिट्टी धीरे-धीरे कटाव का शिकार होती जा रही है। इस प्रक्रिया ने जलधारण क्षमता को कमजोर कर दिया है और पौधों के लिए आवश्यक पोषक तत्वों का संग्रहण करना कठिन बना दिया है। भीषण गर्मियों में भूजल स्तर के गिरने से इन क्षेत्रों में पेडों और प्राकृतिक वनस्पति की कमी बढ़ रही है, जिससे भूमि की उर्वरता और अधिक घटती जा रही है।

2018 के बाद, बिहार सरकार ने "मिश्रित बन कृषि मॉडल" की शुरुआत की, जिसमें पेड और फसलों को एक साथ उगाया जाता है। इस विधि में स्थायी पेड जैसे शीशम, नीम, और बैंगनी गम को अंकुरित किया गया है, ताकि वे गहरी जडें विकसित कर सकें और मिट्टी में बंधे हुए कार्बनिक पदार्थों की मात्रा

को बढ़ाने में मदद कर सकें। समय के साथ, यह मिश्रित रोपण भूमि की सतही कटाव दर को कम करके उसमे अधिक कार्बनिक तत्वों की मात्रा को बढ़ाने में सहायक रहा है, जिससे उसकी उर्वरता को पुनः सुदृढ़ करने में मदद मिली है।[9]

किसान और उनकी आजीविका

किसानों की आजीविका का सबसे पुराना तरीका पारंपरिक परिवार कृषक मॉडल है, जो पीढ़ी दर पीढ़ी चलता आ रहा है और आज भी बिहार के गाँतों में मजबूती से स्थापित है। इस मॉडल में खेती में किए जाने वाले सभी कार्य, जैसे बुआई, सिंचाई, कटाई, खरपतवार और फसल भंडारण परिवार के हर सदस्य की सामूहिक मेहनत से संपन्न होते हैं। मौसम के उतार-चढाव के अनुसार पूरा परिवार समय पर खेतों में जुटता है, और फसल से प्राप्त लाभ ही घर के बजट का प्रबंधन करता है; इसमें बच्चों की शिक्षा, स्वास्थ्य संबंधी खर्च और घरेलू आवश्यक सामान शामिल हैं। जब मौसम अनुकूल होता है, तो यह पारंपरिक पद्धति परिवार को जीविका के लिए पर्याप्त संसाधन प्रदान करती है। पिछले कुछ वर्षों में, कृषि क्षेत्र में हुई तकनीकी प्रगति, वित्तीय समावेशन और खुले बाजारों की पहुंच ने युवा पीढ़ी को पारंपरिक तरीकों से अलग सोचने के लिए प्रेरित किया है। आधुनिक कृषि उद्यमिता तब विकसित होती है जब किसान केवल फसल उत्पादन तक सीमित नहीं रहते, बल्कि अपनी उपज को प्रोसेसिंग इकाइयों में ले जाकर व्यवसाय की नई संभावनाएं तलाशते हैं। उदाहरण के लिए, धान के उत्पादन को मिलों में पॉलिश करके ब्रांडेड पैकेजिंग में बेचना या मसालों को उनके कच्चे रूप में पाउडर बनाकर प्री-पैक्ड बैग में भरकर शहरी सुपर मार्केटों में पहुंचाना शामिल है। ये सभी गतिविधियाँ युवा उद्यमियों के लिए कृषि क्षेत्र में नए अवसरों के द्वार खोलती हैं।[10]

इन किसानों ने डिजिटल मार्केट प्लेस और एग्रीटेक ऐप्स का उपयोग करके मौसम के अनुसार फसल योजना, सटीक उर्वरक वितरण, और ड्रोन सर्वे जैसी नई सुविधाएं प्राप्त की हैं। इसके अलावा, वे सोशल मीडिया और ई-कॉमर्स प्लेटफार्मों पर अपने ब्रांड को स्थापित करने में सक्षम हो गए हैं, जिससे उन्हें पारंपरिक मंडियों की तुलना में बेहतर दाम मिलते हैं। ऐसे उद्यमी अक्सर अपने परिवार के अन्य सदस्यों को विभिन्न व्यावसायिक कार्यों की जिम्मेदारी सौंप देते हैं। एक सदस्य खेती में काम देखता है, दूसरा प्रसंस्करण और पैकेजिंग की प्रक्रिया का प्रबंधन करता है, और फिर कोई मार्केटिंग एवं बिक्री का कार्य संभालता है। इस प्रकार, पारंपरिक परिवार कृषक मॉडल को मजबूत बनाते हुए आपसी सहयोग को बढ़ावा देते हैं। इस मिश्रित दृष्टिकोण की मुख्य विशेतबा यह है कि पारंपरिक किसान अपनी फसल के लिए अपने खेतों पर निर्भर रह सकते हैं, जबकि युवा उद्यमी नए व्यापारिक अवसरों की खोज करते हुए जोखिम को साझा कर अपने परिवारों को आर्थिक रूप से मजबूत बना रहे हैं। इसके परिणाम स्वरूप, बिहार की ग्रामीण अर्थव्यवस्था पारंपरिक अस्थिरता के बजाय स्थिरता, नवाचारों और दीर्घकालिक विकास की दिशा में बढ़ रही है। अब जीविका केवल कृषि तक सीमित नहीं रह गई है, बल्कि यह प्रोसेसिंग, मार्केटिंग, निर्यात, और डिजिटल प्लेटफार्मों तक भी फैल गई है।[12]

संभावनाएँ और सुझाव

कोआपरेटिव मॉडल किसानों को संगठित करने और उनकी सामूहिक शक्ति को बढ़ाने का एक अत्यंत प्रभावी तरीका है। खासकर बिहार जैसे राज्यों में, जहां छोटी और सीमांत किसानों की संख्या अधिक है, एकजुटता से उनकी खरीद और बिक्री की प्रक्रियाओं में मजबूती आएगी। यह प्रणाली न केवल लागत को काम करेगी, बल्कि किसानों को बाजार में बेहतर मूल्य दिलाने और बिचौलियों के प्रभाव को भी कम करने में सहायक सिद्ध होगी। हालांकि, इसके लिए आवश्यक है कि समूह के सदस्यों के बीच संतुलन और पारदर्शिता बनाए रखी जाए, ताकि सभी भागीदार समान रूप से लाभान्वित हों और किसी प्रकार के भ्रस्टाचार या अन्याय से बचा जा सके। किसानों की आय को बेहतर बनाने के लिए मूल्य संवर्धन या वैल्यू-एडीशन एक महत्वपूर्ण कदम है। यदि किसान अपनी फसलों को सीधे बेचने के बजाय उन्हें प्रोसेस करके ब्रांडेड उत्पादों के रूप में बाजार में पेश करें, तो उनकी आर्थिक स्थिति में उल्लेखनीय सुधार हो सकता है। बिहार में यदि स्थानीय स्तर पर खाद्य प्रोसेसिंग यूनिट स्थापित की जाएं और पैकेजिंग उद्योग को बढ़ावा दिया जाए, तो इससे न केवल किसानों की आय में वृद्धि होगी, बल्कि रोजगार के नए अवसर भी उत्पन्न होंगे। इस दिशा में सरकार और निजी क्षेत्र को मिलकर ज्यादा निवेश और प्रशिक्षण कार्यक्रमों का आयोजन करना आवश्यक है। डिजिटल मार्केटप्लेस और ईख़नाम जैसे मंच किसानों को पारंपरिक बिचौलियों से मुक्त करके सीधे खरीदारों से जोडने की क्षमता प्रदान करते हैं। इससे किसानों को उनके उत्पादों का उचित मूल्य प्राप्त करने में सहायता मिली है, साथ ही बाजार में पारदर्शिता भी बढ़ती है।[13]

इन उपायों को सफल बनाने के लिए सरकार, गैर-सरकारी संगठनों और कृषि विशेषज्ञों का सहयोग आवश्यक है। इससे बिहार के किसान आत्मनिर्भरता की दिशा में आगे बढ़ते हुए कृषि क्षेत्र को समृद्ध बना सकते हैं।

निष्कर्ष

बिहार की कृषि प्रणाली, जो अपनी उपजाऊ मिट्टी और जल संसाधनों के लिए प्रसिद्ध है, राज्य की अर्थव्यवस्था की आधारशिला बनकर कई दशकों तक योगदान देती रही है। लेकिन आज यह प्रणाली कई चुनौतियों और परिवर्तनों का सामना कर रही है। यहां छोटी और सीमांत किसानों की एक बड़ी संख्या है, जबकि भूमि का उपयोग सीमित और टूटता जा रहा है। जलवायु परिवर्तन के कारण असामयिक और चरम मौसमी घटनाओं में वृद्धि, साथ ही सिंचाई की कमी और संसाधनों की बढ़ती लागत, कृषि की पारंपरिक विधियों पर नकारात्मक प्रभाव डाल रहे हैं। इसके अलावा, भूमि उपयोग में बदलाव के कारण कृषि भूमि कि होती जा रही है, जिससे किसान समुदाय की आजीविका पर गंभीर प्रभाव पड रहा है। इन सभी पहलुओं के बावजूद, आधुनिक तकनीकी साधनों, जैसे सूक्ष्म सिंचाई, डिजिटल मौसम पूर्वानुमान, फसल वित्तीय योजनाएँ और सूक्ष्म वित्त, किसानों को सशक्त बनाने में महत्वपूर्ण योगदान दे रहे हैं। इस क्षेत्र में महिलाओं की सक्रिय भागीदारी और युवाओं की संलग्नता नए अवसरों और समावेशी विकास को बढावा दे रही है। सरकार और गैर-सरकारी संगठनों द्वारा आयोजित प्रशिक्षण कार्यक्रम, कृषि विज्ञान केंद्र और किसान समूह की गतिविधियाँ बिहार की कृषि को स्थायित्व और विकास की दिशा में आगे बढ़ाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभा रही हैं। बिहार की कृषि के समग्र विकास के लिए नीतियों के सन्दर्भ में सतत कृषि, जल संरक्षण, और भूमि संसाधनों के सटीक उपयोग पर ध्यान केन्द्रित करना अत्यंत आवश्यक है। इसके अलावा, किसानों को आर्थिक रूप से मजबूत करने, तकनीकी प्रशिक्षण प्रदान करने, और सामाजिक

सुरक्षा योजनाओं को प्रभावी ढंग से लागू करने की आवश्यकता है। पारंपरिक ज्ञान और आधुनिक विज्ञान का एक समान रूप से उपयोग करने से ही बिहार की कृषि में नई संभावनाएं उत्पन्न हो सकती हैं। इससे न केवल किसानों की आर्थिक स्थिति में सुधार होगा, बल्कि राज्य की हरित संपदा और पर्यावरण संतुलन भी सुनिश्चित किया जा सकेगा। बिहार की कृषि को उन्नति और स्थिर विकास की दिशा में बढ़ाने के लिए संगठित प्रयास, नीतिगत बदलाव और सामूहिक सहयोग अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। जब ऐसा होगा, तब बिहार के किसान अपनी मेहनत और समर्पण के माध्यम से अपने परिवारों की भलाई सुनिश्चित कर सकेंगे और राज्य की आर्थिक उन्नति में महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकेंगे।

सन्दर्भ सूची

1. गुहा, रंजीत (1996) बंगाल के लिए संपत्ति का एक नियमः स्थायी निपटान के विचार पर एक निबंध, ड्यूक यूनिवर्सिटी प्रेस
2. बिहार सरकार. (2020)। कृषि रोड मैप (2017-2022)। कृषि विभाग, बिहार सरकार।
3. सिंह, अजय कुमार (2020) बिहार की कृषि व्यवस्था और ग्रामीण विकास, पटनाः आनंद प्रकाशन।
4. शर्मा, आर.के. (2018) बिहार की ग्रामीण अर्थव्यवस्था कोलकाताः ईस्टर्न बुक हाउस
5. बिहार एग्रो प्रोड्यूसर्स एसोसिएशन (2024) किसान उत्पादक संगठनों की भूमिका और प्रभाव -एक वार्षिक प्रतिवेदन (2023-24), प्रकाशन पटना ठ।च।
6. सिंह, ए. और वर्मा, आर. (2022)। ष्पूर्वी भारत में मृदा और जल संरक्षण के लिए समुदाय-आधारित दृष्टिकोण।ष जर्नल ऑफ रूरल डेवलपमेंट एंड सस्टेनेबिलिटी, 14(3)
7. प्रधानमंत्री फसल बीमा योजना - दिशानिर्देशों और राज्य प्रदर्शन का सार-संग्रह, प्रकाशक कृषि एवं किसान कल्याण मंत्रालय
8. राष्ट्रीय कृषि और ग्रामीण विकास बैंक (नाबार्ड), 2023, पूर्वी भारत में एसएचजी-आधारित माइक्रोफाइनेंस और कृषि मशीनीकरण सहायता।
9. https://agcensus.nic.in
10. Agricultural Census 2015-16 - All India Report, Page 67, Talika 17.
11. https://pib.gov.in/PressReleseDetailm.aspx?PRID=1946814
12. https://www.nabard.org/auth/writereaddata/tender/BIH_PATNA.pdf
13. Bihar State Disaster Management Authority (2021), Annual report on floods and droughts in Bihar, Government of Bihar.

स्वामी दयानंद और आर्य समाजः दशा और दिशा

सुमित कुमार

राजनगर, मधुबनी, मिथिला (बिहार)

स्वामी दयानंद सरस्वती का मूल नाम शंकर तिवारी था। वह 1845 ई. में सत्य की खोज हेतु इक्कीस वर्ष की अवस्था में पंद्रह वर्षों तक तपस्वी के रूप में भटकते रहे। वह एक भारतीय दार्शनिक, सामाजिक नेता और आर्य समाज के संस्थापक थे। वास्तव में आर्य समाज इकाई औपचारिक रूप से उनके द्वारा स्थापित की गई बाद में आर्य समाज का मुख्यालय लाहौर में स्थापित किया गया। उनका मूल उद्देश्य भारतीय समाज में व्याप्त अंधविश्वासों, जातिवाद, पाखंड और मूर्तिपूजा को समाप्त करना था।

आर्य समाज के उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए कैलाश सत्यार्थी लिखते हैं- "दुर्भाग्य से आज आर्य समाज का कार्य, संध्या हवन आदि कर लेने, मूर्तिपूजा और मृतक-श्राद्ध न करने, जाति-पाती न मानने, सबके साथ खा लेने और धार्मिक व्याख्यान देने तक ही सीमित हो गया या होता जा रहा है। यद्यपि ये व्यक्ति परक जीवन में आवश्यक है किंतु ये सब आर्य के बाहरी चिह्न हैं और अपेक्षाकृत सरल भी। प्रेम, दया, सेवा, निष्ठा, ईमानदारी जैसे मानवीय मूल्यों का अभाव सा हो चला है, किंतु इसी को आर्य समाज की संज्ञा नहीं दी जा सकती।....आर्य समाज का उद्देश्य वैचारिक क्रांति है।"

अपने आलेख में कैलाश सत्यार्थी ने उस क्रांति की प्रक्रिया स्पष्ट करते हुए सामान्यतः तीन कार्य शक्तियों का वर्णन किया है- पहली यथास्थितिवादी (confirmatory), दूसरी प्रतिक्रियावादी (Reactionary) व तीसरी सुधारवादी (reconstructionary)। इस पर विस्तार से चर्चा करने के बाद उन्होंने क्रांति की प्रक्रिया के चार बुनियादी आयाम भी साझा किया। पहला- तत्कालीन व्यवस्था की आवश्यकता एवं उपयोगिता को पूर्णतः अस्वीकार कर देने की चेतना जागृत करना, दूसरा- अपेक्षाकृत अधिक उपयोगी व वैज्ञानिक विकल्प खोज लेना, तीसरा- तत्कालीन व्यवस्था को समूल नष्ट कर देना एवं चौथा- नवीन विकल्प का व्यावहारिक प्रतिस्थापन करना।

आर्य समाज ने शुद्धि आंदोलन की शुरुआत की, जिसका उद्देश्य हिन्दू धर्म से अन्य धर्म में परिवर्तित हुए लोगों को पुनः हिन्दू धर्म में वापस लाना था। इसके अलावा स्वामी दयानंद ने महिलाओं के अधिकारों की भी पुरजोर वकालत की। उन्होंने महिलाओं को शिक्षा प्राप्त करने के लिए प्रेरित किया। उनके विचार और कार्यों ने भारतीय समाज में सुधार की एक नई लहर को जन्म दिया उन्होंने वेदों के प्रति एक नई जागरूकता उत्पन्न की और समाज में शिक्षा और सुधार के लिए कई महत्वपूर्ण कदम उठाए।

आर्य समाजः दशा और दिशा -

आर्य समाज, जो सार्वाधिक लोकप्रिय समाज सिद्ध हुआ, ब्रह्म समाज और प्रार्थना समाज की तुलना में अधिक राष्ट्रवादी, विदेशी धर्मों के प्रति अधिक आक्रमणकारी रुख रखनेवाला और उग्र विचारवाला आंदोलन था जो मूलतः एक क्रांतिकारी समाज था। आर्य समाज का महत्व इस बात की लेकर भी है कि उसने एक नया मार्ग प्रस्तुत किया, जो कि पूर्ववर्ती धर्मों से काफी भिन्न एवं अत्याधुनिक वैज्ञानिक विचारों से परिपूर्ण था। उसने सनातन धर्म और हिंदू समाज से अपने को अलग न रखकर उसके ही अंदर रहकर उस धर्म और समाज को पुनर्जीवित करने का सफल प्रयास किया। स्वामी दयानंद सरस्वती के किशोरावस्था के विकास के साथ-साथ ही आर्य समाज की विकास यात्रा भी शुरू होती है। जब वह चौदह वर्ष की अवस्था में ही मूर्तिपूजा का विरोध किया तो पिता के क्रोध का सामना करना पड़ा और अपने विरोधी स्वर को प्रकट किया।

आर्य समाज की स्थिति का ठीक-ठीक वर्णन करने हेतु अभी तक के समयावधि को मुख्य रूप से तीन कालखंडों में विभाजित कर सकते हैं- पहला स्वामी जी का जीवनावधि, (जन्म से लेकर मृत्यु तक, 1824-1883 ई.), दूसरा स्वामी जी के मृत्यु से लेकर भारतीय स्वतंत्रता वर्ष तक (1883-1947 ई.) और तीसरा भारत की आजादी से लेकर आज तक(1947-2025 ई.) के अलग अलग समयावधि के उपलब्धियों को जानना आवश्यक है क्योंकि इन विभिन्न समयावधि के मध्य में हुए विभिन्न क्रांति और राजनीति ने नए आयामों को जोड़ा और कई नई परम्पराओं से अवगत कराया।

भारतीय नवजागरण जो उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में प्रारंभ हुआ, में स्वामी दयानंद सरस्वती की महती भूमिका थी। तत्कालीन परिवेश में पाश्चात्य विचारधारा व सिद्धांत हावी हो रहा था और हमारे कुछ पुरोधा उसे स्वीकार कर गौरवान्वित हो रहे थे, उस समय भी स्वामी जी ने स्वदेशी और स्वराज्य की बात कही थी। उनका उद्देश्य था कि परम्परागत प्रक्रियाओं से परे होकर समझ अपनी सृजनशीलता से उत्थान का नया मार्ग स्वयं बनाए और उस पर अग्रसर हो।

स्वामी दयानंद सरस्वती ने 1867 ई. में स्वयं को सार्वजनिक जीवन में प्रस्तुत किया। उसी वर्ष हरिद्वार में कुंभ के अवसर पर धार्मिक व नवजागरण आंदोलन की शुरुआत की थी। 16 दिसंबर 1872 ई. को स्वामी जी कोलकाता गए। उस समय तमाम पाश्चात्य पद्धतियों का समाज पर व्याप्त प्रभाव और मध्यवर्गीय संघर्ष का गहरा अनुभव प्राप्त किया। उसके बाद विभिन्न शहरों का भ्रमण और योगाभ्यास के बाद पुनः अपने गुरु के आश्रम पहुंचे। उसके बाद राजा जयकिशन की प्रेरणा से 12 जून 1874 ई. को 'सत्यार्थ प्रकाश' के रूप में अपने सिद्धांतों और विचारों को इलाहाबाद में लिखना प्रारंभ किया। इस पुस्तक(सत्यार्थ प्रकाश)

का प्रथम संस्करण काशी से 1875 ई. में प्रकाशित हुआ। 20 अक्टूबर 1874 ई. को स्वामी जी मुंबई पहुंचे। विभिन्न सामाजिक परिवेश को जाना, क्षेत्रों का भ्रमण किया और 10 अप्रैल 1875 ई. को मुंबई में 'आर्य समाज' की स्थापना की। उसके बाद धार्मिक मतभेदों और सामाजिक पुनरुत्थान के संदर्भ में दिल्ली गए वहां विद्वानों से शास्त्रार्थ किया, किंतु यह प्रयास असफल रहा। स्वामी दयानंद ने 20 जून 1874 को कविवचन सुधा में एक विज्ञापन दिया कि 'स्त्रियां सब वेद पढ़ने के अधिकारी है।' इस हवाले से कहा जा सकता है कि शिक्षा के क्षेत्र में स्त्रियों को लेकर स्वामी जी ने क्रांतिकारी कदम उठाया।

शिक्षा की अलख जगाने में स्वामी जी का अभूतपूर्व योगदान रहा है। स्त्रियों की शिक्षा को लेकर नींव रखने का कार्य स्वामी जी ने किया। स्वामी जी ने जीवन में विचार, आचार और प्रचार तीनों तीनों प्रक्रियाओं को केंद्र में रखा और आर्य समाज को नए विचारों से युक्त कर उसके उत्थान को और मजबूर किया। वर्तमान परिप्रेक्ष्य में आर्य समाज में कई विकृतियां आई है, हालांकि वह समय के साथ अनायास की आती चली जाती है, परन्तु आर्य समाजी और आलोचकों का कर्तव्य है कि उसका विरेचन करते हुए उसके सकारात्मक प्रभाव का संचार करते रहें। आज के समय में स्वामी दयानंद के विचारों को सामाजिक धरातल पर पढ़ने, जानने और प्रचार करने की आवश्यकता है।

निष्कर्षतः, आर्य समाज की दशा संतोषजनक है क्योंकि इसने एक मजबूत संस्थागत ढांचा खड़ा किया है, लेकिन इसकी दिशा को पुनर्परिभाषित करने की आवश्यकता है। इसे केवल एक 'धार्मिक पंथ' या 'स्कूल चलाने वाली संस्था' के रूप में सीमित न रहकर, एक बौद्धिक आंदोलन के रूप में पुनर्जीवित होना होगा।

यदि आर्य समाज अपने मूल क्रांतिकारी स्वरूप को अपनाते हुए समकालीन वैश्विक समस्याओं (जैसे मानसिक स्वास्थ्य, सामाजिक न्याय और पर्यावरण) का वैदिक समाधान दे पाता है, तो यह आने वाले दशकों में भी मानवता का मार्गदर्शक बना रहेगा।

'वेदों की ओर लौटो' का अर्थ पीछे मुड़ना नहीं, बल्कि अपनी जड़ों से ऊर्जा लेकर भविष्य की ओर तेजी से बढ़ना है।

अदम गोंडवी की ग़ज़लों में स्त्री विषयक दृष्टिकोण

शिरोमणी यादव

शोधार्थी, हिन्दी, संत गुरुघासीदास शासकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, कुरुद, जिला, धमतरी (छ.ग.)

डॉ० प्रभात रंजन

शोध, निर्देशक (प्राध्यापक हिन्दी), शासकीय वीर सुरेन्द्र साय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, गरियाबंद, जिला, गरियाबंद (छ.ग.)

शोध-सारांश :

हिन्दी ग़ज़ल उर्दू-फारसी की परंपरागत शैली से विकसित हुई है जिसके विषयवस्तु की केंद्र में स्त्री मुख्यत: एक प्रेमिका, रूपवती स्त्री और रहस्यमयी सौन्दर्य की प्रतीक के रूप में चित्रित होती आई है। हिन्दी ग़ज़लों में भी इस परंपरा का निर्वहन किया गया है किन्तु समय के साथ-साथ इसके विषयवस्तु में भी परिवर्तन होते गए हैं। आधुनिक काल में समाजिक जागरूकता बढ़ने के कारण साहित्य की विषयवस्तु में भी बदलाव देखने को मिलते हैं। स्त्री अब कोई सौन्दर्य की प्रतीक नहीं बल्कि संवेदनशील, संघर्ष और जागरूकता के प्रतीक के रूप में जानी जाती है। समकालीन गजलकारों ने स्त्री को कोई सौन्दर्य की वस्तु न मानकर उसके व्यक्तित्व, दुख-दर्द और यथार्थ को व्यक्त किया है। अदम गोंडवी समकालीन यथार्थ वादी ग़ज़लकार हैं उन्होंने अपनी ग़ज़लों में स्त्री के संवेदनशीलता को मार्मिक अभिव्यक्ति दी है। उनकी रचनाओं में आम श्रमिक, निर्धन, पीड़ित दलित नारी की दयनीय स्थिति मुखरित होती है। उनकी ग़ज़लों में स्त्री विशेष से संबंधित उन दशाओं का चित्रण किया गया है जिसमें भारतीय समाज की पितृसत्तात्मक समांतवादी संरचना में स्त्री का भोग्या बनना, आर्थिक विषमता से ग्रसित स्त्री का देह व्यापार करने पे मजबूर होना, बलात्कार से पीड़ित स्त्री की मनोदशा तथा समाज में उस शोषित स्त्री की विडम्बना आदि शामिल है। अदम गोंडवी के ग़ज़लों में परंपरागत रूपवती नायिका के स्थान पर ग्रामीण जीवन की त्रासदी में असहाय, गरीबी, भुखमरी से पीड़ित स्त्री का अभाव और असुरक्षा के मध्य कठिनाई से जीवन यापन करने वाली नायिका है। स्त्री विषयक दृष्टिकोण के संदर्भ में अदम गोंडवी की गजलें हमारे समाजिक व्यवस्था में स्त्री की दशा पर व्यंग्यात्मक प्रहार है।

बीज-शब्द : प्रेम, सौन्दर्य, स्त्री-शोषण, आर्थिक विषमता, व्यंग्यात्मकता, दृष्टिकोण, चेतना, संवेदनशील, यथार्थ, समाजिक, राजनीतिक, समकालीन।

मूल-आलेख :

ग़ज़लों में स्त्री के कई रूपों का उल्लेख किया गया कभी वह ईश्वरीय प्रतीक के रूप में के रूप में पूजनीय मानी गई तो कभी रूपवती प्रेमिका तो कभी गणिका। प्राचीन काल से लेकर वर्तमान काल तक गजल की विषयवस्तु स्त्रियों से ही संबंधित रहे हैं किन्तु समय और समाज के अनुसार यह दृष्टिकोण बदलता रहा है। परंपरागत रूप से ग़ज़लों में स्त्री को एक माशूका या प्रेमिका के रूप में चित्रित किया गया है या यूं कहा जा सकता है कि गजल के इर्द-गिर्द स्त्री के सौन्दर्य की गाथा ही वर्णित की जाती रही है। वर्तमान स्थिति में स्त्री केवल सौन्दर्य की वस्तु तक सीमित नहीं रही, बल्कि वह समाज में एक स्वतंत्र सता स्थापित कर रही है। आज के दौर की स्त्री पुरुष केंद्रित न रह कर सौन्दर्य प्रतिरूप के साथ-साथ समाज में एक ऊंचा दर्जा स्थापित कर रही है। समकालीन गजलकारों ने पारंपरिकता को छोड़ के स्त्री के वो पक्ष को प्रस्तुत किया है जो संघर्ष से युक्त है उसकी सुंदरता अब उसकी परिश्रम, व्यक्तित्व और उसकी अस्मिता में झलकती है। भारतीय साहित्य में स्त्री का वर्णन देवी, शक्ति, त्याग की प्रतिमूर्ति, सहनशील औरत के रूप में की जाती रही है वह समाज में उपेक्षित, शोषित और पितृसत्तात्मक व्यवस्था में अपनी अस्मिता को बचाती हुई दयनीय स्थिति में पुरुष पर निर्भर दिखाई देती है किन्तु वर्तमान स्थिति में स्त्री की दशा पुरुषों के इर्द-गिर्द नहीं बल्कि उसकी अपनी एक स्वतंत्र सत्ता है।

भारतीय स्त्रियों की स्थिति पर वैशाली देशपांडे लिखती हैं "स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात नारी विषयक दृष्टिकोण में परिवर्तन हुआ। नारी समाजिक, राजनैतिक क्षेत्र में भी सहभागी होने लगी। संविधान में नारी के लिए कई कानून निर्माण किए गए। नारी जागरण की लंबी परंपरा के कारण स्वतंत्र्योत्तर कालखंड की नारी में जीवन विषयक चेतना दिखाई देती है।"[1] पहले की अपेक्षा अब स्त्री को लेकर समाजिक, राजनीतिक रूप से कई बदलाव हुए हैं। स्त्री अब डरी सहमी नहीं है वह अपना हक के लिए लड़ना भी जानती है। समकालीन हिन्दी ग़ज़लों में भी स्त्री के प्रति व्यापक दृष्टिकोण दिखाई देते हैं। समकालीन गजलकारों ने स्त्री की संवेदनशीलता को मार्मिक अभिव्ययक्ति दी है उनकी ग़ज़लों में वर्णित स्त्री कभी समाजिक संरचना से पीड़ित है तो कभी दहेज, घरेलू हिंसा, आर्थिक विपन्नता, समाजिक बंधन, रिश्ते-नाते, लैंगिग भेदभाव से पीड़ित है। अदम ने भी अपने रचनाओं में एक आबोध अल्हड़ नायिका से लेकर भूख से लाचार होती स्त्री की करुणात्मक अभिव्यक्ति की है। स्त्री-विमर्श को लेकर समकालीन गजलकारों ने जहाँ शहरी मध्यम वर्गीय स्त्रियों की दशा को अधिक अभिव्यक्ति दी है वहाँ अदम ग्रामीण निम्न वर्गीय स्त्री की समस्याओं को केंद्र में रखकर अनायास ही ध्यान आकर्षित करते हैं।

अदम जनवादी चेतना के सशक्त हस्ताक्षर हैं। उनकी रचनाएँ काल्पनिक अभिव्यक्ति नहीं है उसमें जिन्दगी का वह ताप है जिसे उन्होंने करीब से महसूस किया है। समंतवादी प्रथा में स्त्रियों को एक वस्तु के रूप में समझा जाना साथ ही उसके ऊपर होने वाले अनेक अन्याय शोषण एवं पीड़ा अदम को व्यथित करते हैं। उनकी रचनाओं में अपने आसपास होने वाली वह यथार्थ घटनाएँ हैं जो आए दिन होते रहते हैं। कुछ घटनाएँ समाचार पत्रों एवं टेलीविजन में प्रसार किए जाते हैं और कुछ घटनाएँ हमारे समाज में होती तो हैं किन्तु लोकलाज का हवाला देकर उसे दबा दिया जाता है। अदम की रचनाएँ ऐसे घटनाओं का जीवंत दस्तावेज है। वास्तविक घटनाओं को काव्यात्मक रूप देना अदम की रचना कौशल को दर्शाता है। उनकी कविता 'चमारों की गली' दलित स्त्री जीवन की काव्यात्मक गाथा है। जिसमें कथात्मक शैली में एक ग्रामीण नवयौवना युवती की करुण कथा को व्यक्त किया गया है। समांतवादी पितृसत्तात्मक समाज में एक नवयुवती को किस नजर में देखा जाता है साथ ही उसके साथ अनुचित व्यवहार किए जाने के बाद उसकी मानसिक स्थिति का वर्णन करना यह बताता है कि अदम स्त्री जीवन को निकट से महसूस करते हैं। वे गजल की विषयवस्तु की पारंपरिकता का खंडन करते हुए अपने ग़ज़लों के माध्यम से ये संदेश देते हैं कि परंपरागत रूप से ग़ज़लों में औरतों की सौन्दर्य गाथा बहुत हुई अब वो समय आ गया है कि यथार्थ की भी अभिव्यक्ति दी जाए। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि,

"मुझको नज्मों-जब्त की तालीम देना बाद में,
पहले अपनी रहबरी को आचरन तक ले चलो।
जो गजल माशूक के जल्वों से वाकिफ हो चुकी,
अब उसे बेवा के माथे की शिकन तक ले चलो।"[2]

इन शेरों के द्वारा कवि का संकेत स्त्री के संघर्षशील जीवन का रूबरू करना है। कवि के अनुसार ग़ज़लों में अब तक केवल स्त्री की सुकुमारता, रूप सौन्दर्य और दिलकश अदाओं पर ही चर्चा की जाती रही है किन्तु अब समय बदल गया है। स्त्री के जीवन का वो पक्ष जो शेष रह गया है अब उसकी चर्चा करने की जरूरत है। अदम अपने जन पक्षधरता और सपाट बयानी करने में माहिर हैं। वे अपने शब्दों के जाल में बड़ी से बड़ी बातों को आशानी से व्यक्त कर देने में कुशल हैं। इनकी रचना कुशलता पर जगदीश पीयूष लिखते हैं कि "अदम की समझदारी उस फलसफे से निकलती थी जिसे ग्राम्शी आबद्ध बुद्धिजीवी कहते थे। अदम जनता के साथ उर्ध्वाधर नहीं बल्कि क्षैतिज साझीदारी के चितेरे थे। अदम की कविताओं में ही नहीं बल्कि अदम की जिन्दगी में भी कवि और मनुष्य का जीवन और साहित्य का तथा जन और विशिष्ट का कोई भेद कभी रहा ही नहीं।"[3]

लम्बे वक्त तक गजल सौन्दर्य की अभिव्यक्ति बनी रही जिसमें प्रेम की मधुर एवं मार्मिक भाव को वर्णन किया जाता रहा है किन्तु समकालीन गजलकारों ने प्रेम की मधुरता के साथ-साथ वो यथार्थ स्थित को भी व्यक्त की है जो हमारे समाज के लिए एक विडम्बना है। हमारे देश में नारी को एक देवी के रूप में पूजनीय माना जाता है किन्तु इस सत्य से भी इनकार नहीं जा सकता कि स्त्री सदियों से उपेक्षित और अन्याय सहन करते आ रही है। युग कोई भी हो स्त्री को एक संवेदनशील वस्तु के रूप में देखी जाती रही है। इक्कीसवीं सदी की स्थिति में भी स्त्री सुरक्षित नहीं है। घर से लेकर बाहर तक स्त्री को अनेक संघर्षों से गुजरना पड़ता है। समाज में आज भी स्त्री को वो सम्मान नहीं मिलता जो उसे मिलना चाहिए। लाचार और कमजोर स्त्रियों पर हमेशा से शोषण होते आ रहा है। इक्कीसवीं सदी के इस भारत में भी समाज पुरुषसत्तात्मक मानसिकता से निकल नहीं पाई है। आज भी स्त्री ठोकर खाती हुई दयनीय जीवन जीने पे मजबूर है।

"औरत तुम्हारे पाँव की जूती की तरह है,
जब बोरियत महसूस हो घर से निकाल दो।"[4]

वर्तमान आधुनिक दौर की उपभोगतावादी संस्कृति में स्त्री की वस्तुकरण पर कवि चिंतित दिखाई देते हैं। आर्थिक विषमता और बजारवाद ने स्त्री की अस्मिता को प्रभावित किया है। वर्तमान दौर की राजनीतिक, आर्थिक और मनोरंजन की दुनिया में भी स्त्री की देह एक उपभोग की वस्तु के रूप में देखी जाती है। आर्थिक विपन्नता भी औरत देह व्यापार का एक कारण है। परिवार में महिलाओं को अक्सर भोजन जुटाने की जिम्मेदारी दे दी जाती है चाहे उसकी इन जिम्मेदारियों को पूरा करते-करते कोई अस्तित्व ही न बचे पर परिवार भूखा न रहे। पितृसत्तात्मक समाज में औरत की कोई कीमत नहीं होती वह एक वस्तु समझी जाती है जिसके पास न तो कोई अपना विचार है न ही समझ। अदम ने इन शेरों के माध्यम से समाज में औरत की उस दशा को व्यक्त किया है जिसके पास अपना कोई अस्तित्व नहीं है किन्तु समाज के सामने वह जीवन जीने पर विवश है।

"कोई भी सिरफिरा धमका के जब चाहे जिना कर ले,
हमारा मुल्क इस माने में बुधुआ की लुगाई है।
ये रोटी कितनी महँगी है ये वो औरत बतायेगी,
कि जिसने जिस्म गिरवी रखके कीमत चुकाई है।"[5]
"हुस्न की मासूमियत की जद में रोटी आ गयी
चाँदनी की छाँव में भी फूल अंगारे हुए।"[6]

वर्तमान स्थिति में स्त्रियों ने पुरुषों के समकक्ष ही हर क्षेत्र में अनेक क्रांतिकारी कार्य करने में सक्षम हैं स्त्री अब घर की चार दीवारी के अंदर कैद होना नहीं चाहती बल्कि उसके विचार उसकी कौशल क्षमता से वे हर मुकाम हासिल करना चाहती है। भारतीय समाज की यह सबसे बड़ी मिथ है कि स्त्री घर की काम के साथ परिवार का पालन पोषण करेगी और पुरुष आर्थिक अर्जन करेगा। समाज में स्त्री को लेकर जो नजरिया है अब बदलने लगा है जब स्त्री की बात आती है तो अदम महिला साहित्यकारों की सराहना करने से भी नहीं चूकते। अमृता प्रीतम की विद्रोही स्वर कवि को प्रभावित करती हैं। नारी चेतना से समृद्ध उनकी रचनाओं की सराहना अदम अपने ग़ज़लों के माध्यम से करते हैं।

"इंद्रधनुषी रंग में महकी हुई तहरीर है।
अमृता की शायरी इक बोलती हुई तस्वीर है।
बारहा दुनिया में जिस औरत को रुसवाई मिली,
तेरी नज्मों में वो बर्गे-गुल नहीं शमशीर है।"

सामंतवादी प्रथा हो चाहे वर्तमान दौर की ग्रामीण स्थिति औरतें जहाँ बड़े-बड़े बुलंदियों को हासिल कर रही हैं किन्तु कुछ वर्ग में आज भी देखी जा सकती है कि वह शोषित एवं पीड़ित हो रहीं हैं। आज भी लड़की दहेज के लिए जलाई जा रही है। महानगर से लेकर गाँव तक स्त्री आज भी सुरक्षित नहीं है। स्त्री को लेकर कई शक्त कानून बनने के बाद भी आज बलात्कार जैसे संवेदनशील अपराध दिन-प्रतिदिन बढ़ते जा रहे हैं। अदम शासन व्यवस्था पर व्यंग्य करते हैं कि आज के इक्कीसवीं सदी में जब हम अनेक क्रांतिकारी कार्य कर रहे हैं नई-नई ऊँचाई को छू रहे हैं जिसमें स्त्रियों की भी भागीदारी समान है फिर भी आज स्त्रियों पे हो रहे अत्याचार का जिम्मेदार कौन है? अदम की यह शेर सरकारी व्यवस्था पर एक सवाल छोड़ती है।

"गाँव जिसमें आज पांचाली उघारी जा रही।
या अहिंसा की जहाँ पर नथ उतारी जा रही।
हैं तरसते कितने ही मंगल लँगोटी के लिए
बेंचती हैं जिस्म कितनी कृष्ना रोटी के लिए।" [8]

साहित्य में स्त्रियों की हर स्थिति का वर्णन किया गया है। इस विषय में वैशाली देशपांडे लिखती हैं कि "साहित्य के क्षेत्र में नारी हर युग में उपस्थित रही है। उसकी उपस्थिति हमेशा पुरुषों के द्वारा और पुरुषों के लिए रही है। कभी वह देवी है, कभी कुलटा है, कभी प्रियतम-स्वर्णिम-आभा है, तो कभी मात्र छलावा। सुधार वादी दृष्टि से उपस्थित नारी 'आँचल में दूध' और आँखों में पानी लिए कर्तव्य पथ पर अग्रेषित होने पर विवश होती रही है। अपनी 'विवशता' का उदात्तीकरण करती रही सब कुछ एक कठपुतली की तरह। कठपुतली नाचती रही और फिर एक दिन वह नाचने से इनकार कर दिया। कठपुतली ने अपने डोर काट डाले....उसने अपनी नजरों से अपने आप को देखा और अब तक नचाये गए अपने नाच को देखा। उसने कहा अब मेरा नाच होगा एक नया खेल।"[9] निश्चित ही अब की स्त्री उस पारंपरिक बंधनों को तोड़ते हुए एक स्वतंत्रता की नई उड़ान भर रही हैं। वर्तमान स्थिति में जब देश में 'बेटी बचाओ बेटी पढ़ाओ' जैसे योजना महिला सशक्तीकरण को बढ़ावा देते हैं ऐसे स्थिति में भी औरतों के साथ हो रहे शोषण हमरे समाज में महिलाओं की दयनीय स्थिति को दर्शाता है। शहरी जीवन हो चाहे ग्रामीण स्त्रियों पर हो रहे अत्याचार से ये पता चलता है कि वर्तमान स्थिति में भी अदम गोंडवी की गजलें उतनी ही प्रासंगिक लगती हैं।

निष्कर्ष :

अदम गोंडवी की रचनाओं में स्त्री की दृष्टि केवल एक स्त्री विमर्श का प्रश्न नहीं है बल्कि समाजिक न्याय का प्रश्न है। उनकी ग़ज़लों में स्त्री जीवन की यथार्थ स्थिति को प्रत्यक्ष रूप से दर्शाया गया है। वे अपने ग़ज़लों के माध्यम से स्त्रियों के प्रति सरकारी व्यवस्था पर पर प्रश्नचिन्ह लगाने से पीछे नहीं हटते। उनकी रचनाओं में स्त्री कोई करुणा का पात्र नहीं बनती अपनी अस्मिता और सम्मान के लिए पाठक के लिए एक सवाल भी छोड़ जाती है। अदम की ग़ज़लों में उच्च वर्ग की शिक्षित महिला नहीं हैं बल्कि खेतों में श्रम करने वाली गरीब मजदूर स्त्री है जो उपेक्षा सहन करती हुई एक शक्ति के रूप में उपस्थित होती है। अदम की रचना कुशलता इतनी प्रखर है कि पाठक के समक्ष एक श्रमिक स्त्री की बिम्ब उभर आते हैं। वे स्त्री को संवेदना की वस्तु न मानकर एक शक्ति के रूप में देखने के पक्षपाती हैं। समाज में स्त्रियों को दनीय भाव से नहीं बल्कि एक संघर्षशील मानवीय शक्ति के रूप में देखी जानी चाहिए। उनकी रचनाओं में स्त्री विषयक दृष्टिकोण वह परिश्रमी, त्याग, संघर्ष एवं पीड़ा सहन करती हुई स्त्री है।

संदर्भ-ग्रंथ :

1. वैशाली देशपांडे, स्त्रीवाद और महिला उपन्यासकार, विकास प्रकाशन: कानपुर 2007. पृ.68.
2. ओम निश्चल, धरती की सतह पर: अदम गोंडवी की गजलें, यश पब्लिकेशंस: नई दिल्ली 2020.पृ. 39.
3. जगदीश पीयूष, अदम गोंडवी: अदम्य आक्रोश के कवि, कितबवाले प्रकाशन: नई दिल्ली 2018. पृ. 139.
4. ओम निश्चल, धरती की सतह पर: अदम गोंडवी की गजलें, यश पब्लिकेशंस: नई दिल्ली 2020.पृ. 48.
5. ओम निश्चल, धरती की सतह पर: अदम गोंडवी की गजलें, यश पब्लिकेशंस: नई दिल्ली 2020.पृ. 56.
6. ओम निश्चल, धरती की सतह पर: अदम गोंडवी की गजलें, यश पब्लिकेशंस: नई दिल्ली 2020.पृ. 78.
7. ओम निश्चल, धरती की सतह पर: अदम गोंडवी की गजलें, यश पब्लिकेशंस: नई दिल्ली 2020.पृ. 73.
8. ओम निश्चल, धरती की सतह पर: अदम गोंडवी की गजलें, यश पब्लिकेशंस: नई दिल्ली 2020.पृ. 104.
9. वैशाली देशपांडे, स्त्रीवाद और महिला उपन्यासकार, विकास प्रकाशन: कानपुर 2007. पृ. 07.

काशी का धार्मिक एवं सांस्कृतिक महत्व : एक ऐतिहासिक एवं समकालीन अध्ययन

प्रो० प्रसून दत्त सिंह

आचार्य, संस्कृत विभाग, महात्मा गाँधी केन्द्रिय विश्वविद्यालय, बिहार

उपोद्घात

उत्तर प्रदेश भारतीय संस्कृति, धर्म तथा सभ्यता का प्रमुख केन्द्रबिन्दु रहा है। यहाँ स्थित धार्मिक एवं सांस्कृतिक नगरों ने भारतीय आध्यात्मिक चेतना को प्राचीन काल से दिशा और दशा प्रदान की है। काशी इन नगरों में सर्वाधिक प्राचीन एवं महत्त्वपूर्ण नगरी मानी जाती है। मोक्षदायिनी काशी नगरी को भारतीय सांस्कृतिक पुनर्जागरण का केन्द्र कहा जाता है। पौराणिक तथा ऐतिहासिक स्रोतों में काशी का विस्तृत वर्णन उपलब्ध होता है। यह नगरी केवल धार्मिक दृष्टि से ही नहीं, बल्कि सांस्कृतिक, शैक्षिक, आर्थिक तथा पर्यटनीय दृष्टि से भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। अद्यतन समय में काशी विश्वनाथ धाम कॉरिडोर, घाटों के पुनर्विकास, गङ्गा संरक्षण तथा स्मार्ट सिटी परियोजनाओं के माध्यम से काशी का आधुनिक स्वरूप विकसित हो रहा है। वर्तमान शोधपत्र में काशी के ऐतिहासिक, धार्मिक, सांस्कृतिक तथा आधुनिक स्वरूप का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

मुख्य शब्द: काशी, वाराणसी, गङ्गा, विश्वनाथ मन्दिर, घाट, धार्मिक पर्यटन एवं काशी।

प्रस्तावना

भारतवर्ष को धर्म और अध्यात्म की भूमि है। यहाँ के तीर्थस्थल केवल पूजा-अर्चना के केन्द्र नहीं, बल्कि संस्कृति, दर्शन, शिक्षा, कला तथा सामाजिक चेतना के भी प्रमुख केन्द्र रहे हैं। उत्तर प्रदेश भारत का ऐसा प्रदेश है जहाँ भारतीय संस्कृति का मूल स्वरूप आज भी जीवन्त दिखाई देता है। गङ्गा के तट पर स्थित काशी नगरी भारतीय सभ्यता की शाश्वतता तथा निरन्तरता का प्रतीक है। काशी को विश्व की प्राचीनतम जीवित नगरी माना जाता है। यह नगर हजारों वर्षों से निरन्तर धार्मिक, सांस्कृतिक तथा आध्यात्मिक गतिविधियों का केन्द्र बना हुआ है। वैदिक साहित्य, पुराण, रामायण, महाभारत तथा अनेक संस्कृत ग्रन्थों में इसका उल्लेख प्राप्त होता है। धार्मिक दृष्टि से इसे भगवान शिव की नगरी तथा मोक्ष प्रदान करने वाला तीर्थ माना गया है।

काशी की महिमा केवल धार्मिक आस्था तक सीमित नहीं है। यह भारतीय सङ्गीत, साहित्य, दर्शन, संस्कृत शिक्षा तथा कला का भी प्रमुख केन्द्र रही है। यहाँ की गङ्गा आरती, घाट, मन्दिर, लोकजीवन तथा आध्यात्मिक वातावरण विश्वभर के लोगों को आकर्षित करते हैं। आधुनिक काल में यह नगर धार्मिक पर्यटन और सांस्कृतिक पुनर्जागरण का भी केन्द्र बन चुका है।

काशी का ऐतिहासिक स्वरूप

काशी का इतिहास अत्यन्त प्राचीन है। वैदिक साहित्य में 'काशी' शब्द का अनेक स्थानों पर उल्लेख मिलता है। ऋग्वेद में ''आप इव काशिना संगृभीता:''[1], ''मघवन् काशिरित्ते''[2] तथा शतपथ ब्राह्मण में ''यज्ञ: काशीनां भरत: सात्वतामिव''[3] आदि में काशी का साक्षात् उल्लेख काशी की प्राचीनता का अनन्य प्रमाण है। पुराणों में इसे शिव की प्रिय नगरी कहा गया है। वायुपुराण[4] सम्भवत: वह प्राचीनतम साहित्यिक ग्रन्थ है जो बनारस का वर्णन एक तीर्थ के रूप में करता है। मत्स्यपुराण[5] और कूर्मपुराण[6] भी बनारस को एक महान शैव तीर्थ के रूप में वर्णित करते हैं। कर्नाटक के धारवाड़ जिले में देवगिरि[7] से प्राप्त 600 ईस्वी के एक शिलालेख में बनारस की पवित्रता का वर्णन है और इस तीर्थ के गौओं तथा ब्राह्मणों को अत्यधिक महत्व दिया गया है। बनारस शहर, जो एक प्रसिद्ध शैव तीर्थ है, उत्तर प्रदेश में गङ्गा के बाएं तट पर उत्तर-पूर्व में वरुणा और दक्षिण-पूर्व में असि नदियों के बीच स्थित है। नारदपुरण एवं अग्निपुराण में काशी की सीमा के वारे में उल्लेख मिलता है-

द्वियोजनमथार्द्धं च पूर्वपश्चिमत: स्थितम। अर्ध्वयोजनविस्तीर्णं दक्षिणोत्तरत: स्मृतम्।।
वरणासिर्नदी यावदसि: शुष्कनदी शुभे। एष क्षेत्रस्य विस्तार: प्रोक्तो देवेन शम्भुना।।
अयनं तूत्तरं ज्ञेयं तिमिचण्डेश्वरं तत:। दक्षिणं शङ्कुकर्णं तु ध्कारं तदनन्तरम्।।[8]

अर्थात् काशी पूर्व-पश्चिम ढाई योजन (दस कोस) लम्बी तथा दक्षिणोत्तर आध योजन (दो कोस) चौड़ी है। भगवान् शङ्करने इसका वरणासे शुष्कनदी असीतक बतलाया है। इसके उत्तरमें अयन तथा तिमिचण्डेश्वर एवं दक्षिणमें शङ्कुकर्ण एवं ऊँ कारेश्वर हैं।

ऋग्वेद[9] में ऋषि प्रतर्दन को 'काशिराज' कहा गया है। अथर्ववेद[10] में 'वर्णावती' नदी का उल्लेख है, जिसका अर्थ है वरणा नदी से युक्त, जो सम्भवत: बाद में वाराणसी के रूप में प्रसिद्ध हुई। वाराणसी नाम दो नदियों वरणा और असि के सङ्गम से बना है, जो क्रमश: इस पवित्र स्थान के उत्तर-पूर्व और

दक्षिण-पूर्व में बहती थीं। छठी-पाँचवीं शताब्दी ईसा पूर्व में काशी एक महाजनपद था। अङ्गुत्तर निकाय[11] के सोलह महाजनपदों की सूची में काशी शामिल है और जातक कथाएँ इसे राजनीतिक सत्ता के केन्द्र के रूप में दर्शाती हैं। धीरे-धीरे यह एक प्रमुख व्यापारिक केन्द्र बन गया और इसका यह शहरी स्वरूप प्रारम्भिक ईसाई युग तक बना रहा।

काशी का ऐतिहासिक महत्त्व केवल धार्मिक कारणों से नहीं, बल्कि राजनीतिक और सांस्कृतिक कारणों से भी रहा है। प्राचीन काल में यह शिक्षा, व्यापार तथा कला का प्रमुख केन्द्र था। यहाँ संस्कृत अध्ययन, वेदाध्ययन तथा शास्त्रार्थ की समृद्ध परम्परा विकसित हुई। कुट्टनीमतम् जैसे संस्कृत ग्रन्थों में वाराणसी की समृद्धि, विद्वत्ता तथा सांस्कृतिक जीवन का अत्यन्त सुन्दर वर्णन प्राप्त होता है। वहाँ इसे सम्पूर्ण पृथ्वी का आभूषण कहा गया है-

अस्ति खलु निखिलभूतलभूषणभूता विभूतिगुणयुक्ता।
मुक्ताभियुक्तजनता नगरी वाराणसी नाम।।
अनुभवतामपि यस्यामुपभोगान् कामतः शरीरवताम।
शशधरखण्डविभूषितदेहलयः किल न दुष्प्रापः।।
चन्द्रविभूषितदेहा भूतिरताः सद्भुजङ्गपरिवाराः।
वारस्त्रियोऽपि यस्यां पशुपतितनुतुल्यतां याताः।।
अतितुङ्गसुरनिकेतनशिखरसमुत्क्षिप्तपवनचलिताभिः।
मञ्जरितमिव विराजति यत्र नभो वैजयन्तीभिः।।[12]

काशी में वस्त्र निर्माण एक प्रमुख उद्योग था। उस समय 'कासिकुत्तम' (काशी में बना कपड़ा) शब्द बहुत प्रचलित था।[13] जातक कथाओं में काशी के वस्त्रों को 'काशीय' कहा गया है,[14] जो अपनी कोमलता और सूक्ष्म बुनाई के लिए प्रसिद्ध थे। बनारस के आस-पास के क्षेत्र कपास उत्पादन के लिए विख्यात थे, जहाँ महिलाएँ खेतों की रक्षा में संलग्न रहती थीं।[15] पतञ्जलि ने पाणिनी के सूत्र पर टिप्पणी करते हुए कहा है कि काशी का वस्त्र मथुरा के वस्त्र की तुलना में बहुत उत्कृष्ट और महंगा था, भले ही उनकी लम्बाई और चौड़ाई समान हो।[16] कुषाण काल तक काशी वस्त्र निर्माण का केन्द्र बनी रही, जहाँ मलमल (muslin) का उत्पादन भी प्रचुर मात्रा में होता था।[17] वस्त्रों के साथ-साथ, महाजनपद काल के दौरान काशी सुगन्धित मसालों के व्यापार का भी बड़ा केन्द्र थी और राजगृह तथा तक्षशिला जैसे शहरों से सड़कों के माध्यम से जुड़ी हुई थी।[18] उक्त वर्णनों से स्पष्ट होता है कि प्राचीन काशी केवल धार्मिक नगर नहीं, बल्कि समृद्ध एवं विकसित नगरी थी।

राजनीतिक परिवर्तन और पतन

प्रसेनजित के पिता ने अपनी पुत्री के बिंबिसार (मगध नरेश) के साथ विवाह के अवसर पर काशी को दहेज में दिया था, लेकिन काशी को पूर्णतः मगध साम्राज्य में मिलाने का श्रेय अजातशत्रु को जाता है।

तीसरी शताब्दी के बाद काशी की शहरी अर्थव्यवस्था का पतन होने लगा। महाभारत के उद्योगपर्व और विष्णुपुराण में उल्लेख है कि कृष्ण द्वारा काशी को जला दिया गया था। वायुपुराण के अनुसार, शिव के गण शनिकुम्भश के श्राप के कारण वाराणसी वीरान हो गई थी। मध्यकाल के प्रारम्भिक दौर के मत्स्यपुराण (अध्याय 185) में काशी के पतन और लोगों की निर्धनता का वर्णन है। इस शहरी पतन के कारणों में सूखा, अकाल, आक्रमण, नदियों के मार्ग में परिवर्तन, महामारी, भारी कर और शहरों का जलाया जाना प्रमुख थे।

धार्मिक एवं आध्यात्मिक महत्त्व

काशी का सबसे प्रमुख स्वरूप उसकी धार्मिक और आध्यात्मिक महत्त्व है। हिन्दू धर्म में यह विश्वास है कि काशी में मृत्यु होने पर मनुष्य को मोक्ष की प्राप्ति होती है। स्कन्दपुराण के काशीखण्ड में कहा गया है कि यह नगरी पृथ्वी पर स्थित होकर भी स्वर्ग से अधिक श्रेष्ठ है।

भूमिष्ठापि न यात्र भूस्त्रिदिवसोऽप्युच्चौरधःस्थापि या।
या बद्धा भुवि मुक्तिदा स्युरमृतं यस्यां मृता जन्तवः।।
या नित्यं त्रिजगत्पवित्रतटिनी तीरे सुरैः सेव्यते।
सा काशी त्रिपुरारिराजनगरी पायादपायाज्जगत्।।[19]

नारदपुराण में काशी को "भुवनत्रयसारभूता" अर्थात् तीनों लोकों का सार कहा गया है।[20] यह माना जाता है कि भगवान शिव स्वयं यहाँ निवास करते हैं और भक्तों को मोक्ष प्रदान करते हैं। गङ्गा नदी की पवित्रता और शिव की उपस्थिति के कारण काशी भारतीय आध्यात्मिक चेतना का सर्वोच्च केन्द्र बन गई है।

काशी का धार्मिक जीवन अत्यन्त विविधतापूर्ण है। यहाँ नित्य पूजा, आरती, कथा, भजन, यज्ञ तथा अन्य धार्मिक अनुष्ठान सम्पन्न होते हैं। गङ्गा आरती यहाँ की प्रमुख धार्मिक गतिविधि है, जो श्रद्धालुओं और पर्यटकों के लिए अत्यन्त आकर्षक है।

धार्मिक दृष्टि से काशी का सम्बन्ध केवल शैव परम्परा से ही नहीं, बल्कि वैष्णव, शाक्त तथा अन्य सम्प्रदायों से भी है। यहाँ स्थित अन्नपूर्णा मन्दिर, कालभैरव मन्दिर, विशालाक्षी मन्दिर तथा सङ्कटमोचन मन्दिर विभिन्न धार्मिक परम्पराओं का प्रतिनिधित्व करते हैं।

काशी विश्वनाथ मन्दिर का महत्त्व

काशी विश्वनाथ मन्दिर वाराणसी का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण धार्मिक केन्द्र है। यह द्वादश ज्योतिर्लिङ्गों में एक माना जाता है। धार्मिक विश्वास के अनुसार यहाँ भगवान शिव विश्व के स्वामी 'विश्वनाथ' के रूप में विराजमान हैं। इस मन्दिर का इतिहास सङ्घर्ष और पुनर्निर्माण की गाथा प्रस्तुत करता है। मध्यकाल में इस मन्दिर को अनेक बार ध्वस्त किया गया, किन्तु प्रत्येक बार इसका पुनर्निर्माण हुआ। ११९४ ई. में कुतुबुद्दीन ऐबक द्वारा आंशिक विनाश, १३वीं शताब्दी में पुनर्निर्माण, १४९० में सिकन्दर लोदी द्वारा पूर्ण विनाश, १५८५-९० में नारायण भट्ट तथा जयपुर नरेश मान सिंह के संरक्षण में पुनर्निर्माण, और १६६९ में औरङ्गजेब के आदेश से पूर्ण विनाश के बाद ज्ञानवापी मस्जिद का निर्माण। वर्तमान भव्य मन्दिर १७८० में इन्दौर की रानी अहिल्याबाई होल्कर द्वारा बनवाया गया, जिसमें ब्रह्मा, विष्णु और शिव के प्रतीक स्वरूप काला पत्थर का शिवलिङ्ग चाँदी की वेदी पर विराजमान है, १५.५ मीटर ऊँचा स्वर्ण-कलशित शिखर महाराजा रणजीत सिंह द्वारा १८३५ में चढ़ाया गया तथा पास ही पवित्र ज्ञानवापी कूप है, जहाँ किंवदन्ती है कि १६६९ में शिवजी ने शरण ली थी। १३ दिसम्बर २०२१ को प्रधानमन्त्री नरेन्द्र मोदी द्वारा उद्घाटित काशी विश्वनाथ धाम कॉरिडोर ने ५०,००० वर्ग मीटर का विशाल परिसर तैयार किया है, जो प्राचीन आस्था को आधुनिक विरासत संरक्षण और सांस्कृतिक पर्यटन के साथ जोड़ते हुए हिन्दू पुनरुत्थान का जीवन्त प्रतीक बन गया है।

आधुनिक काल में काशी विश्वनाथ धाम कॉरिडोर परियोजना ने इस मन्दिर को नया स्वरूप प्रदान किया है। यह परियोजना मन्दिर को सीधे गङ्गा घाट से जोड़ती है। यह परियोजना भारतीय सांस्कृतिक पुनर्जागरण का प्रतीक मानी जाती है।

काशी के घाट और उनका सांस्कृतिक महत्त्व

वाराणसी के घाट इसकी सांस्कृतिक पहचान हैं। गङ्गा नदी के तट पर स्थित ये घाट धार्मिक जीवन, लोकसंस्कृति तथा सामाजिक परम्पराओं के केन्द्र हैं। वाराणसी में लगभग 88 घाट हैं, जिनमें स्नान, पूजा, ध्यान तथा अन्त्येष्टि जैसे अनुष्ठान सम्पन्न होते हैं। असि घाट, दशाश्वमेध घाट, मणिकर्णिका घाट, पञ्चगङ्गा घाट तथा आदि केशव घाट विशेष रूप से प्रसिद्ध हैं। इन्हें "पञ्चतीर्थी" कहा जाता है।

दशाश्वमेध घाट वाराणसी का सबसे प्रमुख घाट है। यहाँ प्रतिदिन होने वाली गङ्गा आरती विश्वभर के लोगों को आकर्षित करती है। मणिकर्णिका घाट हिन्दू अन्त्येष्टि संस्कारों का प्रमुख केन्द्र है। धार्मिक विश्वास के अनुसार यहाँ दाह संस्कार होने पर मोक्ष की प्राप्ति होती है।

असि घाट सांस्कृतिक गतिविधियों का प्रमुख केन्द्र है। यहाँ योग, संगीत तथा धार्मिक आयोजनों का आयोजन होता है। पंचगङ्गा घाट वैष्णव परम्परा से जुड़ा हुआ है तथा आदि केशव घाट को अत्यन्त प्राचीन माना जाता है।

घाट केवल धार्मिक स्थल नहीं, बल्कि भारतीय लोकजीवन के दर्पण भी हैं। यहाँ साधु-सन्त, तीर्थयात्री, कलाकार, नाविक तथा स्थानीय जनजीवन एक साथ दिखाई देता है। काशी के घाट भारतीय संस्कृति की जीवन्तता और निरन्तरता का प्रतीक हैं।

आधुनिक विकास और धार्मिक पर्यटन

- श्री काशी विश्वनाथ धाम: रू. 355 करोड़ की लागत से 5.5 एकड़ में फैला यह कॉरिडोर मन्दिर को सीधे गङ्गा नदी से जोड़ता है। इसके निर्माण से तीर्थयात्रियों के लिए गङ्गा स्नान के बाद सीधे दर्शन करना सुलभ हो गया है।

- नमो घाट: रू. 95.2 करोड़ की लागत से पुनर्विकसित इस घाट पर कैफेटेरिया, हेरिटेज म्यूरल और व्यूइंग प्लेटफॉर्म जैसी आधुनिक सुविधाएँ मौजूद हैं।
- जनवरी 2023 में विश्व के सबसे लम्बे रिवर क्रूज 'डट गङ्गा विलास' की शुरुआत हुई। इसके अतिरिक्त, पर्यटकों के लिए गङ्गा के रेतीले तट पर 'टेण्ट सिटी' विकसित की गई है, जो अक्टूबर से जून तक सञ्चालित होती है।

- मणिकर्णिका घाट पुनर्नवीकरण: 84 घाटों में से मानिकर्णिका घाट अन्तिम संस्कार का प्रमुख केन्द्र है और यहाँ अन्तिम सांस लेने वाले को मोक्ष की मान्यता है। मानिकर्णिका घाट पुनर्विकास परियोजना घाट को स्वच्छ, व्यवस्थित और आधुनिक बनाने का लक्ष्य रखती है, साथ ही डोम समुदाय की आजीविका, सुरक्षा और पवित्र परम्पराओं का पूरा सम्मान करती है। प्रथम चरण में सड़क किनारा, प्रवेश, शिव मन्दिर और श्मशान संरचना का नवीनीकरण होगा, जबकि द्वितीय चरण में अतिरिक्त श्मशान सुविधाएँ, स्नान घाट, मानिकर्णिका कुण्ड, विष्णुपादुका व दत्तात्रेय पादुका स्थल का संरक्षण तथा गली का सुधार शामिल है। परियोजना लकड़ी भण्डारण को व्यवस्थित करेगी, धुएँ व कचरे को गङ्गा में जाने से रोकेगी, प्रतीक्षा कक्ष, बैठक क्षेत्र, जल-सीवरेज-ड्रेनेज व प्रकाश व्यवस्था बनाएगी और समुदाय शौचालय, स्नान क्षेत्र व अपशिष्ट प्रबन्धन उपलब्ध कराएगी। इससे डोम समुदाय को बेहतर आवास-शिक्षा-आर्थिक अवसर मिलेंगे, सांस्कृतिक विरासत संरक्षित रहेगी, श्रद्धालुओं का अनुभव सुगम बनेगा, पर्यावरण सुधरेगा और प्राचीन परम्पराओं के साथ आधुनिक डिजाइन का सामञ्जस्य बनेगा, ताकि वाराणसी की आध्यात्मिक गरिमा आने वाली पीढ़ियों के लिए अक्षुण्ण बनी रहे।

वर्तमान अवसंरचना और विकास

- सड़क एवं योगायोग: 2014 से मार्च 2025 के बीच नेशनल हाईवे, स्टेट हाईवे और रिङ्ग रोड परियोजनाओं के लिए 20,983.43 करोड़ आवण्टित किए गए। प्रयागराज और वाराणसी के बीच यात्रा को सुगम बनाने के लिए रू. 2,447 करोड़ की लागत से 73 किलोमीटर लम्बा छह-लेन वाला NH19 बनाया गया।[22]
- स्मार्ट सिटी और शहरी सेवाएँ: वाराणसी स्मार्ट सिटी और शहरी परियोजनाओं के तहत रू. 590 करोड़ का निवेश किया गया है। शहरी यातायात को बेहतर बनाने के लिए गोदौलिया में 375 वाहनों की क्षमता वाली चार मञ्जिला मल्टीलेवल पार्किङ्ग बनाई गई है।[23]
- स्वच्छता और गङ्गा संरक्षण: गङ्गा को प्रदूषण मुक्त करने के लिए 120 डस्क क्षमता वाला गोइठा सीवेज ट्रीटमेण्ट प्लाण्ट (217.57 करोड़) और 55 MLD क्षमता वाला नमामि गङ्गे STP (300 करोड़) स्थापित किया गया है। साथ ही, डीजल/पेट्रोल नावों को 29.7 करोड़ की लागत से CNG में परिवर्तित किया गया है।

आर्थिक और सांस्कृतिक पुनरुद्धार

स्थानीय कला और शिल्प को वैश्विक पहचान दिलाने के लिए ठोस कदम उठाए गए हैं:

- दीनदयाल हस्तकला: 300 करोड़ की लागत से निर्मित यह ट्रेड फेसिलिटेशन सेंटर बुनकरों और शिल्पकारों को अपने उत्पाद बेचने और प्रदर्शित करने के लिए मञ्च प्रदान करता है।
- जीआई (GI) टैग: बनारसी साड़ी, सॉफ्ट स्टोन जाली कार्य, गुलाबी मीनाकारी और लकड़ी के खिलौनों जैसे उत्पादों को जीआई टैग मिलने से उनकी सांस्कृतिक और आर्थिक प्रामाणिकता सुरक्षित हुई है।

11 अप्रैल को प्रधानमन्त्री मोदी ने काशी में 3,880 करोड़ की विकास परियोजनाओं का शुभारम्भ किया। यह प्राचीन शहर आधुनिक रूपान्तरण प्राप्त कर रहा है। सड़कें चौड़ी की जा रही हैं, स्कूलों का उन्नयन हो रहा है और नए विद्युत स्टेशन स्थापित किए जा रहे हैं। काशी अपनी जड़ों को जीवित रखते हुए आगे बढ़ रही है। 2014 से मार्च 2025 तक काशी विकास के तहत 580 परियोजनाएँ शुरू की गईं, जिनमें कुल निवेश 48,459 करोड़ है। लक्ष्य है, बुनियादी ढाँचे को मजबूत करना, विरासत को संरक्षित करना और वाराणसी में पर्यटन को बढ़ावा देना।[24]

वर्तमान काशी प्राचीन और आधुनिक का अनुपम सङ्गम है। जहाँ एक ओर गङ्गा आरती की ज्योति और मन्दिर की घण्टियाँ सदियों पुरानी आस्था जगाती हैं, वहीं कॉरिडोर और सुविधाएं इसे वैश्विक पर्यटन केन्द्र बना रही हैं। यह मात्र तीर्थ नहीं, बल्कि भारत की सांस्कृतिक पुनर्जागरण की मिसाल है- जहां विकास विरासत को निगलता नहीं, बल्कि निखारता है। काशी आज भी "अविनाशी" है, लेकिन अब अधिक भव्य, सुगम और विश्व-स्तरीय रूप में। यह स्वरूप न केवल श्रद्धालुओं को मोक्ष की राह दिखाता है, बल्कि संस्कृति प्रेमियों को भी प्रेरित करता है।

निष्कर्ष

काशी भारतीय संस्कृति, धर्म तथा सभ्यता की अमूल्य धरोहर है। यह नगरी केवल एक तीर्थस्थल नहीं, बल्कि भारतीय आध्यात्मिक चेतना, सांस्कृतिक परम्परा तथा ज्ञान परम्परा का जीवन्त प्रतीक है। प्राचीन काल से लेकर आधुनिक युग तक काशी ने भारतीय समाज को धार्मिक, सांस्कृतिक तथा दार्शनिक दिशा प्रदान की है। यहाँ के मन्दिर, घाट, गङ्गा, सङ्गीत, साहित्य और लोकजीवन भारतीय संस्कृति की निरन्तरता को प्रकट करते हैं।

आधुनिक विकास योजनाओं ने काशी को नई पहचान प्रदान की है। धार्मिक पर्यटन, आधारभूत संरचना और सांस्कृतिक संरक्षण के माध्यम से यह नगर वैश्विक स्तर पर आकर्षण का केन्द्र बन चुका है। तथापि यह आवश्यक है कि विकास की प्रक्रिया में इसकी मूल आध्यात्मिक और सांस्कृतिक पहचान सुरक्षित रहे। अतः कहा जा सकता है कि काशी भारतीय संस्कृति के 'अविनाशी' स्वरूप का प्रतीक है। यह नगरी अतीत और वर्तमान के मध्य एक सशक्त सेतु के रूप में भारतीय सभ्यता की गौरवगाथा को निरन्तर आगे बढ़ा रही है।

सन्दर्भग्रन्थसूची

- ऋग्वेदसंहिता - वैदिक संशोधन मण्डल, तृतीय भाग, पुणे, 1941
- अथर्ववेद - सम्पा. विश्वबन्धु, प्रथम भाग, विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान, होशिआरपुर, 1960

- कूर्मपुराण – गीता प्रेस, गोरखपुर, 2019
- वायुपुराण – सम्पा. प. श्रीराम शर्मा आचार्य, संस्कृति संस्थान, उत्तरप्रदेश, 1987
- नारदपुराण – गीता प्रेस, गोरखपुर, 2019
- अग्निपुराण – व्याख्या. आचार्य शिवप्रसाद द्विवेदी, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, 2004
- मत्स्यमहापुराण – गीता प्रेस, गोरखपुर, 2020
- स्कन्दपुराण – गुरुमण्डल ग्रन्थमाला, कोलकाता, 1960
- कुट्टनी मत – अनु. अत्रिदेव विद्यालङ्कार, इन्डोलॉजिकल वुक हाउस, वाराणसी, 1883
- Epigraphia Indica, Vol. XI, Archaeological Survey of India, New Delhi, 1981

फुटनोट

1 ऋग्वेद 7.104.8
2 ऋग्वेद 3.30.5
3 शतपथ ब्राह्मण 13.5.4.19, 21
4 वायुपुराण 30.58
5 मत्स्यपुराण 180.85
6 कूर्मपुराण 1.31–35
7 EI, XI, no. I, 1.18
8 नारदपुराण, उ. 49.19–20, अग्निपुराण 112.6
9 ऋग्वेद 10.179.2
10 अथर्ववेद 4.7.1
11 अङ्गुत्तरनिकाय 1.213, 4.252
12 कुट्टनीमत 3–6
13 जातक 1.335
14 जातक 6.500
15 जातक 6.336
16 अष्टाध्यायी 5.3.55
17 दिव्यावदान, पृ. 391
18 अङ्गुत्तरनिकाय 3.391
19 स्कन्दपुराण, काशी खण्ड, 1.1
20 वाराणसी तु भुवनत्रयसारभूता रम्या नृणां सुगतिदा किल सेव्यमाना।
21 अत्रागता विविधदुष्कृतकारिणोऽपि पापक्षये विरजसः सुमनःप्रकाशाः।।– नारदपुराण, उ. 48.13
22 https://kashi.gov.in/project-details/redevlopment-of-manikarnika-ghat
23 https://www.pib.gov.in/PressReleasePage.aspx?PRID=2122058&reg=3&lang=2
24 https://www.pib.gov.in/PressReleasePage.aspx?PRID=2122058&reg=3&lang=2
25 https://www.pib.gov.in/PressReleasePage.aspx?PRID=2122058&reg=3&lang=2

प्राचीन भारत में निजता (प्राइवेसी)

अनुराग मिश्र

शोधार्थी, ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय, दरभंगा

सारांश: समकालीन न्यायशास्त्र में निजता को स्वतंत्रता, गरिमा, स्वायत्तता तथा मानवाधिकारों के एक अनिवार्य घटक के रूप में माना जाता है। यद्यपि आधुनिक विधिक व्यवस्थाओं में, विशेषत: जस्टिस के. एस. पुट्टस्वामी बनाम भारत संघ के ऐतिहासिक निर्णय के पश्चात, निजता की अवधारणा को संवैधानिक मान्यता प्राप्त हुई है, तथापि भारत में निजता के दार्शनिक आधारों का स्रोत प्राचीन भारतीय सभ्यता में निहित है। वेद, उपनिषद, धर्मशास्त्र, स्मृतियाँ, अर्थशास्त्र, रामायण तथा महाभारत जैसे प्राचीन भारतीय ग्रंथ गोपनीयता, रहस्य-रक्षा, व्यक्तिगत गरिमा, गृहस्थ जीवन की पवित्रता तथा अनधिकृत हस्तक्षेप से संरक्षण से संबंधित विकसित विचारों की उपस्थिति को उद्घाटित करते हैं। यद्यपि प्राचीन भारतीय ग्रंथों में आधुनिक अर्थों में निजता को प्रवर्तनीय विधिक अधिकार के रूप में स्पष्ट रूप से प्रतिपादित नहीं किया गया था, तथापि उन्होंने व्यक्तिगत सीमाओं के सम्मान, शासन में गोपनीयता, वाणी में संयम तथा आध्यात्मिक स्वायत्तता से संबंधित नैतिक एवं आचारगत दायित्वों को मान्यता प्रदान की थी।

यह शोधपत्र प्राचीन भारतीय धर्मग्रंथों एवं विधिक ग्रंथों के संदर्भों के माध्यम से प्राचीन भारत में निजता की अवधारणा का अध्ययन करता है। इसमें 'आत्मन्', 'गुह्य' तथा 'मर्यादा' जैसी अवधारणाओं का निजता के दार्शनिक आधारों के रूप में विश्लेषण किया गया है तथा आध्यात्मिक निजता, घरेलू निजता, प्रतिष्ठात्मक निजता एवं राजनीतिक गोपनीयता जैसे निजता के विभिन्न आयामों का अन्वेषण किया गया है। यह अध्ययन आगे प्राचीन भारतीय दृष्टिकोणों की तुलना आधुनिक निजता न्यायशास्त्र से करता है तथा समकालीन संवैधानिक विमर्श में उनकी प्रासंगिकता को रेखांकित करता है। शोधपत्र यह प्रतिपादित करता है कि प्राचीन भारत में निजता की अवधारणा केवल व्यक्तिगत अधिकारों तक सीमित नहीं थी, बल्कि वह धर्म, नैतिकता, गरिमा तथा आत्मसंयम के व्यापक सिद्धांतों में निहित थी। अंतत: यह निष्कर्ष प्रस्तुत किया गया है कि भारत में निजता की अवधारणात्मक नींव उसकी सभ्यतागत एवं बौद्धिक परंपराओं में गहराई से अंतर्निहित है तथा डिजिटल निगरानी, आँकड़ा-संरक्षण और मानवीय गरिमा के आधुनिक युग में भी उसकी प्रासंगिकता बनी हुई है।

मुख्य शब्द: निजता, संवैधानिक निजता, आध्यात्मिक स्वायत्तता, भारतीय न्यायशास्त्र, व्यक्तिगत स्वतंत्रता।

परिचय

आधुनिक समय में प्राइवेसी को सामान्यत: व्यक्तिगत स्वतंत्रता और मानवीय गरिमा से संबंधित एक संवैधानिक तथा विधिक अवधारणा के रूप में देखा जाता है। तथापि, प्राइवेसी की जड़ें प्राचीन सभ्यताओं तक पहुँचती हैं। वैदिक साहित्य, उपनिषद, धर्मशास्त्र, स्मृतियाँ, महाकाव्य तथा राजनीतिक ग्रंथों से युक्त प्राचीन भारतीय साहित्य में प्राइवेसी, गोपनीयता, व्यक्तिगत गरिमा तथा व्यक्तिगत जीवन की पवित्रता से संबंधित विचारों का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। यद्यपि प्राचीन भारतीय ग्रंथों में "प्राइवेसी" शब्द का प्रयोग आधुनिक विधिक अर्थों में प्रत्यक्ष रूप से नहीं किया गया, फिर भी उन्होंने गोपनीयता, व्यक्तिगत स्वायत्तता, घरेलू जीवन की सुरक्षा तथा शासन और पारस्परिक संबंधों में गोपनीयता के महत्त्व को स्वीकार किया था।

समकालीन भारतीय समाज में प्राइवेसी को व्यक्ति की स्वतंत्रता और गरिमा का एक अनिवार्य अंग माना जाता है। भारत में उच्चतम न्यायालय ने जस्टिस के.एस. पुट्टस्वामी बनाम यूनियन ऑफ इंडिया प्रकरण में प्राइवेसी को संविधान के अनुच्छेद 21 के अंतर्गत एक मौलिक अधिकार के रूप में मान्यता प्रदान की। किंतु भारत में प्राइवेसी का दार्शनिक और नैतिक आधार पूर्णत: आधुनिक नहीं है। प्राचीन भारतीय सभ्यता में मानवीय गरिमा, गोपनीयता, घरेलू पवित्रता तथा व्यक्तिगत मामलों में अनावश्यक हस्तक्षेप से सुरक्षा से संबंधित अत्यंत विकसित विचार विद्यमान थे।[1] प्राचीन भारतीय समाज ने आत्मसंयम, सीमाओं के सम्मान तथा आध्यात्मिकता, शासन और पारिवारिक जीवन से जुड़े विषयों में गोपनीयता के महत्त्व पर विशेष बल दिया। आत्मन् (स्व), गुह्य (रहस्य) तथा मर्यादा (सीमाएँ) जैसी अवधारणाएँ यह दर्शाती हैं कि भारतीय बौद्धिक परंपरा सार्वजनिक जीवन से पृथक एक निजी क्षेत्र के अस्तित्व को स्वीकार करती थी।[2] यद्यपि प्राचीन भारत मुख्यत: सामुदायिक जीवन पर आधारित था, फिर भी व्यक्तिगत क्षेत्र और गोपनीय संबंधों की पवित्रता को अनेक ग्रंथों में मान्यता प्रदान की गई है। यह शोधपत्र प्राचीन भारतीय ग्रंथों के माध्यम से प्राचीन भारत में प्राइवेसी की अवधारणा का परीक्षण करने तथा आधुनिक संवैधानिक न्यायशास्त्र में उसकी प्रासंगिकता का अन्वेषण करने का प्रयास करता है। यह अध्ययन आगे यह प्रतिपादित करता है कि भारतीय परंपरा में प्राइवेसी का आधार केवल व्यक्तिगत अधिकार नहीं था, बल्कि वह धर्म, नैतिकता तथा आध्यात्मिक वैयक्तिकता जैसी व्यापक अवधारणाओं में निहित था।

प्राचीन भारत में निजता/प्राइवेसी की अवधारणा

प्राचीन भारत में प्राइवेसी की अवधारणा आधुनिक अर्थों की भाँति किसी प्रवर्तनीय विधिक अधिकार के रूप में निर्मित नहीं थी। इसके विपरीत, यह गरिमा, अनुशासन, सम्मान तथा आध्यात्मिक स्वतंत्रता से संबंधित एक नैतिक और सामाजिक सिद्धांत के रूप में विकसित हुई। प्राचीन भारतीय ग्रंथों में यह समझ स्पष्ट रूप से विद्यमान थी कि मानव जीवन के कुछ पक्ष अनावश्यक सार्वजनिक हस्तक्षेप से सुरक्षित रहने चाहिए।[3] प्राचीन भारत में प्राइवेसी को व्यापक रूप

से चार आयामों में समझा जा सकता है- आध्यात्मिक प्राइवेसी, घरेलू प्राइवेसी, प्रतिष्ठात्मक प्राइवेसी तथा राजनीतिक गोपनीयता। आध्यात्मिक प्राइवेसी का संबंध आत्मसाक्षात्कार की खोज में व्यक्ति की आंतरिक स्वायत्तता से था। घरेलू प्राइवेसी परिवार और गृह की पवित्रता से संबंधित थी। प्रतिष्ठात्मक प्राइवेसी में निंदा और अपमान से संरक्षण सम्मिलित था। राजनीतिक गोपनीयता प्रशासन और शासन में रहस्य-रक्षा पर बल देती थी।[4]

वेदों और उपनिषदों में निजता/प्राइवेसी

वेद और उपनिषद, जिन्हें सामूहिक रूप से श्रुति कहा जाता है, भारतीय दार्शनिक चिंतन की प्रारंभिक आधारशिला हैं। यद्यपि वे प्राइवेसी को विधिक अधिकार के रूप में प्रत्यक्षत: नहीं प्रस्तुत करते, तथापि वे वैयक्तिकता, आत्मचिंतन तथा पवित्र ज्ञान की गोपनीयता पर विशेष बल देते हैं। उपनिषदों में आत्मन् को व्यक्ति के अत्यंत आंतरिक तत्व के रूप में निरूपित किया गया है, जो बाहरी नियंत्रण से परे है। बृहदारण्यक उपनिषद का यह कथन-"आत्मा वा अरे द्रष्टव्य: श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य:" आत्मा को पवित्र और स्वतंत्र रूप में प्रस्तुत करता है तथा आंतरिक स्वायत्तता के ऐसे क्षेत्र की ओर संकेत करता है, जो हस्तक्षेप से मुक्त रहना चाहिए।[5]

ध्यान और चिंतन के माध्यम से ज्ञान की प्राप्ति के लिए एकांत तथा सार्वजनिक जीवन से निवृत्ति आवश्यक मानी गई, जिससे मानसिक और आध्यात्मिक प्राइवेसी के महत्त्व की स्वीकृति प्रकट होती है। प्राचीन भारतीय परंपराओं में पवित्र शिक्षाओं की गोपनीयता को लेकर कठोर अनुशासन था। आध्यात्मिक ज्ञान गुरु से शिष्य को निजी रूप से और केवल योग्य तथा अनुशासित व्यक्तियों को ही प्रदान किया जाता था। छांदोग्य उपनिषद और कठोपनिषद संकेत करते हैं कि गूढ़ शिक्षाओं का अंधाधुंध प्रकटीकरण नहीं किया जाना चाहिए।[6] ज्ञान के इस चयनात्मक प्रसार में सूचनात्मक गोपनीयता की प्रारंभिक अवधारणा निहित है। वैदिक गृहस्थ जीवन को एक पवित्र संस्था माना गया था। गृह के भीतर संपन्न होने वाले अनुष्ठानों को निजी और बाहरी हस्तक्षेप से संरक्षित माना जाता था। गृहस्थ आश्रम की अवधारणा घरेलू जीवन की स्वायत्तता और पवित्रता पर बल देती थी।[7]

धर्मशास्त्रों और स्मृतियों में निजता/प्राइवेसी

धर्मशास्त्र और स्मृतियाँ गोपनीयता, रहस्य-रक्षा तथा व्यक्तिगत गरिमा के संबंध में अधिक स्पष्ट प्रमाण प्रस्तुत करती हैं। इन ग्रंथों में सामाजिक आचरण और विधिक दायित्वों का विनियमन किया गया है, साथ ही नैतिक संयम पर विशेष बल दिया गया है। धर्मशास्त्रीय सिद्धांत "न परदारेषु चक्षु:" का अर्थ है- "दूसरे की पत्नी पर दृष्टि नहीं डालनी चाहिए।" यह सिद्धांत व्यक्तिगत और पारिवारिक सीमाओं के सम्मान को प्रतिबिंबित करता है। प्राचीन भारतीय नैतिकता में किसी अन्य व्यक्ति के घरेलू और अंतरंग क्षेत्र में हस्तक्षेप से बचने पर बल दिया गया था।

मनुस्मृति और निजता/प्राइवेसी

मनुस्मृति में व्यक्तिगत और राजनीतिक विषयों में गोपनीयता तथा संयम के अनेक उल्लेख मिलते हैं। इसमें शासकों को शासन-संबंधी विचार-विमर्श निजी रूप से करने तथा राज्य के गोपनीय विषयों का प्रकटीकरण न करने की सलाह दी गई है।8 राजनीतिक गोपनीयता को स्थिरता और सुरक्षा के लिए आवश्यक माना गया। मनुस्मृति ने निंदा, मानहानि तथा दूसरों के मामलों में अनावश्यक हस्तक्षेप की भी निंदा की है। किसी व्यक्ति के सम्मान को ठेस पहुँचाने वाली वाणी दंडनीय मानी गई।घ इससे प्रतिष्ठात्मक प्राइवेसी और गरिमा की सुरक्षा की अवधारणा स्पष्ट होती है। ग्रंथ में पारिवारिक सम्मान और गृह-सीमाओं के सम्मान पर भी बल दिया गया है। घरेलू विषयों को बिना उचित कारण सार्वजनिक नहीं किया जाना चाहिए।[10] मनुस्मृति 7.148 में कहा गया है:

"यस्यमन्त्रं न जानन्ति समागम्य पृथग्जना:।
स कृत्स्नां पृथिवीं भुङ्क्ते कोशहीनोऽपि पार्थिव:।।"

यह श्लोक शासन में गोपनीयता और रहस्य-रक्षा के महत्त्व को प्रतिपादित करता है। राजनीतिक विमर्श निजी रहने चाहिए और अनधिकृत प्रकटीकरण से सुरक्षित होने चाहिए। यह सूचनात्मक प्राइवेसी और गोपनीय राजकीय मामलों की प्रारंभिक अवधारणा को प्रतिबिंबित करता है।

याज्ञवल्क्य स्मृति

याज्ञवल्क्य स्मृति में न्यायिक गोपनीयता और निष्पक्षता से संबंधित विधिक सिद्धांतों का विकास किया गया। न्यायाधीशों और अधिकारियों से अपेक्षा की गई कि वे संवेदनशील विवादों और प्रस्तुत साक्ष्यों की गोपनीयता बनाए रखें।[11] स्मृति ने झूठे आरोपों और दुर्भावनापूर्ण प्रकटीकरण के दुष्परिणामों को भी स्वीकार किया। मानहानि के लिए दंड का प्रावधान व्यक्ति की प्रतिष्ठा और सामाजिक स्थिति के प्रति चिंता को प्रकट करता है।[12] याज्ञवल्क्य स्मृति 1.344 में कहा गया है-"मन्त्रमूलं हि राज्यं स्यात।" अर्थात् "राज्य का आधार गोपनीय मंत्रणा है।" यह श्लोक प्रशासन और निर्णय-निर्माण में गोपनीयता के महत्त्व को रेखांकित करता है। शासन और न्याय से संबंधित संवेदनशील विषयों को गोपनीय बनाए रखना आवश्यक माना गया।

नारद स्मृति

नारद स्मृति ने न्यायिक कार्यवाहियों में नैतिक आचरण पर विशेष बल दिया तथा पारिवारिक एवं अंतरंग विवादों के सार्वजनिक प्रकटीकरण को हतोत्साहित किया।[13] इसने यह स्वीकार किया कि सामाजिक समरसता की रक्षा के लिए कुछ विषयों में विवेक और गोपनीयता आवश्यक है। नारद स्मृति में कहा गया है-"मन्त्रस्य रक्षणं कार्यम्।" अर्थात् "गोपनीय परामर्श की रक्षा की जानी चाहिए।" नारद स्मृति ने प्रशासनिक तथा राजनीतिक विषयों में गोपनीयता बनाए रखने की आवश्यकता को स्वीकार किया। गोपनीय सूचनाओं का अनधिकृत प्रकटीकरण शासन और व्यवस्था के लिए हानिकारक माना गया। नारद स्मृति की नैतिक शिक्षाएँ अंतरंग एवं पारिवारिक संबंधों के प्रति सम्मान पर बल देती हैं। प्राचीन भारतीय विधि में पारिवारिक और वैवाहिक जीवन को संरक्षित निजी क्षेत्र माना गया, जिसका संकेत इस वाक्य में मिलता है- "परदारान्न गच्छेत्।" अर्थात् "किसी अन्य के वैवाहिक क्षेत्र में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए।"

अर्थशास्त्र और राजनीतिक गोपनीयता

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में प्राचीन भारत में गोपनीयता और निजता पर अत्यंत विकसित विचार प्राप्त होते हैं। शासन और प्रशासन पर लिखे गए इस ग्रंथ ने राजनीतिक विषयों में गोपनीयता की आवश्यकता को स्पष्ट रूप से स्वीकार किया। कौटिल्य ने राजाओं को सलाह दी कि वे मंत्रियों के साथ गुप्त मंत्रणा एकांत और सुरक्षित स्थानों पर करें।[14] अर्थशास्त्र में कौटिल्य कहते हैं- "मन्त्रपूर्वा: सर्वारम्भा:" अर्थात् "सभी कार्य गोपनीय परामर्श से आरम्भ होने चाहिए।" राज्य के रहस्यों का उद्घाटन एक गंभीर अपराध माना गया। शासन की प्रभावशीलता कूटनीतिक और सैन्य मामलों में गोपनीयता बनाए रखने पर निर्भर थी। अर्थशास्त्र में गुप्तचरी और गुप्त सूचना-तंत्र का भी विस्तार से वर्णन किया गया है। यद्यपि इसमें राज्य-सुरक्षा के लिए निगरानी की अनुमति दी गई थी, तथापि गुप्तचरों पर कठोर नियंत्रण और उत्तरदायित्व पर भी बल दिया गया। गोपनीय सूचनाओं के अनधिकृत प्रकटीकरण को दंडनीय माना गया।[15] इस ग्रंथ ने अवैध प्रवेश और अतिक्रमण के लिए दंड निर्धारित कर निजी संपत्ति और गृहस्थ जीवन की पवित्रता को भी स्वीकार किया।[16] इससे यह स्पष्ट होता है कि प्राचीन भारतीय चिंतन व्यक्तिगत सीमाओं तथा अनधिकृत हस्तक्षेप से संरक्षण की अवधारणा को समझता था।

महाकाव्यों में निजता/प्राइवेसी

महाभारत में व्यक्तिगत गरिमा, गोपनीयता और वाणी-संयम पर बल देने वाले अनेक प्रसंग मिलते हैं। कौरव सभा में द्रौपदी का अपमान मानवीय गरिमा और सम्मान के गंभीर उल्लंघन के रूप में चित्रित किया गया है।[17] महाकाव्य सार्वजनिक अपमान और व्यक्तिगत अस्मिता के हनन को धर्म-विरुद्ध आचरण मानता है। विदुर नीति में विदुर शासकों को परामर्श संबंधी गोपनीयता बनाए रखने तथा संवेदनशील विषयों के अनावश्यक प्रकटीकरण से बचने की सलाह देते हैं।[18] इसका संकेत इस श्लोक में मिलता है- "मन्त्रभेदो हि राजानं नाशयत्येव सर्वथा।" अर्थात् "गोपनीय मंत्रणा का भेदन राजा का पूर्णत: विनाश कर देता है।" यह श्लोक राजनीतिक और प्रशासनिक मामलों में गोपनीयता के महत्व को अत्यंत दृढ़ता से प्रतिपादित करता है। गोपनीय सूचनाओं का प्रकटीकरण विनाशकारी माना गया। यह संवेदनशील सूचनाओं की सुरक्षा तथा गोपनीयता के महत्व को रेखांकित करता है। महाभारत निरंतर विवेक और आत्मसंयम को महत्त्व देता है।

वाल्मीकि रामायण के युद्धकाण्ड में कहा गया है- "मन्त्रं मूलं हि विजय:।" अर्थात् "गोपनीय मंत्रणा ही विजय का मूल है।" यहाँ 'मन्त्र' का अर्थ गोपनीय परामर्श या गुप्त विचार-विमर्श है। यह श्लोक इस बात पर बल देता है कि महत्वपूर्ण निर्णय निजी और रणनीतिक ढंग से लिए जाने चाहिए। यह शासन और प्रशासन में गोपनीयता के महत्व को प्रकट करता है, जो आधुनिक सूचना-निजता और कार्यपालिका-गोपनीयता की अवधारणाओं से मिलता-जुलता है। रामायण पारिवारिक संबंधों और गृहस्थ सम्मान की पवित्रता पर भी विशेष बल देती है। व्यक्तियों के निजी जीवन, विशेषत: परिवार के भीतर के संबंधों, को गंभीरता और सम्मान के साथ देखा गया।[19] यह ग्रंथ निजी संबंधों में विश्वास, निष्ठा और गरिमा के महत्व को रेखांकित करता है।

प्राचीन भारत में निजता/प्राइवेसी के दार्शनिक आधार

प्राचीन भारतीय चिंतन में निजता की अवधारणा धर्म से गहराई से जुड़ी हुई थी। आधुनिक उदारवादी सिद्धांत जहाँ व्यक्तिगत अधिकारों पर केंद्रित हैं, वहीं प्राचीन भारतीय विचारधारा ने कर्तव्य और नैतिक आचरण पर बल दिया। व्यक्तियों से अपेक्षा की जाती थी कि वे नैतिक उत्तरदायित्व के रूप में दूसरों की सीमाओं और गरिमा का सम्मान करें।[20] 'आत्मन्' की अवधारणा ने भी निजता-संबंधी विचारों को महत्वपूर्ण आधार प्रदान किया। चूँकि प्रत्येक व्यक्ति के भीतर एक पवित्र आत्मस्वरूप विद्यमान माना गया, इसलिए किसी व्यक्ति की मानसिक और आध्यात्मिक स्वायत्तता में हस्तक्षेप को नैतिक रूप से अनुचित समझा गया।[21] निजता का एक अन्य महत्वपूर्ण आधार वाणी और आचरण में संयम का सिद्धांत था। प्राचीन भारतीय ग्रंथों में चुगली, निंदा और गोपनीय विषयों के अनावश्यक प्रकटीकरण की बार-बार निंदा की गई है।[22] इस प्रकार की नैतिक बाध्यताएँ अप्रत्यक्ष रूप से निजता और मानवीय गरिमा की रक्षा करती थीं।

आधुनिक निजता/प्राइवेसी-न्यायशास्त्र के साथ तुलना

आधुनिक निजता-न्यायशास्त्र निजता के विविध आयामों को स्वीकार करता है, जिनमें शारीरिक निजता, सूचनात्मक निजता, निर्णयात्मक स्वायत्तता तथा संचार-निजता सम्मिलित हैं। प्राचीन भारतीय ग्रंथों में भी नैतिक और दार्शनिक स्तर पर इसी प्रकार की चिंताओं का प्रतिबिंब मिलता है। पवित्र ज्ञान की गोपनीयता सूचनात्मक निजता के समतुल्य है। गृहस्थ जीवन की पवित्रता घरेलू निजता का स्वरूप प्रस्तुत करती है। मानहानि से संरक्षण प्रतिष्ठात्मक निजता को दर्शाता है, जबकि आध्यात्मिक स्वायत्तता मानसिक निजता के समान है।[23] पुट्टस्वामी मामले में सर्वोच्च न्यायालय ने निजता को गरिमा, स्वतंत्रता और स्वायत्तता से जोड़ा। ये मूल्य प्राचीन भारतीय दार्शनिक परंपराओं के साथ गहरा साम्य रखते हैं, जिन्होंने व्यक्ति की पवित्रता और आत्म-साक्षात्कार के महत्व पर बल दिया।[24] प्राचीन भारतीय ग्रंथ इन आधुनिक सिद्धांतों के साथ उल्लेखनीय दार्शनिक समानताएँ प्रस्तुत करते हैं। उपनिषदों ने आत्मन् अथवा आंतरिक स्व की पवित्रता पर विशेष बल दिया। बृहदारण्यक उपनिषद् में कहा गया है-"आत्मा वा अरे द्रष्टव्य: श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य:।" यह शिक्षा मानवीय चेतना के अत्यंत व्यक्तिगत और आंतरिक स्वरूप को स्वीकार करती है। आधुनिक निजता-न्यायशास्त्र भी मानसिक स्वायत्तता और निर्णयात्मक स्वतंत्रता को निजता का अनिवार्य अंग मानता है। पुट्टस्वामी निर्णय में सर्वोच्च न्यायालय ने कहा कि निजता "व्यक्ति के आंतरिक क्षेत्र को बाहरी हस्तक्षेप से संरक्षित करती है।" आधुनिक निजता का एक अन्य महत्वपूर्ण पक्ष शारीरिक स्वायत्तता और अपमान से संरक्षण है। महाभारत में द्रौपदी के चीरहरण को गरिमा और सम्मान के गंभीर उल्लंघन के रूप में चित्रित किया गया है। महाकाव्य सार्वजनिक अपमान और व्यक्तिगत अस्मिता के हनन की निंदा करता है। समकालीन निजता-विधि भी शारीरिक निजता और गरिमा को मानवाधिकारों का अनिवार्य अंग स्वीकार करती है।

तथापि, प्राचीन और आधुनिक निजता-ढाँचों के बीच महत्वपूर्ण भिन्नताएँ भी विद्यमान हैं। आधुनिक निजता अधिकार-आधारित और व्यक्ति-केंद्रित है, जबकि प्राचीन भारतीय निजता कर्तव्य-आधारित और समुदाय-केंद्रित थी। प्राचीन भारतीय समाज ने प्रवर्तनीय व्यक्तिगत अधिकारों की अपेक्षा धर्म और नैतिक

दायित्वों पर अधिक बल दिया। यद्यपि प्राचीन भारतीय समाज ने निजता के विभिन्न तत्वों को स्वीकार किया, फिर भी वह पूर्णत: व्यक्तिवादी नहीं था। सामाजिक पदानुक्रम, जाति-व्यवस्था और पितृसत्तात्मक मानदंड प्राय: व्यक्तिगत स्वायत्तता को सीमित करते थे, विशेषत: महिलाओं और हाशिये पर स्थित समूहों के संदर्भ में।[25] समाज के सभी वर्गों को निजता-सुरक्षा समान रूप से उपलब्ध नहीं थी। इसके अतिरिक्त, अर्थशास्त्र में वर्णित गुप्तचर-व्यवस्था यह संकेत करती है कि राज्यहित अनेक बार व्यक्तिगत गोपनीयता पर प्रधानता प्राप्त कर लेते थे। इस प्रकार प्राचीन भारतीय निजता पूर्ण व्यक्तिगत स्वतंत्रता के बजाय सामूहिक कल्याण और सामाजिक व्यवस्था के ढाँचे के भीतर संचालित होती थी।[26] फिर भी, गरिमा, गोपनीयता और व्यक्तिगत स्वायत्तता से संबंधित अवधारणाओं की उपस्थिति यह प्रमाणित करती है कि प्राचीन भारतीय सभ्यता में निजता की एक विकसित नैतिक समझ विद्यमान थी। प्राचीन भारत में निजता की अवधारणा दार्शनिक, नैतिक और विधिक परंपराओं में गहराई से निहित थी।

निष्कर्ष

वेद, उपनिषद, स्मृतियाँ, अर्थशास्त्र और महाकाव्य जैसे प्राचीन ग्रंथों ने व्यक्ति की पवित्रता, ज्ञान की गोपनीयता, गृहस्थ जीवन की सुरक्षा तथा शासन में गोपनीयता को स्वीकार किया। यद्यपि आधुनिक अर्थों में निजता को विधिक अधिकार के रूप में स्पष्ट रूप से प्रतिपादित नहीं किया गया था, तथापि उसके मूलभूत मूल्य स्पष्ट रूप से विद्यमान थे। प्राचीन भारतीय चिंतन ने निजता को धर्म, गरिमा, आत्मसंयम और आध्यात्मिक व्यक्तित्व से जोड़ा। ये सिद्धांत आज भी समकालीन संवैधानिक न्यायशास्त्र में प्रासंगिक बने हुए हैं, विशेषत: डिजिटल निजता, राज्यीय निगरानी तथा मानवीय गरिमा की सुरक्षा के संदर्भ में। प्राचीन भारतीय ग्रंथों के माध्यम से निजता के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि भारत में निजता की अवधारणा केवल पाश्चात्य विधिक परंपराओं से उद्‌भूत नहीं है, बल्कि इसकी जड़ें भारत की अपनी सभ्यतागत विरासत में गहराई से निहित हैं

संदर्भ

1. एम. पी. जैन, इंडियन कॉन्स्टिट्यूशनल लॉ (लेक्सिसनेक्सिस, 8वाँ संस्करण, 2018)
2. पी. वी. काणे, हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र, खंड–II (भांडारकर ओरिएंटल रिसर्च इंस्टिट्यूट, 1941)
3. आर. सी. मजूमदार, एंशिएंट इंडिया (मोतीलाल बनारसीदास, 1977)
4. एस. एन. दासगुप्ता, हिस्ट्री ऑफ इंडियन फिलॉसफी, खंड–I (कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, 1922)
5. बृहदारण्यक उपनिषद्, अध्याय–IV
6. छांदोग्य उपनिषद्, अध्याय–VI; कठ उपनिषद्, अध्याय–II
7. ए. एस. अल्तेकर, द पोजिशन ऑफ वीमेन इन हिंदू सिविलाइजेशन (मोतीलाल बनारसीदास, 1962)
8. मनुस्मृति, अध्याय–VII
9. मनुस्मृति, अध्याय–VIII
10. पी. वी. काणे, हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र, खंड–III
11. याज्ञवल्क्य स्मृति, अध्याय–II
12. रॉबर्ट लिंगाट, द क्लासिकल लॉ ऑफ इंडिया (यूनिवर्सिटी ऑफ कैलिफोर्निया प्रेस, 1973)
13. नारद स्मृति, अध्याय–I
14. कौटिल्य, अर्थशास्त्र, पुस्तक–I
15. आर. शामशास्त्री, कौटिल्याज अर्थशास्त्र (मैसूर प्रिंटिंग प्रेस, 1915)
16. अर्थशास्त्र, पुस्तक–III
17. महाभारत, सभा पर्व
18. विदुर नीति, महाभारत का उद्योग पर्व
19. वाल्मीकि रामायण, अयोध्या काण्ड
20. उपेन्द्र बक्शी, द क्राइसिस ऑफ द इंडियन लीगल सिस्टम (विकास पब्लिशिंग, 1982)
21. एस. राधाकृष्णन, इंडियन फिलॉसफी, खंड–I (ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1923)
22. मनुस्मृति, अध्याय–IV
23. जस्टिस के. एस. पुट्टस्वामी बनाम यूनियन ऑफ इंडिया, (2017) 10 एस.सी.सी. 1
24. गौतम भाटिया, प्राइवेसी इन इंडिया: कॉन्स्टिट्यूशनल एंड कम्पेरेटिव पर्सपेक्टिव्स (ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 2019)
25. रोमिला थापर, अर्ली इंडिया: फ्रॉम द ओरिजिन्स टू ए.डी. 1300 (पेंगुइन, 2002)
26. कांगले, आर. पी., द कौटिलीय अर्थशास्त्र, भाग–III (यूनिवर्सिटी ऑफ बॉम्बे, 1965)

आधुनिकीकरण के दौर में थारू जनजाति का सांस्कृतिक रूपांतरणः एक समाजशास्त्रीय अध्ययन

अम्बेदकर कुमार साहु

पीएचडी शोधार्थी, विश्वविद्यालय समाजशास्त्र विभाग, एल. एन. एम. विश्वविद्यालय, दरभंगा, बिहार

सारांश

प्रस्तुत शोध आलेख भारत-नेपाल सीमा पर स्थित उत्तर प्रदेश के तराई क्षेत्र और बिहार के पश्चिम चंपारण जिले में निवास करने वाली थारू जनजाति के समकालीन सांस्कृतिक और सामाजिक रूपांतरण का एक सघन समाजशास्त्रीय मूल्यांकन प्रस्तुत करता है। इस अध्ययन का मुख्य उद्देश्य यह पड़ताल करना था कि कैसे भूमंडलीकरण, आधुनिक शिक्षा का प्रसार, राज्य की कल्याणकारी नीतियां और बाह्य संस्कृतियों के निरंतर संपर्क ने थारू समाज के पारंपरिक ताने-बाने को प्रभावित किया है। इन कारकों के चलते उनकी स्वदेशी ज्ञान परंपरा, लोक-भाषा, विशिष्ट वेशभूषा और मूल धार्मिक विश्वासों (प्रकृति-पूजा) में गहरा संरचनात्मक बदलाव आया है। सैद्धांतिक धरातल पर, यह शोध एम.एन. श्रीनिवास के 'संस्कृतिकरण' और पियरे बोर्दियू के 'सांस्कृतिक पूँजी' के सिद्धांतों का अनुप्रयोग करते हुए यह विश्लेषित करता है कि थारू समुदाय किस प्रकार अपनी मौलिक जनजातीय अस्मिता के संकट से जूझते हुए आधुनिक मुख्यधारा में समाहित हो रहा है। शोध यह उजागर करता है कि यह रूपांतरण एकतरफा आत्मसमर्पण नहीं, बल्कि परंपरा और आधुनिकता के बीच का एक द्वंद्वात्मक संक्रमण है, जहाँ युवा पीढ़ी 'हैबिटस' के बदलते स्वरूप के बीच एक नई जनजातीय चेतना को निर्मित कर रही है। पद्धति के स्तर पर, यह अध्ययन पूर्णतः गुणात्मक नृवंशविज्ञानी पद्धति पर आधारित है, जिसमें पश्चिम चंपारण के थारू बाहुल्य ग्रामीण अंचलों में दीर्घकालिक सहभागी अवलोकन और गहन साक्षात्कारों के माध्यम से प्राथमिक समंकों का संकलन किया गया है। निष्कर्ष बताते है कि थारू समाज में हो रहे समकालीन रूपांतरण समावेशन से अधिक आत्मीकरण की ओर झुका हुआ है।

मुख्य शब्दः थारू जनजाति, सांस्कृतिक रूपांतरण, संस्कृतिकरण, सांस्कृतिक पूँजी, नृवंशविज्ञान, पश्चिम चंपारण।

प्रस्तावना

भारतीय जनजातीय समाजशास्त्रीय विमर्श के अंतर्गत पारंपरिक रूप से जनजातियों को मुख्यधारा से पूर्णतः पृथक, अपरिवर्तनीय या एक स्थिर (Static) समुदाय के रूप में देखने की औपनिवेशिक दृष्टि रही है। किंतु समकालीन भारतीय समाजशास्त्र इस संकीर्ण दृष्टिकोण को खारिज करते हुए जनजातियों को एक निरंतर गतिशील और परिवर्तनशील सामाजिक इकाई के रूप में स्वीकार करता है (मजूमदार, 1944)। भारत-नेपाल सीमा के तराई अंचलों और बिहार के पश्चिम चंपारण के जंगलों में सदियों से निवास करने वाली थारू जनजाति इस गत्यात्मकता का एक सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है। ऐतिहासिक और नृवंशविज्ञानी परिप्रेक्ष्य में थारू समाज अपनी विशिष्ट सांस्कृतिक स्वायत्तता, लोक-कला, मातृसत्तात्मक प्रवृत्तियों और प्रकृति-पूजा (Animism) पर आधारित जीवन-दर्शन के लिए जाना जाता रहा है, जहाँ मानवीय अस्तित्व और पारिस्थितिक तंत्र के मध्य एक गहरा अंतर्संबंध विद्यमान था (श्रीवास्तव, 1999)।

किंतु, समकालीन 21वीं सदी के तकनीकी और आर्थिक संक्रमण ने इस पारंपरिक ताने-बाने को अभूतपूर्व रूप से झकझोर दिया है। सूचना प्रौद्योगिकी के तीव्र प्रसार, शिक्षा के सार्वभौमीकरण, राज्य समर्थित विकास परियोजनाओं और रोजगार के अवसरों की तलाश में शहरों की ओर होने वाले बाह्य आर्थिक प्रवास (Migration) ने थारू समुदाय के भीतर 'हैबिटस' (Habitus) और श्सांस्कृतिक पूँजीश के पुराने स्वरूपों को गहराई से प्रभावित किया है (बोर्दियू, 1977)। बाहरी समाजों के साथ बढ़ते हुए इस सघन संपर्क ने उनके आंतरिक सामाजिक स्तरीकरण को नया आयाम दिया है, जिससे उनके पारंपरिक रीति-रिवाजों और आधुनिक आकांक्षाओं के बीच एक द्वंद्वात्मक स्थिति उत्पन्न हो गई है।

इस पृष्ठभूमि के आलोक में, प्रस्तुत शोध आलेख मुख्य रूप से इस समाजशास्त्रीय यथार्थ की पड़ताल करता है कि थारू समाज में घटित होने वाला यह सांस्कृतिक और सामाजिक रूपांतरण क्या वास्तव में उनके सर्वांगीण 'विकास' और प्रगति का सूचक है, या यह उनकी स्वदेशी मौलिक पहचान, लोक-ज्ञान परंपरा और विशिष्ट भाषाई अस्मिता के क्रमिक 'संकुचन' का दस्तावेज है। यह अध्ययन परंपरा और आधुनिकता के इसी टकराव और समन्वय के बीच से उभरती हुई एक नई जनजातीय चेतना को समझने का नृवंशविज्ञानी प्रयास है।

साहित्य समीक्षा एवं शोध अंतराल

थारू जनजाति की सांस्कृतिक गत्यात्मकता, सामाजिक संरचना और उनके ऐतिहासिक रूपांतरण पर पूर्ववर्ती विद्वानों, मानवविज्ञानियों तथा समाजशास्त्रियों ने समय-समय पर महत्वपूर्ण दृष्टिकोण प्रस्तुत किए हैं। थारू समुदाय पर प्रारंभिक नृवंशविज्ञानी कार्य मुख्य रूप से औपनिवेशिक प्रशासनिक विमर्शों, गजेटियर्स और डी.एन. मजूमदार (1944) जैसे अग्रणी मानवविज्ञानियों द्वारा संचालित किए गए थे। मजूमदार के प्रारंभिक अध्ययनों ने मुख्य रूप से इस जनजाति की शारीरिक संरचना, प्रजातीय उद्भव, अंतर्विवाही प्रतिमानों और तराई क्षेत्र के कठिन भूगोल में उनके लोक-जीवन के बुनियादी दस्तावेजीकरण पर ध्यान केंद्रित किया। इसके पश्चात, समकालीन संदर्भों में एस.के. श्रीवास्तव (1999) का कार्य विशेष रूप से उल्लेखनीय है, जिन्होंने थारू समाज के भीतर बदलते आंतरिक सामाजिक स्तरीकरण, उप-जातीय पदानुक्रमों और उनके पारंपरिक धार्मिक विन्यास में आ रहे क्रमिक रूपांतरण को समाजशास्त्रीय रूप से रेखांकित किया।

इसके अतिरिक्त, समकालीन जनजातीय विमर्शों, विशेषकर वर्जिलियस खाखा (2003) के ऐतिहासिक लेख 'ट्राइब्स एंड इंडियन नेशनल आइडेंटिटी: लोकेशन ऑफ एक्सक्लूजन एंड इंक्लूजन' ने निरंतर इस संरचनात्मक विसंगति को उजागर किया है कि विकास और आधुनिकीकरण की तथाकथित मुख्यधारा किस प्रकार स्थानीय जनजातीय स्वायत्तता और उनकी विशिष्ट जीवन पद्धति को प्रभावित करती है। खाखा का यह विमर्श स्पष्ट करता है कि राज्य समर्थित विकासवादी नीतियां और बाह्य संस्कृतियों का आक्रामक प्रवेश अक्सर स्वदेशी समुदायों के पारंपरिक ज्ञान तंत्र, निर्णय लेने की स्वायत्त संस्थाओं और उनकी मूल पहचान को हाशिये पर धकेल देता है। इसी वैचारिक विमर्श को आगे बढ़ाते हुए अमृता बझाज (2012) ने अपने अध्ययन 'डेवलपमेंट एंड डिस्प्लेसमेंट इन ट्राइबल बेल्ट्स' में यह दर्शाया है कि कैसे ढांचागत परियोजनाओं ने तराई के क्षेत्रों में जनजातीय समुदायों को उनके प्राकृतिक परिवेश से विलग कर उनके सांस्कृतिक अस्तित्व को संकट में डाला है।

साथ ही, विभिन्न प्रतिष्ठित जर्नल्स, विशेषकर 'कंट्रीब्यूशंस टू इंडियन सोशियोलॉजी' और 'जर्नल ऑफ साउथ एशियन डेवलपमेंट' में संकलित शोध लेखों में यह अकादमिक तर्क गहराई से स्थापित किया गया है कि उत्तर भारत और तराई की जनजातियाँ बाह्य समाजों के निरंतर संपर्क में आकर अपनी सांस्कृतिक पूँजी का केवल ह्रास नहीं होने दे रही हैं, बल्कि उसका रणनीतिक पुनर्गठन कर रही हैं। इस संदर्भ में बद्री नारायण (2006) का कार्य 'विजुअलाइजिंग सबाल्टर्न हिस्ट्री एंड कल्चर' अत्यंत महत्वपूर्ण है; वे स्थापित करते हैं कि कैसे हाशिये के समाज अपनी लोक-कलाओं और मौखिक आख्यानों को आधुनिक प्रतीकों के साथ जोड़कर एक 'प्रति-आख्यान' तैयार करते हैं।

इसी क्रम में, मनीषा झा (2014) के नृवंशविज्ञानी कार्य 'नेगोशिएटिंग मॉडर्निटी: ट्राइबल वीमेन एंड कल्चरल रीमेकिंग इन नॉर्थ इंडिया' ने यह प्रमाणित किया है कि थारू और उससे सटे समुदायों की स्त्रियाँ आधुनिक शिक्षा और बाजार के तत्वों को अपनाते हुए भी अपने पारंपरिक 'हैबिटस' को पूरी तरह नहीं छोड़तीं, बल्कि बाह्य समाज के साथ संवाद स्थापित कर अपनी अस्मिता को एक नया रूप प्रदान करती हैं। यह बहुआयामी विमर्श स्पष्ट करता है कि थारू समाज का सांस्कृतिक रूपांतरण केवल एकतरफा प्रभुत्व का परिणाम नहीं है, बल्कि वह आधुनिकता के दबावों के बीच अपनी सांस्कृतिक पूँजी को पुनर्गठित कर स्वयं को पुनर्स्थापित करने की एक अनवरत प्रक्रिया है।

शोध अंतराल

पूर्ववर्ती साहित्यों के व्यापक पुनरावलोकन से यह स्पष्ट होता है कि थारू समाज के आर्थिक संकेतकों, जनसांख्यिकीय बदलावों, भूमि अधिकारों और उनके राजनीतिक प्रतिनिधित्व पर तो समाजशास्त्रीय जगत में प्रचुर मात्रा में चर्चा हुई है; किंतु समकालीन डिजिटल युग, सूचना प्रौद्योगिकी के तीव्र विस्तार और आधुनिक शिक्षा के सार्वभौमीकरण के कारण थारू समुदाय की आंतरिक संरचना में आ रहे बदलावों को पर्याप्त स्थान नहीं मिला है। अध्ययनों में इस बात का स्पष्ट अभाव रहा है कि आधुनिकता के इस दौर में उनकी पारंपरिक 'सांस्कृतिक पूँजी' किस प्रकार रूपांतरित हो रही है, और थारू युवा पीढ़ी के अनुभवी जगत में किस प्रकार के सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक तथा वैचारिक परिवर्तन घटित हो रहे हैं। वैश्वीकरण और क्षेत्रीय प्रवास के कारण उनके 'हैबिटस' में आ रहे बदलावों तथा मुख्यधारा के समाज के बीच अपनी अस्मिता को पुनर्गठित करने की उनकी जद्दोजहद पर सघन गुणात्मक नृवंशविज्ञानी अध्ययनों की भारी कमी रही है। प्रस्तुत शोध आलेख पश्चिम चंपारण के थारू बाहुल्य क्षेत्रों के सूक्ष्म-परिवेश का अध्ययन कर इसी अकादमिक शून्यता को भरने का एक तार्किक प्रयास करता है।

अध्ययन क्षेत्र एवं आंकड़े संकलन की विधि

प्रस्तुत शोध अध्ययन में विषय की प्रामाणिकता और गहराई को सुनिश्चित करने के लिए प्राथमिक और द्वितीयक दोनों प्रकार के स्रोतों से प्राप्त आँकड़ों का व्यवस्थित उपयोग किया गया है। क्षेत्र के चयन हेतु बहुस्तरीय क्लस्टर निदर्शन विधि का अनुप्रयोग किया गया है, जिसके अंतर्गत बिहार के पश्चिम चंपारण जिले में स्थित रामनगर ब्लॉक के विशिष्ट श्दोन क्षेत्रश को अनुसंधान का मुख्य केंद्र बनाया गया है। इस पद्धति के आधार पर दोन क्षेत्र के अंतर्गत आने वाले चार प्रमुख गाँवों-गोबरहिया, नौरंगिया, ढ़ायर एवं बैरिया का चयन सघन अध्ययन के लिए किया गया, जहाँ जनवरी 2024 से दिसंबर 2025 तक की समयावधि में नृवंशवैज्ञानिक क्षेत्रीय कार्य संपन्न किया गया। शोध की प्रकृति पूर्णत: गुणात्मक है, जो सांख्यिकीय आंकड़ों के बजाय समुदाय के आंतरिक दृष्टिकोण और उनके श्सघन विबरनाश को प्राथमिकता देती है।

आँकड़ों के संकलन और विश्लेषण के लिए सहभागी अवलोकन, गहन साक्षात्कार, केस स्टडी और अनौपचारिक चर्चाओं को प्राथमिक उपकरणों के रूप में अपनाया गया है। नृवंशविज्ञानी मानदंडों के अनुरूप, शोधकर्ता ने थारू समुदाय की जीवन शैली, रीति-रिवाजों और 'बरना पूजा' जैसे अनुष्ठानों में स्वयं भाग लेकर उनका सूक्ष्म अवलोकन किया। इसके साथ ही, गहन साक्षात्कार की प्रक्रिया में शोध की आवश्यकतानुसार संरचित एवं असंरचित दोनों प्रकार के प्रश्नों का समावेश किया गया, जिससे थारू समुदाय के समकालीन सामाजिक यथार्थ, उनकी बदलती आकांक्षाओं और उनके अमूर्त स्वदेशी ज्ञान की एक व्यापक व समाजशास्त्रीय समझ प्राप्त की जा सके।

शोध के उद्देश्य

प्रस्तुत शोध का मुख्य उद्देश्य बिहार के पश्चिम चंपारण जिले के 'दोन क्षेत्र' (विशेषकर गोबरहिया, नौरंगिया, ढायर और बैरिया गाँवों) में निवास करने वाली थारू जनजाति के समकालीन सांस्कृतिक, सामाजिक और संरचनात्मक रूपांतरण का एक सघन समाजशास्त्रीय व नृवंशविज्ञानी मूल्यांकन करना था।

अध्ययन क्षेत्र की जनसांख्यिकीय एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि

समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से, थारू जनजाति बिहार का एक अत्यंत महत्वपूर्ण और विशिष्ट समूह है, जिसकी वर्तमान जनसंख्या लगभग दो लाख है। ऐतिहासिक और सांस्कृतिक चेतना के धरातल पर, बिहार का थारू समुदाय स्वयं को मूलत: राजस्थान के 'राजपूताना' तथा 'गढ़ चित्तौड़' के ऐतिहासिक गौरव से जोड़कर देखता है, जो उनके आंतरिक सामाजिक स्तरीकरण और उच्च सामाजिक प्रस्थिति की आकांक्षा को प्रतिबिंबित करता है। संवैधानिक रूप से, बिहार राज्य में थारुओं की विशिष्ट सामाजिक-आर्थिक स्थिति को देखते हुए उन्हें अनुसूचित जनजाति (ST) का दर्जा प्रदान किया गया है (प्रवीर, 2004)।

भौगोलिक दृष्टि से, इस जनजाति का मुख्य निवास स्थान वाल्मीकि नगर टाइगर रिजर्व के सघन वनों और भारत-नेपाल की अंतरराष्ट्रीय सीमा से सटे अत्यंत दुर्गम एवं संवेद्य क्षेत्रों में है। नेपाल सीमा के निकटवर्ती और हिमालय की पहाड़ी तलहटी में स्थित इन विशिष्ट भू-भागों को स्थानीय एवं प्रशासनिक विमर्शों

में सामान्यत: 'तराई थरूहट' या 'दोन क्षेत्र' के रूप में संबोधित किया जाता है। यह भौगोलिक परिवेश थारू समाज की आर्थिक निर्भरता, उनकी प्रकृति-वादी जीवन शैली और बाह्य समाजों के साथ होने वाले उनके सांस्कृतिक अंतर्संबंधों को निर्धारित करने में एक प्राथमिक कारक की भूमिका निभाता है।

सांस्कृतिक परिवर्तन के मुख्य आयाम: समाजशास्त्रीय विश्लेषण

थारू समाज का समकालीन सांस्कृतिक रूपांतरण एक रेखीय प्रक्रिया नहीं है, बल्कि यह पारंपरिक लोक-मूल्यों और आधुनिक संस्थागत ताकतों के बीच का एक जटिल अंतर्संबंध है। इस बदलाव को केवल बाहरी तत्वों का प्रभाव मान लेना समाजशास्त्रीय रूप से अपूर्ण होगा; वास्तव में, यह थारू समुदाय द्वारा अपनी सामाजिक स्थिति को पुनर्परिभाषित करने का एक सचेत और अवचेतन प्रयास है। नीचे इस रूपांतरण के मुख्य आयामों को क्षेत्रीय कार्य के दौरान दर्ज किए गए साक्षात्कारों और समाजशास्त्रीय सिद्धांतों के समन्वय के साथ विश्लेषित किया गया है:

एम.एन. श्रीनिवास: संस्कृतिकरण की प्रक्रिया

थारू समाज में सांस्कृतिक परिवर्तन का एक बड़ा हिस्सा एम.एन. श्रीनिवास (1952) के 'संस्कृतिकरण' के सिद्धांत के माध्यम से संचालित हो रहा है। वृहत्तर हिंदू समाज के निरंतर संपर्क में आने और अपनी सामाजिक प्रस्थिति को ऊँचा उठाने की आकांक्षा के कारण थारू समुदाय ने क्रमिक रूप से स्थानीय हिंदू रीति-रिवाजों, कर्मकांडों, देवी-देवताओं की पूजा और उपवास की पद्धतियों को आत्मसात कर लिया है। इसका सबसे स्पष्ट प्रभाव उनके धार्मिक विन्यास पर पड़ा है, जहाँ उनके पारंपरिक 'भुइयां' और 'गोरिया' जैसे प्रकृति-देवताओं तथा 'बरना पूजा' के स्थानिक स्वरूपों के स्थान पर अब शिव, दुर्गा और हनुमान की पूजा मुख्यधारा का हिस्सा बन चुकी है। इस प्रक्रिया ने जहाँ उन्हें व्यापक क्षेत्रीय सामाजिक संरचना से जोड़ा है, वहीं उनके मौलिक तांत्रिक और प्रकृति-वादी अनुष्ठानों को पृष्ठभूमि में धकेल दिया है।

इस परिवर्तन के सन्दर्भ में साक्षात्कार के दौरान ढायर गाँव के 58 वर्षीय श्यामनन्द महतो ने बताया कि "पहले हमारे यहाँ पूजा का मतलब था पूरे गाँव का इकट्ठा होना, डीहवार (भुइयां) को सुमिरना और बरना पूजा में थारू परंपरा के गीतों को गाना। हमारे देवता कंक्रीट के मंदिरों में नहीं, पेड़ों और खेतों की मेड़ों पर बसते थे। अब हमारी नई पीढ़ी के लड़के हाथ में लाल झंडा लेकर हनुमान चालीसा पढ़ते हैं और डीहवार की पूजा को 'पिछड़ा' समझने लगे हैं। रामनवमी और दुर्गा पूजा अब बड़े पैमाने पर होती है, लेकिन जो हमारी अपनी पूजा थी, वह केवल बूढ़े-बुजुर्गों के दिलों तक सिमट कर रह गई है।"

इस साक्षात्कार से स्पष्ट होता है कि संस्कृतिकरण केवल धार्मिक परिवर्तन नहीं है, बल्कि यह एक 'सांस्कृतिक विस्थापन' है, जहाँ एक समुदाय उच्च सोपानक्रम में शामिल होने के लिए अपनी विशिष्ट अमूर्त विरासत की आहुति दे देता है।

मातृसत्तात्मक तत्वों का ह्रास और पितृसत्ता का सुदृढ़ीकरण

ऐतिहासिक और नृवंशविज्ञानी विमर्शों में थारू समाज को स्त्रियों के अत्यधिक उच्च सामाजिक दर्जे के लिए जाना जाता रहा है। डी.एन. मजूमदार (1944) जैसे मानवविज्ञानियों ने संपत्ति के अधिकारों, घरेलू निर्णयों और आर्थिक गतिविधियों में महिलाओं की प्रभावी भूमिका को देखते हुए इसे 'मातृसत्तात्मक प्रवृत्तियों के निकट' माना था। किंतु, मुख्यधारा के पितृसत्तात्मक समाज के साथ बढ़ते हुए सघन संपर्क ने इस आंतरिक ढांचे को बदल दिया है। इसे समाजशास्त्रीय भाषा में 'पितृसत्तात्मक अनुकूलन' (Patriarchal Bargain/Assimilation) कहा जा सकता है, जहाँ बाहरी समाज की रूढ़ियों को अपनाकर थारू पुरुषों में वर्चस्व और नियंत्रण की भावना सुदृढ़ हुई है, जिसने थारू महिलाओं की पारंपरिक स्वायत्तता को संकुचित कर दिया है।

इस सन्दर्भ में साक्षात्कार के दौरान नौरंगिया गाँव के 38 वर्षीय यमुना देवी ने बताया कि "हमारी दादी-नानी के जमाने में घर का कोई भी बड़ा फैसला, जैसे जमीन बेचना या शादी तय करना, औरतों की मर्जी के बिना नहीं होता था। हाट-बाजार जाकर अनाज बेचना और पैसे का हिसाब रखना हमारा काम था। लेकिन जब से हमारे समाज के लोग बाहर कमाने जाने लगे हैं और शहरों के रंग-ढंग सीख कर आए हैं, घर में औरतों की आवाज धीमी कर दी गई है। अब कहा जाता है कि 'बाहर के लोग क्या कहेंगे कि तुम्हारी औरत बाहर घूमती है?'। आधुनिकीकरण ने हमें पढ़ना-लिखना तो सिखाया, लेकिन हमारी आजादी छीन ली।"

यह अनुभव दर्शाता है कि 'विकास' और 'संस्कृतिकरण' का प्रभाव जेंडर के स्तर पर असमान रहा है। थारू समाज का हिंदूकरण उनके पुरुष वर्ग को तो उच्च प्रस्थिति देता है, लेकिन महिलाओं को पारंपरिक स्वतंत्रता से वंचित कर पितृसत्ता के दायरे में ला खड़ा करता है।

भाषा, वेशभूषा और दृश्य कला का रूपांतरण: 'हैबिटस' का बदलना

थारू समुदाय की दृश्य पहचान का क्षरण उनकी जीवनशैली के भौतिक और अभौतिक तत्वों में साफ देखा जा सकता है। महिलाओं के पारंपरिक भारी चांदी के आभूषण और कशूदाकारी वाले हस्तनिर्मित लहंगे अब दैनिक जीवन से गायब होकर केवल विशेष सांस्कृतिक उत्सवों तक सीमित हो गए हैं। युवा पीढ़ी अब आधुनिक पश्चिम पहनावे और संपर्क भाषा के रूप में हिंदी या भोजपुरी को प्राथमिकता दे रही है। इसके अतिरिक्त, उनकी पारंपरिक लोक-कला, जो मिट्टी के घरों की दीवारों (भित्ति-चित्रों) पर बनाई जाती थी, अब कंक्रीट के पक्के मकानों के निर्माण के कारण पूरी तरह विलुप्त होने की कगार पर है।

पियरे बोर्दियू (1977) के 'हैबिटस' सिद्धांत के अनुसार, व्यक्ति की सांस्कृतिक आदतें और प्रवृत्तियाँ उसके भौतिक परिवेश से निर्धारित होती हैं। जब मिट्टी के घर (भौतिक संरचना) कंक्रीट में बदलते हैं, तो उनके साथ जुड़ी कलात्मक और सामाजिक आदतें भी स्वत: रूपांतरित हो जाती हैं।

क्षेत्रीय साक्षात्कार के दौरान गोबरहिया गाँव के 22 वर्षीय राकेश कुमार बताते हैं कि "मिट्टी के घरों को हर साल लीपना और उन पर हाथ से चित्र बनाना बहुत मेहनत का काम था। अब जब हमने पक्के मकान बनवा लिए हैं, तो उन पर डिस्टेंपर पेंट होता है, मिट्टी की कलाकारी कंक्रीट पर नहीं टिकती। और फिर, अगर मैं दोस्तों के सामने अपनी थारू भाषा बोलूँ या पारंपरिक कपड़े पहनूँ, तो वे हमें 'जंगली' या 'देहाती' समझते हैं। शहर में नौकरी चाहिए तो पैंट-शर्ट पहनना और हिंदी-अंग्रेजी बोलना ही पड़ेगा।"

बोर्दियू के सिद्धांत के आलोक में, राकेश कुमार के इस टिप्पणी से उजागर होता है कि यहाँ थारू युवा अपनी पारंपरिक सांस्कृतिक पूँजी को 'निम्न मूल्य' का मानकर आधुनिक बाजार में जीवित रहने के लिए 'नई सांस्कृतिक पूँजी' (आधुनिक भाषा और वेशभूषा) को आत्मसात कर रहा है।

समकालीन चुनौतियाँ: सांस्कृतिक अस्मिता बनाम आधुनिकता

दोन क्षेत्र के ग्रामीण अंचलों में किए गए क्षेत्रीय कार्य से यह निष्कर्ष उभरता है कि शिक्षा और रोजगार के अवसरों के कारण शहरों की ओर होने वाले बाह्य प्रवास ने थारू युवाओं के मानस में एक गहरा 'पहचान का संकट' पैदा कर दिया है। वे एक ऐसे तिराहे पर खड़े हैं जहाँ वे आधुनिक व्यवस्था और नागरिक समाज का हिस्सा तो बनना चाहते हैं, लेकिन अपनी मूल जनजातीय पहचान को खोने के अनजाने भय से भी ग्रसित हैं।

यद्यपि राज्य की नीतियों ने उन्हें 'अनुसूचित जनजाति' (STs) का संवैधानिक दर्जा देकर आरक्षण और आर्थिक सुरक्षा के द्वार खोले हैं (प्रवीर, 2004), किंतु यह सुरक्षा केवल भौतिक स्तर पर है। राज्य के संस्थागत ढांचे में थारू समाज के अमूर्त स्वदेशी ज्ञान तंत्र, जैसे उनकी समृद्ध जड़ी-बूटियों का ज्ञान, पारंपरिक वन-पारिस्थितिकी समझ और लोक-चिकित्सा प्रणालियों के संरक्षण और संवर्धन के लिए कोई ठोस नीतियां नहीं दिखाई देतीं।

इस परिप्रेक्ष्य में बैरिया गाँव के एक अन्य शिक्षित स्नातक 23 वर्षीय थारू राजकुमार महतो का कहना है कि "एसटी (STs) सर्टिफिकेट मिलने से हमें कॉलेज में दाखिला और नौकरी तो मिल जाती है, सरकार सोचती है कि हमारा विकास हो गया। लेकिन हमारे इस 'थारू होने' का क्या मतलब रह जाएगा जब हमारी भाषा, हमारा लोक-ज्ञान और हमारी जड़ी-बूटियों की समझ ही खत्म हो जाएगी? हमारे दादाजी जंगल की पत्तियां देखकर बीमारी ठीक कर देते थे, वह ज्ञान किसी किताब में नहीं है। सरकार हमें नौकरी दे रही है, लेकिन हमारी आत्मा (सांस्कृतिक अस्मिता) को बचाने का कोई इंतजाम नहीं है।"

इस प्रकार, थारू समाज का यह सांस्कृतिक रूपांतरण परंपरा के पूर्ण लोप का नहीं, बल्कि आधुनिकता के थपेड़ों के बीच अपनी अस्मिता को पुनः बातचीत करने का एक जीवंत प्रयास है। दोन क्षेत्र के ये गाँव आज इस बात के प्रत्यक्ष गवाह हैं कि कैसे एक स्वदेशी समुदाय अपनी मौलिकता खोने की कीमत पर आधुनिक नागरिक बनने की प्रक्रिया से गुजर रहा है।

तथ्यों का विश्लेषण

'दोन क्षेत्र' के थारू बहुल गाँवों (गोबरहिया, नौरंगिया, ढायर और बैरिया) से प्राप्त नृवंशविज्ञानी साक्ष्य यह स्पष्ट करते हैं कि इस जनजाति का सांस्कृतिक रूपांतरण केवल एक रेखीय या सतही बदलाव नहीं है, बल्कि यह परंपरा और आधुनिकता के बीच होने वाला एक जटिल द्वंद्वात्मक संघर्ष है। श्यामानंद महतो, यमुना देवी, राकेश कुमार और राजकुमार महतो के जीवंत साक्षात्कार इस बात की पुष्टि करते हैं कि विकास की समकालीन प्रक्रियाएं कैसे जनजातीय समाज के आंतरिक ढांचे को पुनर्गठित कर रही हैं। इस विमर्श को समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से निम्नलिखित चार प्रमुख वैचारिक धरातलों पर समझा जा सकता है:

1. सांस्कृतिक विस्थापन बनाम अस्मिता का संकट

एम.एन. श्रीनिवास का 'संस्कृतिकरण' मॉडल थारू समाज में पूरी तरह क्रियाशील दिखाई देता है, लेकिन इसके परिणाम केवल 'ऊर्ध्वमुखी गतिशीलता' तक सीमित नहीं हैं। श्यामानंद महतो का यह कहना कि "देवता कंक्रीट के मंदिरों में नहीं, पेड़ों और खेतों की मेड़ों पर बसते थे", थारू समुदाय के पारंपरिक 'पारिस्थितिकीय अध्यात्म' के क्षरण को दर्शाता है। संस्कृतिकरण यहाँ केवल धार्मिक पद्धतियों का अनुकरण नहीं है, बल्कि यह एक 'सांस्कृतिक विस्थापन' है।

जब नई पीढ़ी 'बरना पूजा' और 'डीहवार' (भुइयां) जैसी स्वदेशी पद्धतियों को पिछड़ा मानकर मुख्यधारा के प्रतीकों (जैसे हनुमान चालीसा या रामनवमी) को अपनाती है, तो वह अनजाने में ही उस अमूर्त सांस्कृतिक धरोहर को खो देती है जो उनकी विशिष्ट पहचान का आधार थी। यह प्रक्रिया दर्शाती है कि हाशिये के समाज जब वृहत्तर संरचना में समाहित होने का प्रयास करते हैं, तो उन्हें अपनी सांस्कृतिक स्वायत्तता की आहुति देनी पड़ती है।

2. जेंडर का प्रतिगामी रूपांतरण: विकास का विरोधाभास

नौरंगिया गाँव की यमुना देवी का साक्षात्कार आधुनिकीकरण के उस विरोधाभास को उजागर करता है जिसे समाजशास्त्र में 'प्रतिगामी सामाजिक परिवर्तन' कहा जाता है। डी.एन. मजूमदार (1944) ने जिस समाज को मातृसत्तात्मक प्रवृत्तियों के निकट पाया था, वह अब मुख्यधारा के संपर्क में आकर तीव्र गति से पितृसत्तात्मक सांचे में ढल रहा है। बाहरी समाज के साथ बढ़ते आर्थिक संवाद और पुरुषों के बाह्य प्रवास ने थारू पुरुषों के भीतर पितृसत्तात्मक वर्चस्व को सुदृढ़ किया है।

यह निष्कर्ष अत्यंत गंभीर है। आधुनिक शिक्षा और आर्थिक विकास ने थारू महिलाओं को साक्षर तो बनाया है, लेकिन उनकी पारंपरिक सामाजिक और आर्थिक स्वायत्तता को संकुचित कर दिया है। इसे डेनिस कैंडियोटी के सिद्धांतों के आलोक में 'पितृसत्तात्मक अनुकूलन' (Patriarchal Bargain) के रूप में देखा जा सकता है, जहाँ समुदाय अपनी समग्र सामाजिक प्रस्थिति को ऊँचा उठाने के लिए महिलाओं की स्वतंत्रता को घरेलू दायरे और सामाजिक नियंत्रण के भीतर सीमित कर देता है।

3. भौतिक संस्कृति का बदलना और हैबिटस का पुनर्गठन

पियरे बोर्दियू (1977) का 'हैबिटस' सिद्धांत थारू समाज के भौतिक परिवर्तन को समझने की सटीक चाबी प्रदान करता है। राकेश कुमार की टिप्पणी कि "मिट्टी की कलाकारी कंक्रीट पर नहीं टिकती", यह सिद्ध करती है कि जब किसी समाज का भौतिक परिवेश (जैसे मिट्टी के घरों का कंक्रीट के पक्के मकानों में बदलना) रूपांतरित होता है, तो उसके साथ जुड़े अभौतिक सांस्कृतिक मूल्य (जैसे पारंपरिक भित्ति-चित्रकला और लोक-भाषा) भी स्वतः विस्थापित हो जाते हैं।

थारू युवाओं में अपनी भाषा और वेशभूषा को लेकर जो संकोच या हीनभावना दिखती है, वह आधुनिक बाजार की शक्तियों द्वारा निर्मित 'प्रतीकात्मक हिंसा' का परिणाम है। युवा वर्ग अपनी पारंपरिक सांस्कृतिक पूँजी को आधुनिक बाजार और नागरिक समाज में अनुत्पादक या निम्न मूल्य का मानने लगा है। परिणामस्वरूप, वे जीवित रहने और नौकरियों के अवसर पाने के लिए नई सांस्कृतिक पूँजी (हिंदी, अंग्रेजी भाषा और आधुनिक वेशभूषा) को आत्मसात करने के लिए विवश हैं।

4. राज्य की कल्याणकारिता और अमूर्त स्वदेशी ज्ञान का ह्रास

बैरिया गाँव के राजकुमार महतो का यह समाजशास्त्रीय प्रश्न कि "हमारे इस 'थारू होने' का क्या मतलब रह जाएगा जब हमारा लोक-ज्ञान ही खत्म हो जाएगा?", राज्य के विकास मॉडल पर एक बड़ा प्रश्नचिह्न लगाता है। वर्जिलियस खाखा (2003) के तर्कों के अनुरूप, राज्य की नीतियां (जैसे ST का संवैधानिक दर्जा और आरक्षण) जनजातीय समाज को भौतिक और आर्थिक सुरक्षा (नौकरी, दाखिला) तो प्रदान कर रही हैं, लेकिन यह विकास समावेशी होने के बजाय आत्मीकरण पर आधारित है।

राज्य का संस्थागत ढांचा थारू समुदाय के अमूर्त 'स्वदेशी ज्ञान तंत्र' जैसे उनकी पारंपरिक जड़ी-बूटियों की समझ, वन-पारिस्थितिकी का ज्ञान और लोक-चिकित्सा प्रणालियों-को संरक्षित करने में विफल रहा है। यह स्थिति थारू युवाओं के मानस में एक गहरा 'पहचान का संकट' पैदा करती है, जहाँ वे भौतिक रूप से आधुनिक नागरिक तो बन रहे हैं, लेकिन सांस्कृतिक रूप से अपनी जड़ों से कट रहे हैं।

सांस्कृतिक परिवर्तन के अंतर्निहित कारण

थारू समाज में घटित होने वाला यह बहुआयामी रूपांतरण किसी एक आकस्मिक घटना का परिणाम नहीं है, बल्कि यह कई समवर्ती और अंतर्संबंधित कारकों की संचयी परिणति है। इसके मूल कारणों में सबसे पहला कारक भौगोलिक विलगता का अंत और ढांचागत विकास है; वाल्मीकि नगर टाइगर रिजर्व और दोन क्षेत्र के सुदूर गाँवों में सड़कों के जाल और परिवहन सुविधाओं के विस्तार ने बाह्य समाजों के साथ उनके संपर्क को अपरिहार्य बना दिया है। दूसरा महत्वपूर्ण कारण आर्थिक विविधीकरण और बाह्य प्रवास है, जिसने कृषि पर उनकी पारंपरिक निर्भरता को कम किया है और थारू युवाओं को रोजगार के लिए शहरी श्रम बाजार की ओर धकेला है, जहाँ उन्हें मुख्यधारा की जीवनशैली के साथ सामंजस्य बिठाना पड़ता है। तीसरा कारण आधुनिक शिक्षा का प्रसार और सूचना प्रौद्योगिकी (इंटरनेट व स्मार्टफोन) का तीव्र प्रवेश है, जिसने युवा पीढ़ी के आकांक्षात्मक स्तर को बदलते हुए उनमें अपनी सांस्कृतिक पूँजी के प्रति एक अघोषित हीनभावना को जन्म दिया है। अंततः, राज्य की आत्मीकरण पर आधारित नीतियां और स्थानीय स्तर पर हिंदू धर्म के उच्च सोपानक्रम में शामिल होने की 'संस्कृतिकरण' की ललक ने एक ऐसी सामाजिक परिस्थिति उत्पन्न कर दी है, जहाँ भौतिक प्रगति तो हो रही है, परंतु उसकी कीमत थारू समुदाय को अपनी स्वदेशी भाषा, अमूर्त ज्ञान परंपरा और महिलाओं की स्वायत्तता को खोकर चुकानी पड़ रही है।

सारणी.01: परिवर्तन के आयाम, समाजशास्त्रीय सिद्धांत एवं कारकों की

सांस्कृतिक परिवर्तन के आयाम	मुख्य समाजशास्त्रीय सिद्धांत / विचारक	क्षेत्रीय साक्ष्य (साक्षात्कार संदर्भ)	परिवर्तन के उत्तरदायी मुख्य कारण
पारिस्थितिकीय अध्यात्म का क्षरण एवं हिंदूकरण	संस्कृतिकरण'— एम.एन. श्रीनिवास	श्यामानंद महतो (ढायर गाँव): "देवता कंक्रीट के मंदिरों में नहीं, पेड़ों और मेड़ों पर बसते थे..."	बाह्य सांस्कृतिक संपर्क, मुख्यधारा के धार्मिक प्रतीकों का आकर्षण, सामाजिक सोपानक्रम में ऊपर उठने की आकांक्षा।
महिला स्वायत्तता का ह्रास और पितृसत्तात्मकता	पितृसत्तात्मक अनुकूलन' (Patriarchal Bargain) — डेनिस कैंडियोटी / मजूमदार	यमुना देवी (नौरंगिया गाँव): "शहरों के रंग-ढंग सीख कर आए हैं, घर में औरतों की आवाज़ धीमी कर दी गई..."	आर्थिक विविधीकरण, पुरुषों का शहरी प्रवास, बाह्य पितृसत्तात्मक मूल्यों का आत्मसातीकरण।
लोक-कला, भाषा एवं वेशभूषा का विस्थापन	हैबिटस' (Habitus) एवं 'सांस्कृतिक पूँजी' — पियरे बोर्दियू	राकेश कुमार (गोबरहिया गाँव): "मिट्टी की कलाकारी कंक्रीट पर नहीं टिकती, हिंदी-अंग्रेजी बोलना ही पड़ेगा..."	कंक्रीट के मकानों का निर्माण (भौतिक परिवेश में बदलाव), बाजार की शक्तियों द्वारा निर्मित 'प्रतीकात्मक हिंसा'।
अमूर्त स्वदेशी ज्ञान का लोप एवं पहचान का संकट	आत्मीकरण बनाम समावेश' (Assimilation vs Inclusion) — वर्जिलियस खाखा	राजकुमार महतो (बैरिया गाँव): "हमारा लोक-ज्ञान खत्म हो जाएगा, तो थारू होने का क्या मतलब रह जाएगा..."	आधुनिक औपचारिक शिक्षा, राज्य की नीतियों में केवल भौतिक विकास (ST दर्जा/आरक्षण) पर ध्यान और अमूर्त धरोहर के संरक्षण का अभाव।

स्रोत: इस तथ्य को हमने दोन क्षेत्र में नृवंशवैज्ञानिक साक्षात्कार के माध्यम से प्राप्त किया हैं।

निष्कर्ष

दोन क्षेत्र के थारू बहुल ग्रामीण अंचलों में जनवरी 2024 से दिसंबर 2025 तक किए गए नृवंशविज्ञानी क्षेत्रीय कार्य और समाजशास्त्रीय विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि थारू जनजाति का समकालीन सांस्कृतिक रूपांतरण एक अत्यंत जटिल, बहुआयामी और द्वंद्वात्मक संक्रमण से गुजर रहा है। एम.एन. श्रीनिवास के 'संस्कृतिकरण' और पियरे बोर्दियू के 'हैबिटस' सिद्धांतों के आलोक में यह शोध सिद्ध करता है कि थारू समाज में आ रहे बदलाव केवल बाहरी आधुनिक ताकतों के अंधानुकरण का परिणाम नहीं हैं, बल्कि यह इस समुदाय द्वारा आधुनिक नागरिक समाज और वृहत्तर सामाजिक सोपानक्रम में अपनी स्थिति को पुनर्परिभाषित करने का एक सचेत प्रयास है।

अध्ययन के निष्कर्ष यह उजागर करते हैं कि आधुनिकता और विकास की यह प्रक्रिया अपने भीतर कई विरोधाभासों को समेटे हुए है। जहाँ एक ओर बहुस्तरीय ढांचागत विकास, डिजिटल संपर्क और राज्य की कल्याणकारी नीतियों (जैसे अनुसूचित जनजाति का दर्जा और आरक्षण) ने थारू समुदाय को भौतिक सुरक्षा और ऊर्ध्वमुखी सामाजिक गतिशीलता प्रदान की है; वहीं दूसरी ओर, इसके लिए उन्हें एक भारी सांस्कृतिक कीमत भी चुकानी पड़ रही है। बरना पूजा और डीहवार जैसे पारंपरिक प्रकृति-वादी अनुष्ठानों का विस्थापन, लोक-भाषा और पारंपरिक भित्ति-चित्रकला का ह्रास, तथा सबसे गंभीर रूप सेख़बाह्य समाजों के संपर्क के कारण थारू महिलाओं की पारंपरिक स्वायत्तता का पितृसत्तात्मक अनुकूलन में बदल जाना, विकास के इस मॉडल के प्रतिगामी पक्षों को रेखांकित करता है।

थारू युवा पीढ़ी आज एक गहरे पहचान के संकट और तिराहे पर खड़ी है, जहाँ आधुनिक बाजार में जीवित रहने के लिए वे अपनी स्वदेशी सांस्कृतिक पूँजी को त्यागकर नई भाषा और वेशभूषा को अपनाने के लिए विवश हैं। राजकुमार महतो जैसे शिक्षित युवाओं का विमर्श यह प्रमाणित करता है कि राज्य का वर्तमान विकास प्रतिमान केवल भौतिक समावेशन पर केंद्रित है, जो उनके अमूर्त स्वदेशी ज्ञान तंत्र जैसे जैव-विविधता, जड़ी-बूटियों की समझ और लोक-चिकित्सा परंपराख़के संरक्षण में पूरी तरह विफल रहा है।

अंततः यह शोध आलेख यह अनुशंसा करता है कि थारू जनजाति के आत्मीकरण के बजाय एक ऐसे वैकल्पिक विकास मॉडल की नीति बनाई जानी चाहिए, जो वर्जिलियस खाखा के तर्कों के अनुरूप हो। विकास की मुख्यधारा ऐसी होनी चाहिए जहाँ थारू समुदाय को अपनी मौलिक जनजातीय अस्मिता, भाषाई स्वायत्तता, समृद्ध लोक-ज्ञान और जेंडर-समानता को खोने की शर्त पर आधुनिक न बनना पड़े, बल्कि वे अपनी सांस्कृतिक विशिष्टता और गौरव को अक्षुण्ण रखते हुए देश के लोकतांत्रिक और आर्थिक ताने-बाने में अपनी सम्मानजनक भागीदारी सुनिश्चित कर सकें।

संदर्भ

Bajaj, A. (2012). Development and displacement in tribal belts. Economic and Political Weekly, 47(28), 65-72.

Bourdieu, P. (1977). Outline of a theory of practice (R. Nice, Trans.). Cambridge University Press. https://doi.org/10.1017/CBO9780511812507

Kandyoti, D. (1988). Bargaining with patriarchy. Gender & Society, 2(3), 274-290. https://doi.org/10.1177/089124388002003004

Jha, M. (2014). Negotiating modernity: Tribal women and cultural re-making in North India. Contributions to Indian Sociology, 48(2), 211-234. https://doi.org/10.1177/0069966714524227

Majumdar, D. N. (1944). The fortunes of primitive tribes. Universal Publishers.

Narayan, B. (2006). Visualizing subaltern history and culture: Changing contours of Dalit identity. SAGE Publications. https://doi.org/10.4135/9788132101031

प्रवीर, रा. (2004). थारू : पहचान के लिए संघर्षरत जनजाति. बिहार हिन्दी ग्रंथ अकादमी।

Srinivas, M. N. (1952). Religion and society among the Coorgs of South India. Oxford University Press.

Srivastava, S. K. (1999). The Tharus: A study in culture dynamics. New Royal Book Co.

Xaxa, V. (2003). Tribes and Indian national identity: Location of exclusion and inclusion. Economic and Political Weekly, 38(51/52), 5389-5396. http://www.jstor.org/stable/4414421

लोकतंत्र और सार्वजनिक नीतियों पर मीडिया का प्रभाव: एक विश्लेषण

शिव चन्द्र श्रीवास्तव

शोधार्थी, हिंदी विभाग, ल. न. मिथिला विश्वविद्यालय, दरभंगा

सारांश

एक ऐसी दुनिया की कल्पना कीजिए जहाँ हमारे आस-पास क्या हो रहा है, यह जानने का एकमात्र तरीका मौखिक प्रचार ही हो। आज के समय में यह लगभग असंभव लगता है, है ना?

लोकतंत्र और सार्वजनिक नीतियों पर मीडिया का गहरा और सीधा प्रभाव पड़ता है। मीडिया जनता को जागरूक करके जनमत तैयार करता हैएसरकारी जवाबदेही तय करता है और एजेंडा तय करके प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से नीतियों के निर्माण व संशोधन को प्रेरित करता है।

मीडिया ने जहाँ जनता को निर्भीकता पूर्वक जागरूक करने, भ्रष्टाचार को उजागर करने, सत्ता पर तार्किक नियंत्रण एवं जनहित कार्यों की अभिवृद्धि में योगदान दिया है, वहीं लालच, भय, द्वेष, स्पर्धा, दुर्भावना एवं राजनैतिक कुचक्र के जाल में फंसकर अपनी भूमिका को कलंकित भी किया है। व्यक्तिगत या संस्थागत निहित स्वार्थों के लिये 'यलो जर्नलिज्म' को अपनाना, ब्लैकमेल द्वारा दूसरों का शोषण करना, चटपटी खबरों को तवज्जों देना और खबरों को तोड़-मरोड़कर पेश करना, दंगे भड़काने वाली खबरे प्रकाशित करना, घटनाओं एवं कथनों को द्विअर्थी रूप प्रदान करना, भय या लालच में सत्तारूढ़ दल की चापलूसी करना, अनावश्यक रूप से किसी की प्रशंसा और महिमामंडन करना और किसी दूसरे की आलोचना करना जैसे अनेक अनुचित कार्य आजकल मीडिया द्वारा किये जा रहे हैं। दुर्घटना एवं संवेदनशील मुद्दों को बढ़ा-चढ़ाकर पेश करना, ईमानदारी, नैतिकता, कर्त्तव्यनिष्ठा और साहस से' संबंधित खबरों को नजरअंदाज करना आजकल मीडिया का एक सामान्य लक्षण हो गया है। मीडिया के इस व्यवहार से समाज में अव्यवस्था और असंतुलन की स्थिति पैदा होती है।

मीडिया की बदौलत हम लगातार जानकारी प्राप्त करते हैं, जुड़े रहते हैं और लोकतांत्रिक प्रक्रियाओं में भाग लेने में सक्षम होते हैं। लेकिन लोकतंत्र में मीडिया की भूमिका वास्तव में क्या है और यह सार्वजनिक नीतियों को कैसे प्रभावित करती है? इस शोध पत्र में इस विषय पर गहराई से विचार किया गया है।

मूल शब्द: लोकतंत्र, सार्वजनिक नीति, मीडिया, एजेंडा निर्धारण, प्रभाव

प्रस्तावना

लोकतंत्र को आकार देने में मीडिया की भूमिका सदियों पहले प्रिंटिंग प्रेस के आविष्कार से शुरू हुई थी। इस क्रांतिकारी तकनीक ने पुस्तकों और पर्चों के बड़े पैमाने पर उत्पादन को संभव बनाया, जिससे आम जनता के लिए सूचना अधिक सुलभ हो गई। पहली बार, लोग उन विचारों और बहसों के बारे में पढ़ सकते थे जो पहले केवल अभिजात वर्ग तक ही सीमित थीं।

बीसवीं सदी में आते-आते रेडियो और टेलीविजन का उदय हुआ। इन माध्यमों ने समाचार और जानकारी सीधे लोगों के घरों तक पहुँचाई, जिससे सूचना तक पहुँच और भी अधिक लोकतांत्रिक हो गई। चंद्रमा पर उतरने के प्रसारण जैसे ऐतिहासिक क्षणों ने लोगों को एकजुट करने और एक साझा अनुभव प्रदान करने में मीडिया की शक्ति को प्रदर्शित किया।[1]

आधुनिक लोकतंत्रों में , जनता को नीति निर्माताओं से जोड़ने में मीडिया की अहम भूमिका होती है।[2]

जैसे:

- जनता को सूचित करना: मीडिया संस्थान समाचार और विश्लेषण प्रदान करते हैं, जिससे लोगों को वर्तमान घटनाओं और मुद्दों के बारे में जानकारी मिलती रहती है। यह जानकारी चुनाव में मतदान जैसे निर्णय लेने के लिए आवश्यक है।
- बहस को बढ़ावा देना: मीडिया विविध आवाजों और विचारों के लिए एक मंच प्रदान करता है, जिससे महत्वपूर्ण मुद्दों पर सार्वजनिक बहस संभव हो पाती है। इससे अधिक जागरूक और सक्रिय नागरिक तैयार करने में मदद मिलती है।
- सत्ता को जवाबदेह ठहराना: खोजी पत्रकारिता भ्रष्टाचार और कुकर्मों को उजागर करती है, जिससे यह सुनिश्चित होता है कि सत्ता में बैठे लोगों को जवाबदेह ठहराया जाए। यह एक स्वस्थ लोकतंत्र को बनाए रखने के लिए अत्यंत आवश्यक है।

डिजिटल मीडिया का उदय और उसका प्रभाव

डिजिटल मीडिया के आगमन ने सूचना प्राप्त करने के हमारे तरीके को बदल दिया है। सोशल मीडिया प्लेटफॉर्म, समाचार वेबसाइट और ब्लॉग ने समाचारों तक पहुंचना और राय साझा करना पहले से कहीं अधिक आसान बना दिया है।[3]

हालांकि, इस डिजिटल क्रांति ने नई चुनौतियां भी खड़ी कर दी हैं:

- चौबीसों घंटे चलने वाला समाचार चक्र: खबरों की निरंतर धारा लोगों को अभिभूत कर सकती है, जिससे उनके लिए महत्वपूर्ण मुद्दों पर ध्यान केंद्रित करना मुश्किल हो जाता है।
- मनोरंजन-आधारित सूचना: समाचार और मनोरंजन के बीच की रेखा धुंधली हो गई है, जिससे सनसनीखेज खबरें और ठोस रिपोर्टिंग की जगह क्लिकबेट को प्राथमिकता दी जा रही है।
- इको चौंबर्स : सोशल मीडिया एल्गोरिदम अक्सर ऐसी सामग्री को प्राथमिकता देते हैं जो उपयोगकर्ताओं की मौजूदा मान्यताओं के अनुरूप होती है, जिससे इको चौंबर्स बनते हैं जो पूर्वाग्रहों को मजबूत करते हैं और विविध दृष्टिकोणों के संपर्क को सीमित करते हैं।[4]

मीडिया की सकारात्मक भूमिका

लोकतांत्रिक देशों में विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका के क्रियाकलापों पर नजर रखने के लिये मीडिया को ''चौथे स्तंभ'' के रूप में जाना जाता है। 18वीं शताब्दी के बाद से, खासकर अमेरिकी स्वतंत्रता आंदोलन और फ्राँसीसी क्रांति के समय से जनता तक पहुँचने और उसे जागरूक कर सक्षम बनाने में मीडिया ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। मीडिया अगर सकारात्मक भूमिका अदा करें तो किसी भी व्यक्ति, संस्था, समूह और देश को आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं राजनीतिक रूप से समृद्ध बनाया जा सकता है।

वर्तमान समय में मीडिया की उपयोगिता, महत्त्व एवं भूमिका निरंतर बढ़ती जा रही है। कोई भी समाज, सरकार, वर्ग, संस्था, समूह व्यक्ति मीडिया की उपेक्षा कर आगे नहीं बढ़ सकता। आज के जीवन में मीडिया एक अपरिहार्य आवश्यकता बन गया है। अगर हम देखें कि समाज किसे कहते हैं तो यह तथ्य सामने आता है कि लोगों की भीड़ या असंबंद्घ मनुष्य को हम समाज नहीं कह सकते हैं। समाज का अर्थ होता है संबंधों का परस्पर ताना-बाना, जिसमें विवेकवान और विचारशील मनुष्यों वाले समुदायों का अस्तित्व होता है।[5]

- सूचना और जागरूकता: मीडिया नागरिकों तक सरकारी योजनाओं, नीतियों और समसामयिक मुद्दों की जानकारी पहुँचाता है, जिससे वे चुनावों और मुद्दों पर सही निर्णय ले पाते हैं।
- वॉचडॉग (पहरेदार) की भूमिका: प्रेस की स्वतंत्रता के माध्यम से मीडिया भ्रष्टाचार, सत्ता के दुरुपयोग और मानवाधिकारों के उल्लंघनों को उजागर करता है, जिससे सरकार पारदर्शी और जवाबदेह बनती है।
- जन-समस्याओं को मंच: मीडिया विभिन्न मंचों के जरिए आम जनता, विशेषज्ञों और वंचित वर्गों की आवाज को नीति-निर्माताओं तक पहुँचाता है, जो कई बार नई सार्वजनिक नीतियों का आधार बनता है।

सार्वजनिक नीतियों पर प्रभाव

- एजेंडा निर्धारण (Agenda Setting): मीडिया जिन विषयों को प्रमुखता से उठाता है, सरकार और राजनेता अक्सर उन्हीं विषयों पर नीतियाँ बनाने को प्राथमिकता देते हैं।
- नीति में बदलाव और दबाव: किसी घटना या सामाजिक मुद्दे पर मीडिया द्वारा लगातार अभियान (Campaign) चलाने से सरकार दबाव में आकर जनहितैषी नीतियाँ बनाने या पुराने कानूनों में संशोधन करने के लिए मजबूर होती है।[6]

लोकतंत्र और लोक नीतियों के सामने चुनौतियाँ

- मीडिया ट्रायल और सनसनीखेज पत्रकारिता: टीआरपी (TRP) और व्यावसायिक लाभ की होड़ में कई बार मीडिया तथ्यों को तोड़-मरोड़ कर पेश करता हैए जिससे जनमत भ्रमित हो सकता है।
- भ्रामक और गलत सूचना (Fake News): सोशल मीडिया के इस दौर में असत्यापित खबरें और दुष्प्रचार (Propaganda) तेजी से फैलते हैंए जो लोकतांत्रिक मूल्यों, चुनाव प्रक्रिया और शांतिपूर्ण माहौल के लिए खतरा बन सकते हैं।
- राजनीतिक और कॉर्पोरेट पूर्वाग्रह: मीडिया घरानों के राजनीतिक झुकाव या व्यावसायिक हितों के कारण निष्पक्ष रिपोर्टिंग प्रभावित होती हैए जिससे नीतियों पर भी एकतरफा प्रभाव पड़ने की संभावना रहती है।

मीडिया एक मजबूत लोकतंत्र और प्रभावी सार्वजनिक नीति की रीढ़ है, लेकिन इसकी सफलता स्वतंत्र, निष्पक्ष और जिम्मेदार पत्रकारिता पर ही निर्भर करती है।[7]

केस स्टडी: भारत में सार्वजनिक नीति पर मीडिया का प्रभाव

सार्वजनिक नीति पर मीडिया के प्रभाव को समझने के लिए, आइए भारत से कुछ उदाहरण देखें:

अन्ना हजारे का भ्रष्टाचार विरोधी आंदोलन

2011 में, सामाजिक कार्यकर्ता अन्ना हजारे ने जन लोकपाल विधेयक को लागू करने की मांग करते हुए देशव्यापी भ्रष्टाचार विरोधी आंदोलन का नेतृत्व किया। मीडिया ने हजारे के संदेश को व्यापक रूप से प्रसारित करने, उनकी भूख हड़ताल को कवर करने और जन समर्थन जुटाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। व्यापक मीडिया कवरेज ने सरकार पर भारी दबाव डाला, जिसके परिणामस्वरूप अंततः 2013 में लोकपाल और लोकायुक्त अधिनियम पारित हुआ।[8]

निर्भया मामला और बलात्कार कानूनों में बदलाव

2012 में दिल्ली में निर्भया कांड के नाम से मशहूर एक युवती के साथ हुए क्रूर सामूहिक बलात्कार ने पूरे देश में आक्रोश पैदा कर दिया। घटना की मीडिया कवरेज और उसके बाद हुए विरोध प्रदर्शनों ने महिलाओं की सुरक्षा के मुद्दे को प्रमुखता दी। इस जन आक्रोश के चलते भारत के बलात्कार कानूनों में महत्वपूर्ण बदलाव हुए, जिनमें कड़ी सजा और बलात्कार के मामलों के लिए त्वरित अदालतों की स्थापना शामिल है।[9]

सार्वजनिक नीति को आकार देने में आधुनिक मीडिया की चुनौतियाँ

हालांकि मीडिया में सकारात्मक बदलाव लाने की क्षमता है, लेकिन इसे कई चुनौतियों का भी सामना करना पड़ता है जो इसकी प्रभावशीलता में बाधा डाल सकती हैं:

मीडिया स्वामित्व और पूर्वाग्रह

भारत में, कुछ बड़ी कंपनियों का मीडिया जगत पर काफी दबदबा है। स्वामित्व का यह केंद्रीकरण रिपोर्टिंग में पूर्वाग्रह को जन्म दे सकता है, क्योंकि मीडिया संस्थान निष्पक्ष पत्रकारिता के बजाय अपने मालिकों के हितों को प्राथमिकता दे सकते हैं। इससे पक्षपातपूर्ण कवरेज और कुछ विशेष दृष्टिकोणों का दमन हो सकता है।[10]

फर्जी खबरें और गलत सूचना

डिजिटल मीडिया के उदय से फर्जी खबरों और गलत सूचनाओं का प्रसार भी बढ़ा है। सोशल मीडिया पर गलत जानकारी तेजी से फैल सकती है, जिससे भ्रम और अविश्वास पैदा होता है। इससे सार्वजनिक नीतियों पर गंभीर प्रभाव पड़ सकता है, क्योंकि गलत जानकारी के आधार पर लिए गए निर्णय हानिकारक हो सकते हैं।

सनसनीखेजता की भूमिका

रेटिंग और व्यूज की होड़ में मीडिया संस्थान अक्सर सनसनीखेज खबरों का सहारा लेते हैं। सनसनीखेज और चौंकाने वाली कहानियों पर जोर देने से महत्वपूर्ण मुद्दों से ध्यान भटक सकता है और वास्तविकता की विकृत छवि बन सकती है। सनसनीखेज खबरें डर और दहशत भी पैदा कर सकती हैं, जिससे जनमत और नीतिगत फैसलों पर नकारात्मक प्रभाव पड़ सकता है।[11]

आगे का रास्ता: एक जिम्मेदार मीडिया परिदृश्य का निर्माण करना

यह सुनिश्चित करने के लिए कि मीडिया लोकतंत्र और सार्वजनिक नीति में सकारात्मक भूमिका निभाता रहे, कई कदम उठाए जा सकते हैं:

मीडिया साक्षरता को बढ़ावा देना

समाचारों और सूचनाओं का आलोचनात्मक मूल्यांकन करने के बारे में जनता को शिक्षित करना अत्यंत आवश्यक है। मीडिया साक्षरता कार्यक्रम लोगों को विश्वसनीय स्रोतों की पहचान करने, पूर्वाग्रहों को समझने और फर्जी खबरों के झांसे में आने से बचने में मदद कर सकते हैं।[12]

विविध स्वामित्व को प्रोत्साहित करना

मीडिया संस्थानों के विविध स्वामित्व को बढ़ावा देने से अनेक आवाजों और दृष्टिकोणों को सुनिश्चित करने में मदद मिल सकती है। इससे अधिक संतुलित और वस्तुनिष्ठ रिपोर्टिंग हो सकती है, जिससे लोकतंत्र और सार्वजनिक नीति को लाभ होगा।

गुणवत्तापूर्ण पत्रकारिता का समर्थन करना

खोजी पत्रकारिता में निवेश करना और स्वतंत्र मीडिया संगठनों का समर्थन करना रिपोर्टिंग के उच्च मानकों को बनाए रखने में सहायक हो सकता है। गुणवत्तापूर्ण पत्रकारिता सत्ता को जवाबदेह ठहराने और जनता को महत्वपूर्ण मुद्दों से अवगत कराने के लिए आवश्यक है।[13]

निष्कर्ष

लोकतंत्र और सार्वजनिक नीतियों को आकार देने में मीडिया हमेशा से एक शक्तिशाली भूमिका निभाता रहा है। प्रिंटिंग प्रेस के शुरुआती दौर से लेकर आधुनिक डिजिटल युग तक, इसने जनता को सूचित करने, बहस को बढ़ावा देने और सत्ता को जवाबदेह ठहराने में अहम भूमिका निभाई है। हालांकि, चौबीसों घंटे चलने वाले समाचार चक्र, मनोरंजन और सूचनात्मक माध्यमों के उदय ने नई चुनौतियां खड़ी कर दी हैं, जिनका समाधान करना आवश्यक है।

मीडिया साक्षरता को बढ़ावा देकर, विविध स्वामित्व को प्रोत्साहित करके और गुणवत्तापूर्ण पत्रकारिता का समर्थन करके, हम यह सुनिश्चित कर सकते हैं कि मीडिया हमारे लोकतंत्र में सकारात्मक भूमिका निभाता रहे। आखिरकार, जागरूक और सक्रिय नागरिक ही स्वस्थ लोकतंत्र की आधारशिला हैं।

सन्दर्भ

1. सिंह, रानी एवं तिवारी, डॉ. संध्या (2023), भारतीय राजनीति में मीडिया की भूमिका, प्श्रा८, 2023; 9(7): 339-343.
2. इमरान, एमएस, फातिमा, एम. और कोसर, जी. कनेक्टिविज्म: सोशल मीडिया पब्लिक स्फीयर्स पर लोकतांत्रिक मूल्यों की ई-लर्निंग। 2017 इंटरनेशनल कॉन्फ्रेंस ऑन इंफॉर्मेशन एंड कम्युनिकेशन टेक्नोलॉजीज 82-89 (आईईईई, 2018)।
3. पर्सिली, एन. और टकर, जे.ए. सोशल मीडिया और लोकतंत्र: क्षेत्र की स्थिति, सुधार की संभावनाएं (कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, 2020)।
4. टकर, जे.ए. एट अल. सोशल मीडिया, राजनीतिक ध्रुवीकरण और राजनीतिक दुष्प्रचार: वैज्ञानिक साहित्य की समीक्षा https://hewlett.org/library/social-media-political-polarization-political-disinformation-review-scientific-literature/ (2018).
5. हावर्ड, पीएन और हुसैन, एमएम लोकतंत्र की चौथी लहर? डिजिटल मीडिया और अरब स्प्रिंग (ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 2013)।
6. एंगेसर, एस., अर्न्स्ट, एन., एस्सर, एफ. और बुशेल, एफ. लोकलुभावनवाद और सोशल मीडिया: राजनेता कैसे खंडित विचारधारा फैलाते हैं। सूचना संचार समाज 20 , 1109-1126 (2017)।
7. बैक-कोलमैन, जेबी एट अल. वैश्विक सामूहिक व्यवहार का प्रबंधन। प्रोक. नेटल एकेड. साइंस. यूएसए 118 , म2025764118 (2021)।
8. मिलनर, एच. नागरिक साक्षरता: कैसे सूचित नागरिक लोकतंत्र को सफल बनाते हैं (यूपीएनई, 2002)।
9. कोहलर-कोच, बी. और क्विटकट, सी. सहभागी लोकतंत्र का रहस्योद्घाटन: यूरोपीय संघ-शासन और नागरिक समाज (ओयूपी ऑक्सफोर्ड, 2013)।
10. लुहरमन, ए. एट अल. वैश्विक चुनौतियों का सामना करती लोकतंत्र वी-डेम वार्षिक लोकतंत्र रिपोर्ट 2019 (वी-डेम संस्थान, गोथेनबर्ग विश्वविद्यालय, 2019)।
11. चेन, सी., बाई, वाई. और वांग, आर. ऑनलाइन राजनीतिक प्रभावकारिता और राजनीतिक भागीदारी: ताइवान के साक्ष्यों पर आधारित एक मध्यस्थता विश्लेषण। न्यू मीडिया सोस. 21 , 1667-1696 (2019)।
12. क्लेनबर्ग, एम. और लाउ, आर. गूगलिंग राजनीति: कैसे ऑफलोडिंग मतदान और राजनीतिक ज्ञान को प्रभावित करती है। पॉलिट. साइकोल. 42 , 93-110 (2021)।
13. पार्क, सी. और केय, बी. सोशल मीडिया पर समाचार सहभागिता और लोकतांत्रिक नागरिकता: राजनीतिक भागीदारी में क्यूरेटोरियल समाचार उपयोग की प्रत्यक्ष और मध्यस्थ भूमिकाएँ। जर्नल. मास कम्युन. क्यू. 95, 1103-1127 (2018)।

यशपाल के 'झूठा-सच' उपन्यास की समीक्षा

डॉ० रीना देवी

सहायक प्रोफेसर, हिंदी विभाग, चौधरी ईश्वर सिंह कन्या महाविद्यालय पूंडरी (कैथल)

सार

यह कहा जा सकता है कि यशपाल द्वारा लिखित श्झूठा सचश हिंदी साहित्य का एक कालजयी महाकाव्य है जो भारत-पाकिस्तान विभाजन, सांप्रदायिक दंगों, विस्थापन और स्वतंत्रता के बाद की निराशा की त्रासदी का यथार्थवादी चित्रण प्रस्तुत करता है। यह कृति 1942 से 1957 तक भारत की सामाजिक, राजनीतिक और सांप्रदायिक वास्तविकताओं को जीवंत रूप से चित्रित करती है। यशपाल का यह उपन्यास दो भागोंख्ष्वतन और देशष और ष्देश का भविष्यष में विभाजित है ष इस तथ्य से इनकार नहीं किया जा सकता है कि यह उपन्यास लाहौर और दिल्ली के परिदृश्यों के माध्यम से मानवीय भावनाओं और राजनीतिक कूटनीति का अन्वेषण करता है। यशपाल का ष्झूठा सचष भारत-पाकिस्तान विभाजन की त्रासदी पर आधारित हिंदी साहित्य का सबसे प्रामाणिक महाकाव्य उपन्यास है। "झूठा सच" की भाषा सरल, सजीव और नाटकीय है, जो पाठकों को सामाजिक, राजनीतिक और सांप्रदायिक घटनाओं से सीधे जोड़ती है। यशपाल का उपन्यास ष्झूठा-सचष (1958-60) हिंदी साहित्य का एक उत्कृष्ट उपन्यास है, जो 1947 के भारत विभाजन, सांप्रदायिक दंगों और उसके बाद के सामाजिक पुनर्वास की त्रासदी को यथार्थवादी ढंग से चित्रित करता है। यह उपन्यास लाहौर के एक मध्यमवर्गीय परिवार के संघर्षों के माध्यम से देश विभाजन की भयावहता, नारी पहचान और मोहभंग को उजागर करता है। यह उपन्यास न केवल इतिहास बताता है, बल्कि उस इतिहास के पीछे छिपी मानवीय त्रासदी और भारत के प्रारंभिक वर्षों की सामाजिक-राजनीतिक वास्तविकता को भी उजागर करता है। यह उपन्यास भारत के विभाजन के दौरान हिंदू-मुस्लिम मतभेदों को स्पष्ट रूप से दर्शाता है। इसमें भारत के विभाजन का एक संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया गया है।इस शोध पत्र में यशपाल के उपन्यास ष्झूठा सचष का आलोचनात्मक विश्लेषण किया गया है।

मुख्य शब्द: भारत, पाकिस्तान, विभाजन, सांप्रदायिक दंगों।

भूमिका-

हिंदी साहित्य के लेखक यशपाल एक दृढ़ निश्चयी मार्क्सवादी थे। यशपाल हिंदी साहित्य के इतिहास में अग्रणी मार्क्सवादी कम्युनिस्ट लेखकों में से एक थे। उन्हें मार्क्सवादी विचारधारा में गहरी आस्था थी, और यह मार्क्सवादी विचारधारा उनके उपन्यासों में भी झलकती थी।यशपाल अपने मुखर रवैये के लिए जाने जाते थे और वे हमेशा अन्याय और असमानता के खिलाफ आवाज उठाते थे। वे आम आदमी की समस्याओं को लेकर बहुत चिंतित रहते थे। वे हिंदी साहित्य और भारतीय राजनीति दोनों को समाज के वंचित, शोषित और पीड़ित वर्गों के उत्थान का साधन मानते थे। उनके हिंदी लेखन में शोषकों के प्रति आक्रोश और भारत के श्रमिक वर्ग के प्रति गहरी सहानुभूति झलकती है। अपनी मार्क्सवादी पृष्ठभूमि के प्रभाव के कारण, यशपाल ने अपनी साहित्यिक रचनाओं के माध्यम से सामाजिक रूढ़ियों, धार्मिक पाखंड और सामाजिक अंधविश्वासों की तीखी आलोचना की थी। उनकी साहित्यिक कहानियाँ ध ार्मिक-सामाजिक विसंगतियों का एक प्रभावशाली चित्रण प्रस्तुत करती हैं।

हिंदी लेखक भीष्म साहनी के अनुसार, यशपाल उस प्रकार के लेखक थे जिसमें एक ओर वे सामाजिक क्षेत्र में जन-संघर्ष में संलग्न होते हैं, और दूसरी ओर उससे प्रेरित होकर अपना हिंदी उपन्यास साहित्य रचते हैं। पिछले पचास वर्षों में विश्व साहित्य में यही विशिष्ट प्रवृत्ति रही है, और इसने पाब्लो नेरुदा, नाजिम हिकमत, लुई आरागॉन, फैज अहमद फैज, महमूद दरविश और अन्य जैसे जुझारू और महान लेखकों को जन्म दिया है। ये लेखक आज के लेखक हैं, आज के विश्वव्यापी संघर्ष की उपज हैं, शोषित जनता की आवाज हैं और एक नई दुनिया के अग्रदूत हैं। इस तथ्य से इनकार नहीं किया जा सकता है कि यशपाल इन प्रतिष्ठित लेखकों के विशिष्ट समूह में शामिल हैं। यशपाल ने 'विप्लव' पत्रिका के एक प्रतिष्ठित लेखक और संपादक के रूप में कार्य करते हुए हिंदी साहित्य को भारत में सामाजिक और राजनीतिक सुधारों का एक सशक्त समर्थक प्रदान किया था। इस तथ्य से इनकार नहीं किया जा सकता है कि उन्हें हाशिए पर पड़े, दलितों और वंचितों के हिमायती के रूप में मान्यता प्राप्त थी। अपने लेखन करियर की शुरुआत से ही उन्होंने भारतीय समाज के रूढ़िवादी और कठोर विचारों के खिलाफ पुरजोर संघर्ष किया था। उन्होंने हिंदू धर्म की सदियों पुरानी और कठोर सामाजिक शोषित परंपराओं की कड़ी आलोचना की थी । इस आलोचना के लिए उन्हें जान से मारने की धमकी तक मिली थी।

यह उपन्यास ''झूठा सच'' दो खंडों में विभाजित है यह उपन्यास "वतन और देश" और "देश का भविष्य" नामंक दो भागो मे विभाजित है। इस तथ्य से इनकार नहीं किया जा सकता है कि हिंदी उपन्यास के इतिहास में यशपाल का उपन्यास ''झूठा सचष अपने फलक की विशालता और चित्रण की ईमानदारी के कारण अद्वितीय है। यह माना जा सकता है कि यह ''झूठा सचष उपन्यास मात्र कहानी नहीं है, बल्कि देश विभाजन का ऐतिहासिक और मानवीय दस्तावेज है। यशपाल ने इस उपन्यास में एक मार्क्सवादी चिंतक के रूप में सांप्रदायिकता, आर्थिक शोषण और मध्यवर्ग की मानसिकता का सूक्ष्म विश्लेषण किया है।

यह ''झूठा सच'' उपन्यास देश-विभाजन की सिहरन के साथ-साथ स्नेह, घृणा, प्रति-हिंसा और संघर्ष की मानवीय कहानी प्रस्तुत करता है। उपन्यास के मुख्य पात्र जयदेव पुरी, उसकी बहन तारा, और कनक हैं। इनके माध्यम से यशपाल ने देश विभाजन के दौरान मध्यवर्ग की कमजोरियों, आदर्शों और नैतिक पतन को दिखाया है। इस प्रकार, यह कहा जा सकता है कि उपन्यास ष्झूठा-सचष में यशपाल न केवल देश-विभाजन की त्रासदी को दर्शाते हैं, बल्कि बंता के उस दृढ़ संकल्प को भी उजागर करते हैं जो हार मानने से इनकार करता है। अंततः इस तथ्य से इनकार नहीं किया जा सकता है कि देश-विभाजन और सांप्रदायिकता के संदर्भ में 'झूठा सच' एक महत्वपूर्ण हिंदी उपन्यास है। इस तथ्य से इनकार नहीं किया जा सकता है कि अपने उपन्यास श्झूठा-सचश में उन्होंने केवल आदर्शवाद का प्रचार करने के बजाय समाज की कठोर यथार्थ का चित्रण किया है। उनका उपन्यास ष्झूठा सचष भारत के विभाजन की त्रासदी पर हिंदी साहित्य का सबसे प्रामाणिक और व्यापक दस्तावेज माना जाता है।

'झूठा-सच' उपन्यास की समीक्षाः

यशपाल का सबसे महत्वपूर्ण 'झूठा-सच' उपन्यास 1947 के भारत विभाजन की पृष्ठभूमि में लिखा गया था। यह स्वतंत्रता से पूर्ण स्वतंत्रता तक के सामाजिक और राजनीतिक उथल-पुथल का चित्रण करता है[2] इसमें लाहौर शहर का वर्णन है। यह उपन्यास दो खंडों में प्रकाशित हुआ थाः

1. वतन और देश (1958)
2. देश का भविष्य (1960)

यह कहा जा सकता है कि यह उपन्यास ष्झूठा-सचष यशपाल का सबसे महत्वपूर्ण उपन्यास है और उनकी प्रसिद्धि का आधार भी है। यह भारत के विभाजन की पृष्ठभूमि पर आधारित एक महाकाव्य उपन्यास है। इस तथ्य से इनकार नहीं किया जा सकता है कि भारत के विभाजन की त्रासदी के माध्यम से, यह कहानी यशपाल के जीवन के दृष्टिकोण को भी प्रतिबिंबित करती है[3] यह कहा जा सकता है कि इस उपन्यास के माध्यम से यशपाल देश के विभाजन और सांप्रदायिकता पर समाजवादी-मार्क्सवादी दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हैं। यशपाल के अनुसार, विभाजन के पीछे आर्थिक पहलू सबसे महत्वपूर्ण है। उनका निष्कर्ष है कि पंजाब में हिंदू आर्थिक रूप से सशक्त थे, यही कारण है कि आर्थिक और राजनीतिक जीवन में उनका प्रभाव बहुसंख्यक वर्ग से अधिक था। 'झूठा सच' में यशपाल न केवल विभाजन की त्रासदी का वर्णन करते हैं, बल्कि सांप्रदायिकता और रक्तपात के बीच लोगों की जीवन जीने की उभरती इच्छाशक्ति को भी प्रस्तुत करते हैं। यशपाल दिखाते हैं कि कैसे असहनीय कठिनाइयों और दंगों के बावजूद, आम लोगों ने संघर्ष किया और सामान्य जीवन की ओर अग्रसर हुए थे। यह कहा जा सकता है कि यशपाल आम लोगों के धैर्य, जीवन जीने की इच्छाशक्ति और जुझारू भावना जैसे गुणों को प्रदर्शित करते हैं, जो उन्हें सबसे बड़े संकटों से भी उबरने में मदद करते हैं।

'झूठा सच' उपन्यास का दो खंडों में विभाजित कथानकः

- वतन और देश (1958): लाहौर में विभाजन के पूर्व और दौरान की घटनाओं पर केंद्रित, जहाँ दंगे और विस्थापन मुख्य विषय हैं। इसमें विभाजन-पूर्व के लाहौर में सांप्रदायिक तनाव, दंगे और हिंदुओं-सिखों के विस्थापन का चित्रण है।
- देश का भविष्य (1960): विभाजन के बाद दिल्ली में शरणार्थियों के पुनर्वास, सामाजिक बदलावों और राजनेताओं के मोहभंग का चित्रण करता है। इसमें स्वतंत्रता के बाद दिल्ली में शरणार्थियों के संघर्ष, पुनर्वास और राजनीतिक स्वार्थों को दिखाया गया है।
- यह उपन्यास विभाजन का प्रामाणिक दस्तावेजः यह उपन्यास 1947 के विभाजन के दौरान हुई हिंसा, लूटपाट और अमानवीय अत्याचारों का कच्चा चिट्ठा प्रस्तुत करता है। यह केवल इतिहास नहीं, बल्कि ऐतिहासिक यथार्थ पर आधारित एक कल्पनाशील आख्यान है[4]
- विभाजन की रोंगटे खड़े करने वाली सच्चाईः यह उपन्यास लाहौर के 'भोला पांधे की गली' के एक मध्यवर्गीय परिवार के माध्यम से विभाजन की विभीषिका, सांप्रदायिक दंगों, बलात्कार, लूटपाट और विस्थापन की त्रासद घटनाओं का यथार्थवादी चित्रण करता है।
- सांप्रदायिकता का यथार्थवादी चित्रणः यशपाल ने दिखाया कि कैसे निहित स्वार्थों और अंग्रेजों और राजनेताओं के कारण आम जनता हिंदू-मुस्लिम दंगों में झोंक दी गई।
- यथार्थवादी दृष्टिकोणः यशपाल एक प्रगतिवादी लेखक थे, इसलिए उन्होंने विभाजन को किसी एक समुदाय की गलती न मानकर, परिस्थितियों, राजनीतिक स्वार्थ और अंग्रेजों की श्फूट डालो और राज करोश नीति का परिणाम माना है।
- मानवीय विभीषिका और नारी संवेदनशीलताः उपन्यास में महिलाओं के साथ हुई हिंसा (जैसे तारा का अपहरण और बलात्कार) को अत्यंत मार्मिकता से दर्शाया गया है।
- यथार्थवादी, प्रगतिशील दृष्टिकोण और मार्क्सवादी दृष्टिकोणः यशपाल ने विभाजन को केवल धार्मिक न मानकर, उसे आर्थिक स्वार्थों और वर्ग संघर्ष के संदर्भ में भी देखा है। मार्क्सवादी विचारधारा से प्रभावित यशपाल ने दंगों के पीछे के आर्थिक और राजनीतिक कारणों को उजागर किया है।
- शरणार्थी समस्याः बंटवारे के बाद शरणार्थियों के शिविरों, उनके पुनर्वास और दिल्ली में उनके संघर्ष का सजीव चित्रण किया गया है[5]
- प्रमुख पात्र और मानवीय संवेदनाः तारा (एक संघर्षशील महिला), जयदेव पुरी (एक महत्वाकांक्षी बुद्धिजीवी), और कनक (तारा की सखी) के माध्यम से कहानी आगे बढ़ती है। उपन्यास में यशपाल ने पात्रों के मानसिक आकर्षण, प्रतिहिंसा और जीवन-संघर्ष को ईमानदारी से उभारा है।
- प्रमुख पात्र और वैचारिक द्वंद्वः जयदेव पुरी (मध्यवर्ग का प्रतिनिधि), तारा (त्रासदी की शिकार नारी), और कनक जैसे पात्रों के माध्यम से यशपाल ने प्रेम, महात्वाकांक्षा, घृणा और प्रतिहिंसा को जीवंत किया है।
- यह उपन्यास मोहभंग की अभिव्यक्ति हैः उपन्यास का नाम ही बताता है कि स्वतंत्रता के बाद का श्सचश वास्तव में एक 'झूठ' था, क्योंकि आम जनता को वह सुख नहीं मिला जिसके सपने दिखाए गए थे।

- उपन्यास का शीर्षक 'झूठा-सच': यह शीर्षक इस बात का प्रतीक है कि जिसे 'स्वतंत्रता' (सच) माना गया, वह आम जनता के लिए विभाजन के 'झूठ' (त्रासदी) के रूप में सामने आया।
- भाषा और शैली: भाषा अत्यंत सजीव, वर्णनात्मक और पात्रों के अनुकूल है, जो पाठक को सीधे उस दौर के माहौल में ले जाती है।

इस उपन्यास ने भारत के विभाजन की वास्तविक तस्वीर प्रस्तुत की है। इसने यह भी दिखाया है कि विभाजन के कारण हिंदू-मुस्लिमों को किन समस्याओं का सामना करना पड़ा था। यह उपन्यास दर्शाता है कि भारत के विभाजन ने सांप्रदायिकता को बढ़ावा दिया था और सांप्रदायिकता ने भारत के हिंदू-मुस्लिमों के बीच विभाजन का मार्ग प्रशस्त किया था । इस उपन्यास ने यह साबित कर दिया है कि भारत के विभाजन ने भारत में हिंदू-मुस्लिम दंगों को और बढ़ा दिया था। इस तथ्य से इनकार नहीं किया जा सकता है कि यह उपन्यास भारत के विभाजन में भारतीय राजनेताओं की नकारात्मक भूमिकाओं को भी दर्शाता है। यशपाल यह भी दिखाते हैं कि भारत के विभाजन में अंग्रेजों ने भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। यह कहा जा सकता है कि यशपाल भारत के विभाजन से व्यथित थे। वे हिंदू-मुस्लिम एकता के प्रबल समर्थक थे। इस तथ्य से इनकार नहीं किया जा सकता है कि उनकी धर्मनिरपेक्ष सोच हिंदू-मुस्लिमों के बीच एक-दूसरे के प्रति घृणा की भावना को नापसंद करती थी। यह कहा जा सकता है कि ष्झूठा-सचष उपन्यास न केवल एकीकृत भारत के विभाजन की ऐतिहासिक घटना का दस्तावेजीकरण करता है, बल्कि मानवीय भावनाओं, सामाजिक विघटन और राजनीतिक धोखे का एक गहन और व्यापक विश्लेषण भी प्रस्तुत करता है6 इस ष्झूठा सचष उपन्यास के माध्यम से हिंदी लेखक यशपाल ने भारत के विभाजन के दर्द, विस्थापन और 'पहचान के संकट' को सशक्त ढंग से चित्रित किया है। यह माना जा सकता है कि यह ष्झूठा-सचष उपन्यास यह भी दर्शाता है कि सत्ता और राजनीति के खेल में आम लोगों की भावनाएं और जीवन कैसे मूल्यहीन हो जाते हैं। अत: यह कहा जा सकता है कि यह उपन्यास अपने उद्देश्य में सफल रहा है।

निष्कर्ष:

यह कहा जा सकता है कि 'झूठा-सच' उपन्यास केवल विभाजन की त्रासदी का वर्णन नहीं है, बल्कि यह मानवीय साहस, नारी चेतना और सामाजिक-राजनीतिक विषमताओं का जीवंत दस्तावेज है, जो आज भी उतना ही प्रासंगिक है। 'झूठा-सच' उपन्यास केवल एक कहानी नहीं है बल्कि इतिहास का एक जीवंत दस्तावेज है जो राष्ट्र-निर्माण के दौर में हुई मानवीय भूलों और पीड़ाओं को आईना दिखाता है। यह हिंदी का वह कालजयी उपन्यास है, जो विभाजन साहित्य में सर्वोच्च स्थान रखता है। यशपाल की सबसे जानी-पहचानी रचना तथा हिन्दी के सर्वाधिक महत्वपूर्ण उपन्यासों में से एक "झूठा-सच" की तुलना प्राय: टॉलस्टॉय के उपन्यास "युद्ध और शान्ति" से की जाती है द्य विश्व की प्रमुख पत्रिका अमरीका की "न्यू योर्कर" ने इस 'झूठा-सच' उपन्यास को "...Perhaps the greatest long novel about India-" कहा था। यह 'झूठा-सच' उपन्यास दो परिवारों के जीवन में भारत विभाजन के पहले के पंजाब तथा बाद के भारत में आये उतार-चढ़ाव की हृदयग्राही कहानी है। इस तथ्य से इनकार नहीं किया जा सकता है कि समीक्षकों ने इसे हिन्दू तथा मुस्लिम दोनों दृष्टिकोणों के संतुलित वर्णन के लिए सराहा तो पाठकों ने इसे सामाजिक-राजनीतिक परिस्थितियों के अन्तरंग तथा सूक्ष्म वर्णनों एवं स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद के महत्वकांक्षी पर बेउसूल कांग्रेसी नेताओं के निर्मम चरित्र-चित्रण के लिए अविस्मरणीय पाया था ष इस तथ्य से इनकार नहीं किया जा सकता है कि 'झूठा सच' उपन्यास भारत के विभाजन और उसके बाद के परिणामों को दर्शाने वाली एक बेहद ईमानदार उपन्यास है। लेकिन यह 'झूठा सच' उपन्यास सिर्फ इसी कहानी तक सीमित नहीं है। यह 'झूठा सच' उपन्यास विभाजन की दिल दहला देने वाली कहानी एक गहरी मानवीय कहानी भी बयां करती है, जो स्नेह, मानसिक आकर्षण और शारीरिक आकर्षण, महत्वाकांक्षा, घृणा और प्रतिशोध के सहज प्रवाह के साथ सामने आती है। झूठा सच हिंदी उपन्यास में एक उत्कृष्ट कृति है। इस उपन्यास के लिए यशपाल जी को 1976 का साहित्य अकादमी पुरस्कार दिया गया था।

संदर्भग्रंथ सूची:

1. तिवारी, प्रियमवदा, टमुल्तान से लखनऊ तक: वह यात्रा जो नहीं हो पाई: यशपाल की 'झूठा सच' के संदर्भ में एक अध्ययन", प्रवासन, स्मृतियाँ और 'अधूरा' विभाजन, रूटलेज इंडिया, 2024, पृष्ठ संख्या-34-51.
2. मधले, साहू दशरथ, "यशपाल के चुनिंदा उपन्यासों का एक मनोवैज्ञानिक अध्ययन: यशपाल के चुनिंदा उपन्यासों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन", अनुसंधान समीक्षा इंटरनेशनल जर्नल ऑफ मल्टीडिसिप्लिनरी,10.2,2025,पृष्ठ संख्या-402-407.
3. कुमार, संजय, "भारत के विभाजन पर आधारित हिंदी उपन्यासों में सामाजिक मूल्य परिवर्तन: भारत-विभाजन पर आधारित हिंदी उपन्यासों में सामाजिक मूल्य-संक्रमण", अनुसंधान समीक्षा इंटरनेशनल जर्नल ऑफ मल्टीडिसिप्लिनरी, 9.4,2024, पृष्ठ संख्या-237-240.
4. मिश्रा, गौरी, विभाजन कथा में राष्ट्र की खंडित वास्तविकता दृष्टि, भारतीय साहित्य पत्रिका, 65.3, 2021, पृष्ठ संख्या-153-159.
5. मधुरेश, यशपाल का सामाजिक उद्देश्य, भारतीय साहित्य पत्रिका,11(3),1968, पृष्ठ संख्या-61-67.
6. सिंह, शैलेन्द्र कुमार, यशपाल के झूठा सच में पुरुषार्थ का पुनर्लेखन: पुरुषत्व, लैंगिक हिंसा और पितृसत्तात्मक नियंत्रण, सामाजिक परिवर्तन पत्रिका, 53.3,2023, पृष्ठ संख्या-301-314.

भारतीय लोकतंत्र में न्यायपालिका की समकालीन भूमिका एवं विधायिका-कार्यपालिका के साथ उसका समन्वय

डॉ० अलका कुमारी

राजनीति विज्ञान विभाग, बी.आर.ए. बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर

सारांश

भारतीय लोकतंत्र की स्थिरता और मजबूती का प्रमुख आधार उसकी स्वतंत्र, निष्पक्ष और सक्रिय न्यायपालिका रही है। भारतीय संविधान ने न्यायपालिका को एक स्वतंत्र अंग के रूप में स्थापित किया है, जो विधायिका एवं कार्यपालिका की गतिविधियों पर निगरानी रखने और उन्हें संविधान के अनुरूप बनाए रखने में सक्षम है। ऐतिहासिक रूप से न्यायपालिका ने जनहित याचिका, न्यायिक पुनर्विलोकन तथा संविधान की व्याख्या जैसे माध्यमों से न केवल नागरिक अधिकारों की रक्षा की है, बल्कि शासन-प्रणाली में संतुलन बनाए रखने का भी कार्य किया है। समकालीन समय में न्यायपालिका की भूमिका केवल विवादों के समाधान तक सीमित नहीं रही, बल्कि वह सामाजिक, पर्यावरणीय तथा प्रशासनिक सुधारों की दिशा में भी सक्रिय हस्तक्षेप कर रही है। न्यायिक सक्रियता ने जहाँ आम जनता को सुलभ न्याय का मार्ग प्रदान किया है, वहीं यह प्रश्न भी उठाया है कि क्या न्यायपालिका विधायिका और कार्यपालिका के अधिकार-क्षेत्र में अतिक्रमण कर रही है। लोक अदालतों और वैकल्पिक विवाद निवारण प्रणालियों ने न्यायपालिका की पहुँच को और अधिक प्रभावी बनाया है। प्रस्तुत लेख में न्यायपालिका की शक्तियों, उसकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, न्यायिक सक्रियता, लोक अदालतों की भूमिका तथा विधायिका एवं कार्यपालिका के साथ उसके समन्वय की विस्तृत विवेचना की गई है।

शब्दकुंजी: न्यायपालिका, न्यायिक पुनर्विलोकन, न्यायिक सक्रियता, जनहित याचिका, लोक अदालत, विधायिका, कार्यपालिका, शक्तियों का पृथक्करण, भारतीय संविधान, संस्थागत समन्वय

प्रस्तावना

भारतीय लोकतंत्र विश्व का सबसे बड़ा और सबसे व्यापक लोकतांत्रिक तंत्र माना जाता है। इसकी विशेषता केवल इसकी जनसंख्या या चुनावी प्रक्रिया तक सीमित नहीं है, बल्कि इसकी संस्थागत संरचना, संवैधानिक मूल्यों और नागरिक अधिकारों की सुरक्षा में भी निहित है। भारत का संविधान लोकतंत्र, न्याय, स्वतंत्रता, समानता और बंधुत्व के आदर्शों पर आधारित है। इन आदर्शों को व्यवहारिक रूप देने के लिए संविधान ने शासन-व्यवस्था को तीन प्रमुख अंगों-विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका-में विभाजित किया है। इन तीनों अंगों का उद्देश्य राज्य की शक्तियों का संतुलित प्रयोग सुनिश्चित करना तथा लोकतांत्रिक व्यवस्था को सुचारु रूप से संचालित करना है। विधायिका कानून बनाती है, कार्यपालिका उन कानूनों को लागू करती है और न्यायपालिका उन कानूनों की संवैधानिकता तथा उनके उचित क्रियान्वयन की निगरानी करती है। इस प्रकार न्यायपालिका लोकतंत्र की संरक्षक तथा संविधान की अंतिम व्याख्याकार के रूप में कार्य करती है। भारतीय संविधान निर्माताओं ने न्यायपालिका को अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान किया, क्योंकि वे यह भली-भाँति समझते थे कि लोकतंत्र की सफलता तभी संभव है जब नागरिकों के अधिकार सुरक्षित हों और शासन की शक्तियाँ संवैधानिक सीमाओं में बंधी रहें। इसी उद्देश्य से न्यायपालिका को स्वतंत्र और निष्पक्ष बनाया गया, ताकि वह विधायिका और कार्यपालिका के अनुचित हस्तक्षेप से मुक्त रहकर न्याय प्रदान कर सके। संविधान के अनुच्छेद 32 और 226 के अंतर्गत नागरिकों को सीधे सर्वोच्च न्यायालय एवं उच्च न्यायालयों की शरण में जाने का अधिकार दिया गया है। यह व्यवस्था भारतीय लोकतंत्र की सबसे बड़ी शक्तियों में से एक मानी जाती है। डॉ. भीमराव अंबेडकर ने अनुच्छेद 32 को संविधान की "आत्मा और हृदय" कहा था, क्योंकि यह नागरिक स्वतंत्रताओं की रक्षा का सबसे प्रभावी माध्यम है। समकालीन समय में न्यायपालिका की भूमिका अत्यंत व्यापक और बहुआयामी हो गई है। प्रारंभिक दौर में न्यायपालिका का कार्य मुख्यत: विवादों का निपटारा और कानूनों की व्याख्या तक सीमित था, किंतु आज उसकी भूमिका सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक तथा प्रशासनिक क्षेत्रों तक विस्तारित हो चुकी है। न्यायपालिका ने जनहित याचिका (च्नइसपब प्दजमतमेज स्पजपहंजपवद) और न्यायिक सक्रियता (श्रनकपबपंस ।बजपअपेउ) के माध्यम से समाज के गरीब, शोषित और वंचित वर्गों को न्याय दिलाने का प्रयास किया है। पर्यावरण संरक्षण, महिला अधिकार, बाल श्रम, मानवाधिकार, भ्रष्टाचार, चुनाव सुधार और प्रशासनिक पारदर्शिता जैसे विषयों पर न्यायपालिका ने समय-समय पर महत्वपूर्ण हस्तक्षेप कर लोकतंत्र को अधिक उत्तरदायी और जनोन्मुख बनाने का प्रयास किया है। विशेष रूप से 1980 के दशक के बाद भारतीय न्यायपालिका ने जनहित याचिका की अवधारणा को विकसित कर न्याय तक पहुँच को अधिक सरल और सुलभ बनाया। इससे पहले न्याय केवल उन लोगों तक सीमित था जो न्यायालय की जटिल प्रक्रियाओं और आर्थिक व्यय को वहन कर सकते थे। किंतु जनहित याचिका ने न्यायपालिका के द्वार समाज के कमजोर और वंचित वर्गों के लिए

खोल दिए। इसके माध्यम से पर्यावरण प्रदूषण, कारागारों की स्थिति, बंधुआ मजदूरी, महिलाओं की सुरक्षा और मानवाधिकार उल्लंघन जैसे अनेक मुद्दों पर ऐतिहासिक निर्णय दिए गए। इस प्रकार न्यायपालिका ने केवल विधिक संस्था के रूप में ही नहीं, बल्कि सामाजिक परिवर्तन के माध्यम के रूप में भी अपनी भूमिका स्थापित की। हालाँकि, न्यायपालिका की बढ़ती सक्रियता ने अनेक बार विधायिका एवं कार्यपालिका के साथ टकराव की स्थिति भी उत्पन्न की है। कई अवसरों पर यह आरोप लगाया गया कि न्यायपालिका अपने अधिकार-क्षेत्र से आगे बढ़कर नीतिगत मामलों में हस्तक्षेप कर रही है, जिसे "न्यायिक अतिक्रमण" (Judicial Overreach) कहा जाता है। दूसरी ओर, न्यायपालिका का यह तर्क रहा है कि जब कार्यपालिका या विधायिका अपने संवैधानिक दायित्वों का निर्वहन करने में असफल रहती है, तब न्यायपालिका को हस्तक्षेप करना पड़ता है ताकि संविधान और जनहित की रक्षा की जा सके। इस संदर्भ में न्यायपालिका और अन्य संवैधानिक संस्थाओं के बीच संतुलन बनाए रखना अत्यंत आवश्यक हो जाता है।

भारतीय लोकतंत्र का मूल आधार शक्ति पृथक्करण (Separation of Powers) और संस्थागत समन्वय पर आधारित है। संविधान ने तीनों अंगों के अधिकार-क्षेत्र को स्पष्ट रूप से निर्धारित किया है, किंतु लोकतंत्र की सफलता के लिए इन संस्थाओं के बीच सहयोग, संवाद और पारस्परिक सम्मान भी आवश्यक है। यदि विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका के बीच संतुलन बना रहे, तो शासन-व्यवस्था अधिक प्रभावी, पारदर्शी और उत्तरदायी बन सकती है। इसके विपरीत यदि इन संस्थाओं के बीच संघर्ष और अविश्वास बढ़ता है, तो लोकतंत्र की स्थिरता और संवैधानिक व्यवस्था पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ सकता है।

इसी परिप्रेक्ष्य में भारतीय न्यायपालिका की समकालीन भूमिका का अध्ययन अत्यंत महत्त्वपूर्ण हो जाता है। वर्तमान समय में न्यायपालिका केवल संवैधानिक व्याख्या करने वाली संस्था नहीं रही, बल्कि वह सामाजिक न्याय, प्रशासनिक उत्तरदायित्व और लोकतांत्रिक मूल्यों की रक्षा की सक्रिय प्रहरी बन चुकी है। प्रस्तुत लेख में भारतीय न्यायपालिका की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, उसकी संवैधानिक शक्तियों, न्यायिक पुनर्विलोकन एवं न्यायिक सक्रियता, लोक अदालतों की भूमिका तथा विधायिका एवं कार्यपालिका के साथ उसके समन्वय का विस्तृत विश्लेषण किया गया है। साथ ही यह भी समझने का प्रयास किया गया है कि भारतीय लोकतंत्र की स्थिरता और सुदृढ़ता बनाए रखने में न्यायपालिका किस प्रकार एक केंद्रीय भूमिका निभा रही है।

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

भारतीय न्यायपालिका की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि अत्यंत समृद्ध, बहुआयामी और विकासशील रही है। इसका विकास केवल स्वतंत्र भारत के संविधान से ही प्रारंभ नहीं होता, बल्कि इसकी जड़ें प्राचीन भारतीय न्याय परंपराओं, मध्यकालीन प्रशासनिक व्यवस्थाओं तथा ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन की न्यायिक संस्थाओं में निहित हैं। भारतीय न्यायपालिका का वर्तमान स्वरूप एक दीर्घ ऐतिहासिक प्रक्रिया का परिणाम है, जिसमें विभिन्न सामाजिक, राजनीतिक और संवैधानिक परिवर्तनों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है।

प्राचीन एवं मध्यकालीन न्याय व्यवस्था

प्राचीन भारत में न्याय व्यवस्था धर्म, नैतिकता और सामाजिक आचार-संहिताओं पर आधारित थी। मनुस्मृति, याज्ञवल्क्य स्मृति तथा कौटिल्य के अर्थशास्त्र में न्याय और दंड व्यवस्था का विस्तृत उल्लेख मिलता है। उस समय राजा को न्याय का सर्वोच्च संरक्षक माना जाता था। ग्राम पंचायतें स्थानीय विवादों का समाधान करती थीं और सामाजिक न्याय की अवधारणा सामुदायिक आधार पर विकसित हुई थी। न्याय व्यवस्था का मुख्य उद्देश्य केवल अपराधों को दंडित करना नहीं, बल्कि सामाजिक संतुलन और नैतिक व्यवस्था को बनाए रखना था। मध्यकालीन भारत, विशेषकर मुस्लिम शासनकाल में, न्याय प्रणाली पर इस्लामी कानून और शरिया का प्रभाव दिखाई देता है। सुल्तानों और मुगल शासकों ने काजी एवं मुफ्ती जैसे न्यायिक पदों की स्थापना की। दीवानी और फौजदारी मामलों के लिए अलग-अलग व्यवस्थाएँ विकसित हुईं। हालांकि इस काल में न्याय व्यवस्था शासक की इच्छा पर अधिक निर्भर थी, फिर भी प्रशासनिक न्याय के कुछ संगठित स्वरूप देखने को मिलते हैं।

ब्रिटिश शासन और आधुनिक न्यायपालिका की शुरुआत

भारतीय न्यायपालिका के आधुनिक स्वरूप का वास्तविक विकास ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन के दौरान हुआ। जब ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी ने भारत में अपना राजनीतिक और प्रशासनिक नियंत्रण स्थापित किया, तब प्रशासनिक आवश्यकताओं के अनुरूप एक संगठित न्याय प्रणाली की आवश्यकता महसूस की गई। प्रारंभ में कंपनी के अधिकारियों द्वारा ही न्यायिक कार्य किए जाते थे, किंतु धीरे-धीरे एक औपचारिक न्यायिक संरचना विकसित होने लगी।

1773 का रेगुलेटिंग एक्ट - 1773 का रेगुलेटिंग एक्ट भारतीय न्यायिक इतिहास में एक मील का पत्थर माना जाता है। इस अधिनियम के अंतर्गत कलकत्ता में सर्वोच्च न्यायालय (Supreme Court of Calcutta) की स्थापना की गई, जिसने भारत में अंग्रेजी विधि व्यवस्था की औपचारिक शुरुआत की। इस न्यायालय में एक मुख्य न्यायाधीश और अन्य न्यायाधीश नियुक्त किए गए, जिन्हें ब्रिटिश सम्राट द्वारा नियुक्त किया जाता था। यह न्यायालय मुख्यतः अंग्रेज अधिकारियों, व्यापारियों और कलकत्ता नगर क्षेत्र से संबंधित मामलों की सुनवाई करता था।

हालाँकि, प्रारंभिक वर्षों में सर्वोच्च न्यायालय और गवर्नर जनरल की परिषद के बीच अधिकार-क्षेत्र को लेकर अनेक विवाद उत्पन्न हुए। इससे यह स्पष्ट हुआ कि न्यायपालिका और कार्यपालिका के बीच शक्तियों के संतुलन की आवश्यकता है।

1861 का भारतीय उच्च न्यायालय अधिनियम -

ब्रिटिश सरकार ने न्यायिक व्यवस्था को अधिक संगठित और प्रभावी बनाने के लिए 1861 में भारतीय उच्च न्यायालय अधिनियम पारित किया। इसके अंतर्गत कलकत्ता, मद्रास और बॉम्बे में उच्च न्यायालयों की स्थापना की गई। इन उच्च न्यायालयों ने पुराने सर्वोच्च न्यायालयों और सदर अदालतों का स्थान लिया। यह भारतीय न्यायपालिका के संस्थागत विकास की दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम था। इन उच्च न्यायालयों में अंग्रेज न्यायाधीशों के साथ-साथ भारतीय

विधिवेत्ताओं को भी स्थान मिलने लगा, जिससे भारतीयों की न्यायिक प्रक्रिया में भागीदारी बढ़ी। इसी दौर में भारतीय वकीलों और न्यायविदों की एक नई पीढ़ी तैयार हुई, जिसने आगे चलकर स्वतंत्रता आंदोलन और संवैधानिक विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

भारत सरकार अधिनियम, 1919 और 1935 – बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के बढ़ते प्रभाव के कारण ब्रिटिश सरकार को प्रशासनिक और संवैधानिक सुधार करने पड़े। भारत सरकार अधिनियम, 1919 ने न्यायपालिका को अधिक संगठित स्वरूप प्रदान किया तथा प्रशासनिक और न्यायिक कार्यों के बीच अंतर स्पष्ट करने का प्रयास किया। इसके बाद भारत सरकार अधिनियम, 1935 भारतीय न्यायिक इतिहास में अत्यंत महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ। इस अधिनियम के अंतर्गत 1937 में संघीय न्यायालय (Federal Court) की स्थापना की गई। यह न्यायालय केंद्र और प्रांतों के बीच विवादों का समाधान करता था तथा संवैधानिक मामलों की सुनवाई करता था। संघीय न्यायालय को सीमित रूप में न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति भी प्राप्त थी। यही संघीय न्यायालय आगे चलकर स्वतंत्र भारत के सर्वोच्च न्यायालय की आधारशिला बना। 1935 का अधिनियम भारतीय न्यायपालिका के लिए इसलिए भी महत्वपूर्ण था क्योंकि इसने संघीय शासन प्रणाली, संवैधानिक व्याख्या और न्यायिक स्वतंत्रता जैसी अवधारणाओं को संस्थागत रूप प्रदान किया।

संविधान सभा और स्वतंत्र भारत की न्यायपालिका

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात संविधान सभा के समक्ष सबसे बड़ी चुनौती एक ऐसे लोकतांत्रिक संविधान का निर्माण करना था, जो नागरिकों के अधिकारों की रक्षा कर सके और शासन की शक्तियों को नियंत्रित रख सके। संविधान निर्माताओं ने न्यायपालिका को लोकतंत्र की आधारभूत संस्था के रूप में स्वीकार किया। संविधान सभा में डॉ. भीमराव अंबेडकर, अल्लादी कृष्णस्वामी अय्यर, के.एम. मुंशी तथा बी.एन. राव जैसे विद्वानों ने न्यायपालिका की स्वतंत्रता पर विशेष बल दिया। उनका मानना था कि यदि न्यायपालिका स्वतंत्र नहीं होगी, तो संविधान और नागरिक अधिकार सुरक्षित नहीं रह पाएँगे। इसी दृष्टिकोण के आधार पर संविधान में सर्वोच्च न्यायालय और उच्च न्यायालयों की स्थापना की गई। संविधान के अनुच्छेद 124 से 147 तक सर्वोच्च न्यायालय तथा अनुच्छेद 214 से 231 तक उच्च न्यायालयों की व्यवस्था की गई। न्यायपालिका को संविधान की सर्वोच्चता बनाए रखने, मौलिक अधिकारों की रक्षा करने तथा विधायिका एवं कार्यपालिका की संवैधानिक सीमाओं की निगरानी करने का दायित्व सौंपा गया। विशेष रूप से अनुच्छेद 32 को अत्यंत महत्वपूर्ण माना गया। डॉ. भीमराव अंबेडकर ने इसे "संविधान की आत्मा और हृदय" कहा, क्योंकि यह नागरिकों को सीधे सर्वोच्च न्यायालय में जाकर अपने मौलिक अधिकारों की रक्षा का अधिकार प्रदान करता है।

स्वतंत्र भारत में न्यायपालिका का विकास

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात भारतीय न्यायपालिका ने भारतीय लोकतंत्र के निर्माण, संरक्षण और विकास में अत्यंत महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। संविधान लागू होने के साथ ही न्यायपालिका को केवल विवादों के समाधान तक सीमित संस्था नहीं माना गया, बल्कि उसे संविधान की सर्वोच्चता बनाए रखने, नागरिकों के मौलिक अधिकारों की रक्षा करने तथा शासन की अन्य संस्थाओं–विधायिका और कार्यपालिका–पर संवैधानिक नियंत्रण रखने का दायित्व भी सौंपा गया। समय के साथ न्यायपालिका ने अनेक ऐतिहासिक निर्णयों और संवैधानिक व्याख्याओं के माध्यम से स्वयं को लोकतंत्र की सबसे सशक्त और विश्वसनीय संस्थाओं में स्थापित किया। स्वतंत्र भारत के प्रारंभिक वर्षों में न्यायपालिका की भूमिका मुख्यत: संविधान की व्याख्या तथा केंद्र और राज्यों के बीच शक्तियों के संतुलन को बनाए रखने तक सीमित थी। किंतु धीरे–धीरे सामाजिक, राजनीतिक और प्रशासनिक परिवर्तनों के साथ इसकी भूमिका का विस्तार होता गया। न्यायपालिका ने न केवल मौलिक अधिकारों की रक्षा की, बल्कि संविधान की मूल भावना और लोकतांत्रिक मूल्यों को सुरक्षित रखने में भी निर्णायक योगदान दिया।

प्रारंभिक संवैधानिक व्याख्याएँ और न्यायपालिका की भूमिका

संविधान लागू होने के बाद सर्वोच्च न्यायालय के समक्ष सबसे बड़ी चुनौती यह थी कि वह संविधान के प्रावधानों की ऐसी व्याख्या करे, जिससे लोकतंत्र और नागरिक स्वतंत्रताओं की रक्षा सुनिश्चित हो सके। प्रारंभिक वर्षों में न्यायपालिका ने संसद और कार्यपालिका के अधिकारों की सीमा तय करने का प्रयास किया। इसी प्रक्रिया में अनेक महत्वपूर्ण संवैधानिक विवाद सामने आए, जिन्होंने भारतीय न्यायपालिका की भूमिका को परिभाषित किया। गोलकनाथ बनाम पंजाब राज्य (1967) भारतीय न्यायिक इतिहास में गोलकनाथ बनाम पंजाब राज्य का निर्णय एक महत्वपूर्ण मोड़ माना जाता है। इस मामले में प्रश्न यह था कि क्या संसद संविधान के मौलिक अधिकारों में संशोधन कर सकती है। सर्वोच्च न्यायालय ने बहुमत से निर्णय देते हुए कहा कि संसद को मौलिक अधिकारों में संशोधन करने का अधिकार नहीं है, क्योंकि मौलिक अधिकार संविधान की मूल आत्मा हैं और इन्हें सीमित नहीं किया जा सकता। इस निर्णय का राजनीतिक और संवैधानिक दोनों स्तरों पर व्यापक प्रभाव पड़ा। इससे न्यायपालिका की स्वतंत्रता और उसकी संवैधानिक सर्वोच्चता को नई मजबूती मिली। साथ ही यह भी स्पष्ट हुआ कि न्यायपालिका संसद की शक्तियों पर नियंत्रण रखने की क्षमता रखती है। यद्यपि बाद में इस निर्णय में संशोधन हुआ, फिर भी यह भारतीय न्यायपालिका के विकास में एक ऐतिहासिक चरण था।

विधायिका और कार्यपालिका के साथ न्यायपालिका का समन्वय

भारतीय लोकतंत्र की शासन–व्यवस्था संविधान द्वारा निर्धारित त्रि–अंगी प्रणाली पर आधारित है, जिसमें विधायिका (Legislature), कार्यपालिका (Eñecutive) और न्यायपालिका (Judiciary) तीनों को विशिष्ट अधिकार और दायित्व प्रदान किए गए हैं। इन तीनों संस्थाओं का मूल उद्देश्य लोकतांत्रिक शासन को प्रभावी, उत्तरदायी और संवैधानिक मर्यादाओं के अनुरूप संचालित करना है। संविधान ने शक्ति पृथक्करण (Separation of Powers) के सिद्धांत को स्वीकार किया है, ताकि शासन की कोई भी संस्था निरंकुश न बन सके। किंतु भारतीय संविधान ने पूर्ण शक्ति पृथक्करण के स्थान पर "संतुलित समन्वय" (Balanced Coordination) की अवधारणा को अपनाया है। इसका अर्थ यह है कि तीनों संस्थाएँ स्वतंत्र होते हुए भी एक–दूसरे के पूरक हैं और लोकतंत्र

की सफलता उनके पारस्परिक सहयोग, संवाद और संतुलन पर निर्भर करती है। भारतीय लोकतंत्र में न्यायपालिका की भूमिका विशेष रूप से महत्वपूर्ण है, क्योंकि वह संविधान की संरक्षक तथा नागरिक अधिकारों की अंतिम रक्षक मानी जाती है। न्यायपालिका न केवल कानूनों की व्याख्या करती है, बल्कि यह भी सुनिश्चित करती है कि विधायिका और कार्यपालिका संविधान की सीमाओं के भीतर कार्य करें। यही कारण है कि न्यायपालिका और शासन के अन्य अंगों के बीच संबंध कभी सहयोगात्मक तो कभी तनावपूर्ण दिखाई देते हैं। लोकतंत्र की स्थिरता के लिए यह आवश्यक है कि इन संस्थाओं के बीच संतुलन और समन्वय बना रहे।

विधायिका और न्यायपालिका के संबंध विधायिका लोकतंत्र का वह अंग है जिसे कानून बनाने का अधिकार प्राप्त है। संसद और राज्य विधानमंडल जनता के प्रतिनिधियों से मिलकर बने होते हैं, इसलिए उन्हें जन-इच्छा का प्रतिनिधि माना जाता है। दूसरी ओर, न्यायपालिका का कार्य इन कानूनों की व्याख्या करना और उनकी संवैधानिक वैधता की समीक्षा करना है। संविधान के अनुच्छेद 13 के अंतर्गत न्यायपालिका को यह अधिकार प्राप्त है कि यदि कोई कानून मौलिक अधिकारों का उल्लंघन करता है, तो उसे असंवैधानिक घोषित किया जा सकता है।

यह संबंध मूलत: सहयोगात्मक है, क्योंकि विधायिका कानून बनाती है और न्यायपालिका उन्हें लागू करने योग्य संवैधानिक ढाँचा प्रदान करती है। किंतु कई बार न्यायपालिका द्वारा किसी कानून को असंवैधानिक घोषित किए जाने पर दोनों संस्थाओं के बीच टकराव की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। यह टकराव लोकतंत्र में शक्ति संतुलन का स्वाभाविक परिणाम माना जाता है। संविधान संशोधन और न्यायपालिका भारतीय लोकतंत्र में विधायिका और न्यायपालिका के बीच सबसे महत्वपूर्ण विवाद संविधान संशोधन की शक्ति को लेकर उत्पन्न हुआ। संसद का मत था कि उसे संविधान में किसी भी प्रकार का संशोधन करने का अधिकार है, जबकि न्यायपालिका का मानना था कि संसद की शक्तियाँ असीमित नहीं हो सकतीं।

गोलकनाथ बनाम पंजाब राज्य (1967)

इस मामले में सर्वोच्च न्यायालय ने निर्णय दिया कि संसद मौलिक अधिकारों में संशोधन नहीं कर सकती। यह निर्णय विधायिका की शक्ति पर न्यायपालिका द्वारा लगाया गया एक महत्वपूर्ण संवैधानिक नियंत्रण था। इससे संसद और न्यायपालिका के बीच वैचारिक संघर्ष प्रारंभ हुआ।

केशवानंद भारती बनाम केरल राज्य (1973)

यह मामला भारतीय लोकतंत्र में विधायिका और न्यायपालिका के संबंधों का सबसे महत्वपूर्ण मोड़ माना जाता है। सर्वोच्च न्यायालय ने "मूल संरचना सिद्धांत" (Basic Structure Doctrine) प्रतिपादित करते हुए कहा कि संसद संविधान में संशोधन कर सकती है, किंतु वह संविधान की मूल संरचना को नष्ट नहीं कर सकती। इस निर्णय ने संसद की शक्ति को सीमित किया और न्यायपालिका को संविधान का अंतिम संरक्षक बना दिया। संविधान की सर्वोच्चता, लोकतंत्र, न्यायपालिका की स्वतंत्रता, संघीय व्यवस्था और धर्मनिरपेक्षता जैसे तत्वों को संविधान की मूल संरचना माना गया। इस निर्णय ने लोकतंत्र में शक्ति संतुलन को स्थायी आधार प्रदान किया।

न्यायिक पुनर्विलोकन और विधायी नियंत्रण

भारतीय लोकतंत्र में न्यायपालिका को प्राप्त सबसे महत्त्वपूर्ण शक्तियों में से एक हैख़्न्यायिक पुनर्विलोकन (Judicial Review)। यह वह संवैधानिक शक्ति है जिसके माध्यम से न्यायपालिका विधायिका द्वारा बनाए गए कानूनों तथा कार्यपालिका द्वारा लिए गए निर्णयों की संवैधानिक वैधता की समीक्षा करती है। यदि कोई कानून संविधान के प्रावधानों, विशेषकर मौलिक अधिकारों अथवा संविधान की मूल संरचना के विरुद्ध पाया जाता है, तो न्यायपालिका उसे असंवैधानिक घोषित कर सकती है। इस प्रकार न्यायिक पुनर्विलोकन भारतीय लोकतंत्र में संविधान की सर्वोच्चता बनाए रखने का एक अत्यंत प्रभावी माध्यम है।

भारतीय संविधान निर्माताओं ने लोकतंत्र को केवल बहुमत के शासन तक सीमित नहीं रखा, बल्कि उसे संवैधानिक मर्यादाओं से भी बाँधा। इसी उद्देश्य से न्यायपालिका को यह अधिकार प्रदान किया गया कि वह विधायिका और कार्यपालिका के कार्यों की संवैधानिक समीक्षा कर सके। संविधान का अनुच्छेद 13 स्पष्ट करता है कि राज्य ऐसा कोई भी कानून नहीं बना सकता जो मौलिक अधिकारों का उल्लंघन करता हो। यदि ऐसा कोई कानून बनाया जाता है, तो वह शून्य और अमान्य माना जाएगा। यही प्रावधान न्यायिक पुनर्विलोकन की संवैधानिक आधारशिला है।

न्यायिक पुनर्विलोकन की अवधारणा का मूल उद्देश्य लोकतंत्र में शक्ति संतुलन बनाए रखना है। भारतीय शासन-व्यवस्था में संसद और राज्य विधानमंडलों को कानून निर्माण का अधिकार प्राप्त है, किंतु उनकी शक्तियाँ असीमित नहीं हैं। यदि विधायिका को पूर्ण और अनियंत्रित अधिकार दे दिए जाएँ, तो बहुमत की शक्ति संविधान की मूल भावना और नागरिक स्वतंत्रताओं के लिए खतरा बन सकती है। इसलिए न्यायपालिका को संविधान का अंतिम संरक्षक बनाते हुए यह दायित्व सौंपा गया कि वह विधायिका को संवैधानिक सीमाओं के भीतर कार्य करने के लिए बाध्य करे। भारतीय न्यायपालिका ने समय-समय पर अनेक ऐतिहासिक निर्णयों के माध्यम से न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति को सुदृढ़ किया है। गोलकनाथ बनाम पंजाब राज्य (1967) में सर्वोच्च न्यायालय ने यह निर्णय दिया कि संसद मौलिक अधिकारों में संशोधन नहीं कर सकती। यद्यपि बाद में इस निर्णय में आंशिक परिवर्तन हुआ, फिर भी इसने न्यायपालिका की स्वतंत्र भूमिका और संविधान की सर्वोच्चता को नई मजबूती प्रदान की।

इसके बाद केशवानंद भारती बनाम केरल राज्य (1973) का ऐतिहासिक निर्णय आया, जिसने भारतीय न्यायिक इतिहास की दिशा ही बदल दी। सर्वोच्च न्यायालय ने "मूल संरचना सिद्धांत" (Basic Structure Doctrine) प्रतिपादित करते हुए कहा कि संसद संविधान में संशोधन तो कर सकती है, किंतु वह संविधान की मूल संरचना को नष्ट नहीं कर सकती। संविधान की सर्वोच्चता, लोकतंत्र, न्यायपालिका की स्वतंत्रता, संघीय व्यवस्था, धर्मनिरपेक्षता और विधि का शासन जैसे तत्वों को संविधान की मूल संरचना माना गया। इस निर्णय ने न्यायिक पुनर्विलोकन को लोकतंत्र की रक्षा का सबसे प्रभावी उपकरण बना दिया।

इसी प्रकार मिनर्वा मिल्स बनाम भारत संघ (1980) मामले में सर्वोच्च न्यायालय ने स्पष्ट किया कि संविधान की सीमाओं के भीतर ही संसद अपनी शक्तियों का प्रयोग कर सकती है। न्यायालय ने कहा कि यदि संसद को असीमित संशोधन शक्ति दे दी जाए, तो संविधान का अस्तित्व ही खतरे में पड़ सकता है। इस निर्णय ने पुनः यह सिद्ध किया कि न्यायपालिका लोकतंत्र और संविधान की संरक्षक संस्था है।

न्यायिक पुनर्विलोकन का महत्व केवल संवैधानिक विवादों तक सीमित नहीं है, बल्कि यह नागरिक अधिकारों की सुरक्षा से भी गहराई से जुड़ा हुआ है। न्यायपालिका ने अनेक मामलों में विधायिका द्वारा बनाए गए ऐसे कानूनों को निरस्त किया है जो मौलिक अधिकारों का उल्लंघन करते थे। उदाहरणस्वरूप, अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, निजता के अधिकार, लैंगिक समानता, पर्यावरण संरक्षण तथा व्यक्तिगत स्वतंत्रता से जुड़े मामलों में न्यायपालिका ने महत्वपूर्ण हस्तक्षेप किए हैं। हालाँकि, न्यायपालिका की इस सक्रिय भूमिका ने कई बार विवाद और बहस को भी जन्म दिया है। कुछ विद्वानों और राजनीतिक विचारकों का मत है कि न्यायपालिका कई अवसरों पर अपनी संवैधानिक सीमाओं से आगे बढ़कर नीतिगत मामलों में हस्तक्षेप करने लगती है। इसे "न्यायिक अतिक्रमण" (श्रनकपबपंस व्अमततमंबी) कहा जाता है। जब न्यायालय प्रशासनिक नीतियों, सरकारी योजनाओं या विधायी प्रक्रियाओं में अत्यधिक हस्तक्षेप करता है, तब यह प्रश्न उठता है कि क्या न्यायपालिका विधायिका और कार्यपालिका के अधिकार-क्षेत्र में प्रवेश कर रही है। उदाहरण के लिए, पर्यावरण संरक्षण, प्रदूषण नियंत्रण, शिक्षा नीति, पुलिस सुधार और प्रशासनिक नियुक्तियों से जुड़े अनेक मामलों में सर्वोच्च न्यायालय ने विस्तृत दिशा-निर्देश जारी किए। कुछ लोगों ने इसे न्यायिक सक्रियता (श्रनकपबपंस ।बजपअपेउ) का सकारात्मक उदाहरण माना, जबकि अन्य ने इसे न्यायिक अतिक्रमण की संज्ञा दी। इस बहस का मूल प्रश्न यह है कि न्यायपालिका की भूमिका कहाँ तक सीमित होनी चाहिए। न्यायपालिका का पक्ष यह रहा है कि जब विधायिका और कार्यपालिका अपने संवैधानिक दायित्वों का समुचित निर्वहन करने में असफल रहती हैं, तब न्यायपालिका को हस्तक्षेप करना पड़ता है ताकि नागरिक अधिकारों और संविधान की रक्षा की जा सके। विशेषकर जनहित याचिकाओं (च्प्स्) के माध्यम से न्यायपालिका ने भ्रष्टाचार, पर्यावरण प्रदूषण, मानवाधिकार उल्लंघन और प्रशासनिक निष्क्रियता जैसे मुद्दों पर महत्वपूर्ण निर्णय दिए हैं। इससे जनता का विश्वास न्यायपालिका में बढ़ा है और लोकतंत्र अधिक उत्तरदायी बना है। फिर भी, लोकतंत्र में शक्ति संतुलन बनाए रखने के लिए यह आवश्यक है कि न्यायपालिका न्यायिक सक्रियता और न्यायिक संयम (श्रनकपबपंस त्मेजतंपदज) के बीच संतुलन बनाए रखे। न्यायपालिका का कार्य संविधान की रक्षा करना है, न कि शासन संचालन करना। उसी प्रकार विधायिका और कार्यपालिका को भी संविधान की मर्यादाओं का पालन करते हुए नागरिक अधिकारों का सम्मान करना चाहिए।

भारतीय लोकतंत्र में न्यायिक पुनर्विलोकन का महत्व इसलिए भी अत्यधिक है क्योंकि भारत एक लिखित संविधान और संवैधानिक शासन व्यवस्था वाला देश है। संविधान की सर्वोच्चता तभी संभव है जब कोई स्वतंत्र संस्था उसकी रक्षा कर सके। न्यायपालिका यही भूमिका निभाती है। यदि न्यायपालिका को न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति प्राप्त न हो, तो विधायिका बहुमत के आधार पर ऐसे कानून बना सकती है जो संविधान की मूल भावना और नागरिक स्वतंत्रताओं को प्रभावित कर दें। अतः न्यायिक पुनर्विलोकन केवल न्यायपालिका की शक्ति नहीं, बल्कि लोकतंत्र की सुरक्षा का संवैधानिक साधन है। यह शक्ति संविधान, नागरिक अधिकारों और लोकतांत्रिक मूल्यों की रक्षा करते हुए शासन-व्यवस्था में संतुलन स्थापित करती है। भारतीय न्यायपालिका ने समय-समय पर इस शक्ति का उपयोग कर यह सिद्ध किया है कि वह केवल विवाद निवारण की संस्था नहीं, बल्कि संविधान और लोकतंत्र की वास्तविक संरक्षक है।

कार्यपालिका और न्यायपालिका के संबंध

भारतीय लोकतंत्र में कार्यपालिका और न्यायपालिका के संबंध अत्यंत महत्वपूर्ण, संवेदनशील तथा बहुआयामी माने जाते हैं। लोकतांत्रिक शासन-व्यवस्था में कार्यपालिका का दायित्व शासन संचालन, प्रशासनिक व्यवस्था को सुचारु रूप से चलाना तथा विधायिका द्वारा निर्मित कानूनों को लागू करना होता है, जबकि न्यायपालिका का कार्य यह सुनिश्चित करना है कि कार्यपालिका संविधान और विधि के अनुरूप कार्य कर रही है या नहीं। इस प्रकार दोनों संस्थाएँ अपने-अपने अधिकार-क्षेत्र में स्वतंत्र होते हुए भी एक-दूसरे से गहराई से जुड़ी हुई हैं। भारतीय संविधान ने कार्यपालिका और न्यायपालिका के बीच शक्ति संतुलन बनाए रखने के उद्देश्य से दोनों संस्थाओं के अधिकारों और दायित्वों को स्पष्ट रूप से परिभाषित किया है। कार्यपालिका में राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री, मंत्रिपरिषद, मुख्यमंत्री, राज्य मंत्रिपरिषद, प्रशासनिक अधिकारी, नौकरशाही, पुलिस तथा विभिन्न प्रशासनिक एजेंसियाँ शामिल होती हैं। इनका मुख्य कार्य राज्य की नीतियों को लागू करना, प्रशासनिक निर्णय लेना तथा शासन व्यवस्था को प्रभावी रूप से संचालित करना है।

दूसरी ओर, न्यायपालिका संविधान की संरक्षक और नागरिक अधिकारों की अंतिम रक्षक के रूप में कार्य करती है। यदि कार्यपालिका अपने अधिकारों का दुरुपयोग करती है, संविधान के विरुद्ध कार्य करती है अथवा नागरिकों के मौलिक अधिकारों का उल्लंघन करती है, तो न्यायपालिका हस्तक्षेप कर सकती है। यही कारण है कि कार्यपालिका और न्यायपालिका के संबंध सहयोगात्मक होने के साथ-साथ कई बार तनावपूर्ण भी दिखाई देते हैं।

निष्कर्ष

भारतीय लोकतंत्र विश्व का सबसे बड़ा और सबसे जटिल लोकतांत्रिक तंत्र माना जाता है, जिसकी सफलता का मूल आधार उसकी संवैधानिक संस्थाओं की सुदृढ़ता, स्वतंत्रता और पारस्परिक संतुलन में निहित है। भारतीय संविधान ने शासन-व्यवस्था को विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका जैसे तीन प्रमुख अंगों में विभाजित करते हुए शक्ति पृथक्करण (Separation of Powers) की अवधारणा को अपनाया है, ताकि शासन की कोई भी संस्था निरंकुश न बन सके। इन तीनों संस्थाओं के मध्य संतुलन और समन्वय लोकतंत्र की स्थिरता, पारदर्शिता और उत्तरदायित्व के लिए अत्यंत आवश्यक है। इस संपूर्ण अध्ययन से स्पष्ट होता है कि भारतीय न्यायपालिका ने स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद से लोकतंत्र की रक्षा, संविधान की सर्वोच्चता बनाए रखने तथा नागरिक अधिकारों की सुरक्षा में अत्यंत महत्त्वपूर्ण और ऐतिहासिक भूमिका निभाई है। न्यायपालिका केवल विवाद निवारण की संस्था नहीं रही, बल्कि समय के साथ उसने स्वयं को संविधान की संरक्षक, लोकतांत्रिक मूल्यों की प्रहरी तथा सामाजिक न्याय की वाहक संस्था के रूप में स्थापित किया है। न्यायपालिका ने अपने निर्णयों और संवैधानिक व्याख्याओं के माध्यम से यह सुनिश्चित किया कि शासन व्यवस्था संविधान की सीमाओं और लोकतांत्रिक आदर्शों के अनुरूप संचालित हो।

भारतीय न्यायपालिका को प्राप्त न्यायिक पुनर्विलोकन (Judicial Review) की शक्ति ने लोकतंत्र को सुदृढ़ बनाने में केंद्रीय भूमिका निभाई है। इस शक्ति के माध्यम से न्यायपालिका ने विधायिका और कार्यपालिका द्वारा किए गए ऐसे कार्यों की संवैधानिक समीक्षा की, जो नागरिक अधिकारों अथवा संविधान की मूल भावना के विपरीत थे। केशवानंद भारती बनाम केरल राज्य जैसे ऐतिहासिक निर्णयों ने "मूल संरचना सिद्धांत" को स्थापित कर यह स्पष्ट कर दिया कि संसद की शक्तियाँ असीमित नहीं हैं और संविधान की मूल आत्मा को नष्ट नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार मेनका गांधी मामला तथा अन्य संवैधानिक निर्णयों ने व्यक्तिगत स्वतंत्रता, मानवाधिकार और न्यायपूर्ण प्रक्रिया को नए आयाम प्रदान किए।

न्यायिक सक्रियता (Judicial Activism) और जनहित याचिका (PIL) ने भी भारतीय लोकतंत्र को अधिक उत्तरदायी और जनोन्मुख बनाने में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। न्यायपालिका ने पर्यावरण संरक्षण, महिला अधिकार, बाल संरक्षण, भ्रष्टाचार, पुलिस सुधार, चुनावी पारदर्शिता तथा मानवाधिकार जैसे विषयों पर सक्रिय हस्तक्षेप कर शासन व्यवस्था को अधिक जवाबदेह बनाने का प्रयास किया। जनहित याचिका के माध्यम से समाज के गरीब, वंचित और अशिक्षित वर्गों को भी न्याय तक पहुँच प्राप्त हुई, जो लोकतांत्रिक समानता और सामाजिक न्याय की दिशा में एक महत्वपूर्ण उपलब्धि है। इसके अतिरिक्त, लोक अदालतों तथा वैकल्पिक विवाद निवारण प्रणालियों (Alternative Dispute Resolution) ने न्याय को अधिक सुलभ, त्वरित और किफायती बनाया है।

हालाँकि, समकालीन समय में न्यायपालिका की बढ़ती सक्रियता ने कई बार "न्यायिक सक्रियता" और "न्यायिक अतिक्रमण" (Judicial Overreach) के बीच बहस को जन्म दिया है। कुछ अवसरों पर न्यायपालिका ने नीतिगत मामलों में हस्तक्षेप किया, जिसे विधायिका और कार्यपालिका के अधिकार-क्षेत्र में प्रवेश के रूप में देखा गया। इसलिए यह आवश्यक है कि न्यायपालिका अपनी सक्रिय भूमिका और संवैधानिक मर्यादाओं के बीच संतुलन बनाए रखे। न्यायपालिका का दायित्व संविधान की रक्षा करना है, न कि शासन संचालन का प्रत्यक्ष दायित्व ग्रहण करना। उसी प्रकार विधायिका और कार्यपालिका को भी संविधान, विधि के शासन तथा नागरिक अधिकारों का सम्मान करते हुए अपने दायित्वों का निर्वहन करना चाहिए।

भारतीय लोकतंत्र की सफलता केवल संवैधानिक प्रावधानों पर निर्भर नहीं करती, बल्कि इन संस्थाओं के बीच सहयोग, संवाद, पारदर्शिता और पारस्परिक सम्मान पर भी आधारित है। यदि विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका अपने-अपने अधिकार-क्षेत्र में संतुलित एवं उत्तरदायी ढंग से कार्य करें, तो लोकतंत्र अधिक प्रभावी और जनोन्मुख बन सकता है। संविधान ने तीनों अंगों को परस्पर विरोधी नहीं, बल्कि एक-दूसरे के पूरक के रूप में परिकल्पित किया है। इसलिए लोकतांत्रिक व्यवस्था की स्थिरता और प्रगति के लिए आवश्यक है कि इन संस्थाओं के मध्य स्वस्थ समन्वय और संवैधानिक संतुलन बना रहे। अत: निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि भारतीय न्यायपालिका लोकतंत्र की आधारशिला और संविधान की आत्मा की संरक्षक है। उसकी स्वतंत्रता, सक्रियता और उत्तरदायित्व भारतीय लोकतंत्र को सुदृढ़, पारदर्शी और न्यायपूर्ण बनाने में केंद्रीय भूमिका निभाते हैं। विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका के मध्य संतुलन एवं समन्वय ही भारतीय लोकतंत्र की स्थिरता, प्रगति और दीर्घकालिक सफलता का वास्तविक आधार है।

संदर्भ सूची

- भारतीय संविधान, 1950
- भारत सरकार अधिनियम, 1935
- केशवानंद भारती बनाम केरल राज्य, AIR 1973 SC 1461
- Legal Services Authorities Act, 1987
- सुप्रीम कोर्ट रिपोर्ट, 2023
- भगवती, पी. एन., Judicial Activism and Public Interest Litigation in India, Journal of Indian Law Institute, 1985
- Granville Austin, The Indian Constitution: Cornerstone of a Nation, Oxford University Press, 2010
- D. D. Basu, Introduction to the Constitution of India, LexisNexis, 2021
- Mark Tushnet, The Indian Supreme Court and Politics, University of California Press, 1997
- एम. पी. सिंह एवं रेखा सनेक्षा, Indian Politics: Contemporary Issues and Concerns, PHI Learning, 2019

बिहार में कृषि सांख्यिकी की उभरती प्रवृतियाँ

रवि रंजन

शोधार्थी, विश्वविद्यालय अर्थशास्त्र विभाग, ल. ना. मि. वि, दरभंगा

सार-संक्षेप

बिहार एक कृषि प्रधान राज्य है, यहाँ पर 80 प्रतिशत आबादी कृषि पर निर्भर है। जनसंख्या में लगातार हो रही वृद्धि एवं जलवायु परिवर्तन के कारण, कृषि में सुधार के लिए वृहद आँकड़ो की उपयोगिता बढ़ गयी है। वृहद आँकड़े बड़े एवं जटिल आँकड़ो का एक संग्रह होता है, जिनकी मानवीय गणना या पारंपरिक आँकड़ा प्रसंस्करण तकनीक से आँकड़ो का प्रबंधन कठिन हो जाता है। वृहद आँकड़ो का भण्डारण एवं विष्लेषण के लिए गणनात्मक प्रणाली में उच्च निष्पादन संगणना की आवष्यकता होती है। वृहद आँकड़ो का उपयोग अच्छी योजना एवं कृषि विकास के लिए योजना बनाने में होता है। कृषि विकास में सबसे बड़ी बाधा, पुराने ढ़ंग अथवा परंपरागत कृषि प्रणाली है, जिसके कारण हम वैज्ञानिक रूप से विकसित कृषि पद्धति का उपयोग मृदा निर्माण, फसलों की समय से बुआई, सिंचाई एवं फसल कटाई में नहीं कर पाते हैं। मौसम, मृदा एवं फसल विकास के विभिन्न स्तर पर वास्तविक काल श्रंखला आँकड़ों को इकट्ठा कर खेती के लिए एक अच्छा निर्णय लेने में वृहद आँकड़ों का इस्तेमाल किया जा सकता है। उन्नत सांख्यिकीय अनुसंधान से एक बेहतर प्रारूप की संरचना कर सकते हैं जिससे हम आने वाली परिस्थितियों का पूर्वानुमान कर किसानों के लिए एक बेहतर निर्णय लेने में मदद कर सकते हैं।

परिचय

बिहार की कृषि सांख्यिकी प्रणाली राष्ट्र की प्रमुख प्रणाली है, किन्तु कालक्रम में अनेकानेक कारणों से समर्थहीन अवस्था में है। यह स्थिति राज्य के विकास की मानसिकता पर प्रतिकूल प्रभाव डाल सकता है। किन्तु राज्य सरकार ने विगत दो-तीन वर्षों में जहाँ भारत सरकार के पहल का भरपूर उपयोग किया है, वहीं उसके सर्वांगीण विकास हेतु राज्य स्तर पर समग्र सांख्यिकी विकास योजना क्रियान्वित करने पर विचार कर रही है। डिजिटल भारत प्रोग्राम के अंतर्गत हम मोबाइल एप्लीकेषन का उपयोग कर सटीक तिथि, समय एवं वर्षा की अग्रिम जानकारी ज्ञात कर मृदा में सूखे या उच्च नमी की मात्रा, जो बीज को नुकसान पहुँचा सकती है, की जानकारी से बीजों को बचाया जा सकता है एवं फसल की सही समय पर कटाई व भण्डारण किया जा सकता है। दुनिया की आबादी वर्ष 2050 के अंत तक 9 अरब को पार कर जाने की संभावना है। इतनी बड़ी आबादी के भरण पोषण के लिए अधिक खाद्यान्न की आवश्यकता होगी। वैज्ञानिक इस लक्ष्य को पूरा करने के लिए वृहद कृषि सांख्यिकी आँकड़ो का प्रयोग कर मौसम की भविष्यवाणी, कृषि मषीनरी का समयानुकूल उपयोग, बाजार मुल्य का निगरानी, स्वचालित सिंचाई प्रणाली, मोबाइल आधारित सूचना प्रणाली इत्यादि के माध्यम से उत्पादकता में सुधार ला सकते हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका में क्लाउड आधारित कृषि सूचना प्रणाली पर कार्य हो रहा है जिससे वो अगले सात दिनों के मौसम का पूर्वानुमान करने में सक्षम है। उदाहरणत: भारत में भी कई संगठन कृषि उपज की गुणवत्ता एवं स्थिरता बनाये रखने के लिये, प्रणाली विकसित करने में योगदान कर रहे हैं।[1]

आधुनिक समाज के लिए वृहद आँकड़े, कृषि सांख्यिकी के क्षेत्र में नये अवसरों को लाने में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। कृषि सलाह एवं कृषि सेवा प्रदाताओं द्वारा दिये गये सुझावों को अपनाकर किसान फसल उत्पादन के बारे में जानकारीपूर्ण निर्णय ले सकते हैं, एवं कम लागत में अधिक से अधिक लाभ प्राप्त कर सकते हैं। औद्योगिक खेती, अनुबन्धित खेती, कृषि आधारित उद्योगों का विकास एवं कृषि व्यापार में अवसरों का विकास वृहद आँकड़ो के उपयोग से किया जा सकता है। कुछ महत्वपूर्ण उपकरण जैसे कि, क्लाउड कम्प्यूटिंग एनालिटिक्स, R-सॉफ्टवेयर एवं HARVISt~ विश्लेषण के तरीकों का प्रयोग कर वृहद आँकड़ो का विष्लेषण कर कृषि का विकास कर सकते हैं। वैज्ञानिक नई कम्प्यूटिंग तकनीक का प्रयोग करके एवं कृषि द्वारा प्राप्त आँकड़ों में उन्नत विष्लेषक उपकरण के प्रयोग द्वारा तीव्र गति से कृषि के विकास के साथ-साथ खाद्य सुरक्षा में महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकते हैं।

पंचायत स्तर तक सांख्यिकी तंत्र का विकेन्द्रीकरण:-

राज्य के सांख्यिकी प्रणाली की एक कमजोरी यह है कि राज्य में स्थानीय स्तर पर सांख्यिकी कार्य करने के लिए कर्मियों का नितान्त अभाव है। इस संदर्भ में यह भी उल्लेखनीय है कि पहले की अपेक्षा अब सांख्यिकी कार्यो में काफी बढ़ोत्तरी हुई है। पंचायत स्तर तक कृषि सांख्यिकी का विकेन्द्रीकरण किया जा रहा है। वर्णित परिस्थिति में पर्याप्त मानव बल के अभाव में आंकड़ों को प्राप्त करने में कठिनाई संभावित है। अत: प्रयास है कि प्रत्येक जिले में स्थानीय स्तर पर आंकड़ों के संग्रहण के लिए स्थानीय लोगों को प्रशिक्षित किया जाय तथा विभिन्न सांख्यिकी कार्यो के लिए उन्हें समय-समय पर मानदेय के आधार पर आंकड़ा संग्रह का कार्य कराया जाय। इसके तहत प्रत्येक पंचायत से तीन शिक्षित युवकों को (10+2 उत्तीर्ण) को प्रशिक्षित किया जायेगा एवं उनमें से एक का चयन कर उसके माध्यम से सांख्यिकी संबंधी आंकड़ों प्राप्त किये जायेंगे। ऐसे कर्मियों को मान्यता प्राप्त सांख्यिकी स्वयंसेवक के रूप में जाना जायेगा। इनके प्रमुख कार्य निम्न होंगे:-

1. सभी फसलों का क्षेत्रफल, प्रमुख फसलों (धान गेहूँ) का उपज दर एवं किसानों को उनके फसल प्राप्त मूल्य के आंकड़े ससमय प्राप्त करना।
2. जन्म-मृत्यु रजिस्ट्रीकरण में पंचायत स्तर के आंकड़े एकत्रित कर प्रखण्ड स्तर पर ससमय पहुँचाने में मदद करना।
3. शत-प्रतिशत जन्म-मृत्यु रजिस्ट्रीकरण में पंचायत स्तर पर नियुक्त रजिस्ट्रार/सब रजिस्ट्रार की मदद करना।
4. सकल घरेलू उत्पाद आकलन में छूट रहे अंशों यथा स्थानीय सरकारी तथा गैर-सरकारी निकायों यथा पंचायत/नगर निगम/मुनीसपल्टी, गैर-सरकारी संगठन (NGO) सहकारी समितियाँ/स्वयं सहायता समूहों द्वारा सकल घरेलू उत्पाद में उनके योगदान संबंधी लेखा प्राप्त करना।

प्रखण्ड स्तर पर (Automatic Weather Station) की स्थापना कर वर्षापात, तापमान एवं मौसम के अन्य सूचकों का प्रतिदिन संग्रहणः-

मौसम से संबंधित आंकड़े कृषि से संबंधित योजना के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण आंकड़े है। इन आंकड़ों की महत्ता बिहार राज्य में और भी बढ़ जाती है, क्योंकि बहुधा राज्य के कई क्षेत्र बाढ़ एवं सुखाड़ से प्रभावित होते रहते हैं। इन क्षेत्रों के मौसम से संबंधित आंकड़े बिना किसी विलम्ब के राज्य स्तर पर पहुँचाना आपदा प्रबंधन के दृष्टिकोण से एक महत्वपूर्ण कार्य है। समय से इन आंकड़ों के उपलब्ध न होने से आपदा प्रभावित क्षेत्रों के संबंध में निर्णय लेने में कठिनाई होती है तथा इससे कृषि के वैकल्पिक योजना निरूपित करने में भी कठिनाई होती है। सप्रति विभिन्न प्रखण्ड मुख्यालयों में वर्षापात उपकरण स्थापित किया गया है, जिसके माध्यम से मौसम संबंधित जानकारियाँ प्रतिदिन संकलित की जाती है तथा निर्धारित अवधि पर उसे एक प्रतिवेदन के रूप में जिला स्तर पर, जिला स्तर से राज्य स्तर पर सूचनाएँ संकलित की जाती है। इसमें काफी विलम्ब हो जाता है। अतः राज्य के सभी प्रखण्ड मुख्यालय से मौसम की सूचना (जिसमें वर्षापात, तापमान, हवा का वेग इत्यादि) प्राप्त करने हेतु (Automatic Weather Station) स्थापित कर निदेशायल मुख्यालय में स्थापित Server के माध्यम से मौसम के आंकड़े प्रत्येक प्रखण्ड मुख्यालय से प्रतिदिन पूर्वाह्न में राज्य मुख्यालय को उपलब्ध हो सकेगा।[2]

सकल घरेलू उत्पाद के आकलन को पूर्ण करनाः-

राज्य केवल सकल घरेलू उत्पाद में कई ऐसे क्षेत्र है, जिसका पूर्णरूपेण समावेशन प्रामाणिक आधार के अभाव में नहीं हो रहा है। सम्प्रति सकल घरेलू उत्पाद के आकलन में स्थानीय सरकार व गैर-सरकारी निकायों यथा पंचायत/नगर निकाय, स्वयंसेवी संगठन, सहकारी समितियाँ एवं स्वयं सहायता समूहों का योगदान की गणना नही की जा रही है। अतः केन्द्रीय सांख्यिकी संगठन द्वारा निरूपित मापदण्डों का अनुगमन करते हुए इन स्थानीय सकरारी एवं गैर-सरकारी निकायों के सकल घरेलू उत्पाद के आकलन में योगदान की गणना इनका लेखा प्राप्त कर किया जायेगा।

इसके कार्यान्वयन से राज्य के सकल घरेलू उत्पाद में वास्तविकता होगी, जिससे राज्य की छवियों में सुधार होगा ही साथ ही राज्य सरकार की ऋण ग्राह्यता में भी वृद्धि होगी।

पूँजी निर्माण एवं बचत का आकलनः-

राज्य में विकास के लिए पूँजी निर्माण एवं भविष्य में इस निमित विनिवेश का आकलन अनिवार्य है। अभी यह आकलन आंशिक रूप से राज्य सरकार तक सीमित है, जिसे क्रमिक रूप से राज्य के सभी खण्डों के लिए किया जायेगा। इससे भविष्य में बेहतर विनिवेश हेतु सम्यक ICiQR की गणना की जा सकेगी।

आँकड़ा संकलन, संग्रहन एवं विश्लेषण प्रक्रिया का सुदृढ़ीकरणः-

अर्थ एवं सांख्यिकी निदेशालय एवं जिला सांख्यिकी कार्यालयों को आधुनिक एवं सक्षम बनाने हेतु प्रशाखाओं का आधुनिकीकरण तथा कम्प्यूटरीकरण अर्थ एवं सांख्यिकी निदेशालय एवं जिला सांख्यिकी कार्यालयों का आधुनिकीकरण एवं कम्प्यूटरीकरण किया गया हैं। जिसके द्वारा कृषि सांख्यिकी, जीवनांक सांख्यिकी एवं अर्थ सांख्यिकी से संबंधित आँकड़ों का संग्रहण, संकलन एवं विश्लेषण की पद्धति से सूचना प्रौद्योगिकी का बेहतर उपयोग किया जा सकेगा। साथ बिहार राज्य के नगर निगमों/नगर परिषद्/नगर पंचायत एवं प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्रों में ऑन-लाइन रजिस्ट्रेशन की प्रणाली प्रतिपादित की जायेगी।[3]

बिहार सरकार द्वारा संचालित कृषि विकास हेतु प्रमुख योजनाएँः-

योजना का नाम एवं विवरणः

वित्तीय वर्ष 2017-18 में मुख्यमंत्री गन्ना विकास योजनांतर्गत चलायी जा रही योजनाएँः-

बीज परीक्षण प्रयोगशाला की स्थापनाः-

निजी बीज उत्पादक कम्पनियों के माध्यम से भी बीज का उत्पादन किया जाएगा। 'बिहार राज्य बीज निगम' बीज उत्पादक किसानों के खेतों से धान की कटाई, जो नवम्बर-दिसम्बर में होती है, के बाद प्राप्त रॉ बीज में नमी 17 प्रतिशत से 20 प्रतिशत तक रहती है। इस समस्या के समाधान के लिए निगम वांछित संख्या में मोबाइल सीड ड्रायर की व्यवस्था की जायेगी। निगम अपने गोदामों में बीजों की आर्द्रता नियंत्रण हेतु संयंत्र की स्थापना करेगी। कुदरा, हाजीपुर, भागलपुर, बेगूसराय, बिहटा इत्यादि प्रसंस्करण इकाइयों में निगम के स्तर पर विभिन्न चरणों में बीजों की गुणवत्ता की जाँच हेतु बीज विश्लेषण प्रयोगशाला की स्थापना की जायेगी।[4]

उल्लेखनीय है कि आगामी 5 वर्षों में 514884 क्विंटल बीज से 1067661 क्विंटल बीज उत्पादन तथा वर्ष 2017-18 में 3500 हेक्टेयर में बीज उत्पादन को बढ़ाकर 2021-22 में 72576 हेक्टेयर में बीज उत्पादन का लक्ष्य है। साथ ही 7 जिलों में बीज परीक्षण प्रयोगशाला कार्यरत है। शेष 31 जिलों के लिए

प्रयोगशाला की स्वीकृति प्राप्त की गई है। जिलों में स्वीकृत बीज परीक्षण प्रयोगशालाओं को चालू किया जायेगा। बीजों के सम्बन्ध में आ रही शिकायतों के निराकरण हेतु बीज अधिनियम 1966, बीज नियंत्रण आदेश 1983, को प्रभावी ढंग से लागू करने हेतु नियमावली तैयार किया जायेगा।

राजकीय बीज गुणन प्रक्षेत्रों में बीज उत्पादन:

राजकीय बीज गुणन प्रक्षेत्र पर खरीफ में धान, बाजरा, महुआ, अरहर, जूट, लोबिया, मूँगफली तथा सोयाबीन, रबी में गेहूँ, जई, चना, मसूर, राई/सरसों और तीसी एवं गरमा मौसम में मूँग, उरद और तिल के बीज उत्पादन हेतु राशि आबंटित की गई है। प्रक्षेत्रों के स्थानीय उपयुक्तता एवं परिस्थिति के अनुसार फसलवार अच्छादन लक्ष्य निर्धारित किया गया है।

मुख्यमंत्री तीव्र बीज विस्तार कार्यक्रम:

योजना का उद्देश्य राज्य के सभी राजस्व गाँवों में एक साथ उन्नत प्रभेदों के बीज उपलब्ध कराकर बीज उत्पादन हेतु किसानों को प्रोत्साहित करना है। आधार बीज का वितरण सभी जिला एवं प्रखण्ड मुख्यालयों में शिविर आयोजित कर किया जाता है। बीज वितरण के समय ही सभी वयनित किसानों को प्रखण्ड स्तर पर बीजोत्पादन का प्रशिक्षण दिया जाता है।[5]

बीज ग्राम योजना:

इस योजना का कार्यान्वयन वर्ष 2007-08 से किया जा रहा है। योजनान्तर्गत किसानों को धान एवं गेहूँ फसल हेतु 50 प्रतिशत अनुदान पर आधार /प्रमाणित बीज उपलब्ध कराया जाता है। किसानों को बीज उत्पादन हेतु तीन स्तरों पर (बोआई से पूर्व, फसल के मध्य अवस्था में एवं कटाई से पूर्व) प्रशिक्षण दिया जाता है। प्रत्येक बीज ग्राम हेतु अधिकतम 100 किसानों का चयन किया जाता है। चयनित किसानों को एक एकड़ क्षेत्र के लिए चिन्हित फसलों के बीज उपलब्ध कराया जाता है।

एकीकृत बीज ग्राम योजना:

एकीकृत बीज ग्राम की स्थापना हेतु गया, नालन्दा, बक्सर, रोहतास, कैमूर, औरंगाबाद, कटिहार एवं पूर्णिया जिले को चिन्हित गाँव में किया जाना है, जिसमें किसानों को 60 प्रतिशत अनुदान पर दलहन एवं तेलहन फसलों के आधार/प्रमाणित बीज तथा अन्य फसलों के बीज 50 प्रतिशत अनुदान पर उपलब्ध कराया जाता हैं। स्थापित एकीकृत बीज ग्राम को पाँच वर्षो तक सहायता प्रदान की जाती है।[6]

धान की मिनीकीट योजना:

बिहार सरकार द्वारा प्रायोजित योजनान्तर्गत मिनीकीट बीज चयनित कृषकों के बीच 80 प्रतिशत अनुदान पर उपलब्ध कराया जाता है। इसके अन्तर्गत 5 से 10 वर्षो के विकसित प्रभेदों को राज्य के चयनित क्षेत्रों में वितरित कर उसके फलाफल को देखा जाता है कि यह प्रभेद किस क्षेत्र के लिए उपयुक्त है। इसमें आधे एकड़ के लिए बाढ़ एवं सुखाड़ रोधी धान के प्रभेद क्रमशः स्वर्णा सब-1 तथा सहभागी/सम्पदा प्रभेद के 6 किलो प्रमाणित बीज पैकेट कृषकों को उपलब्ध कराया जाता है।

मिट्टी बीज एवं उर्वरक प्रयोगशाला के उन्नयन कार्यक्रम:

सभी प्रयोगशालाओं स्थायी/चलन्त प्रयोगशाला के संचालन एवं क्रियाशीलन हेतु आवश्यक वस्तुओं एवं सामग्रियों के क्रय एवं नव चलन्त मिट्टी प्रयोगशाला के वाहन के मानदेय एवं दैनिक मजदूरी के लिए व्यय तथा पटना एवं सहरसा में चलन्त मिट्टी जाँच प्रयोगशाला के निबन्धन एवं बीमा मद हेतु राशि आबंटित की गई है।[7]

कृषि यांत्रिकरण:

कृषि यंत्रिकरण योजना में अनुदान प्राप्ति से लेकर यंत्र वितरण तक की ऑन-लाइन व्यवस्था हेतु मैकेनाइजेशन साफ्टवेयर का उपयोग किया जा रहा है। अनुसूचित जाति/अनुसूचित जनजाति के किसानों के लिए सभी प्रकार के कृषि यत्रों के अनुदान दर में वृद्धि की गई है। अनुसूचित जाति/अनुसूचित जनजाति के किसानों के हित में ट्रेक्टर के लिए न्यूनतम भू-आधारित 1 एकड़ एवं पावर टीलर के लिए 0.5 एकड़ की गई है। 44 विभिन्न प्रकार के कृषि यंत्रों पर अनुदान की व्यवस्था है, इन यंत्रों में से पावर टिलर, रोटावेटर, जिरोटिल/सीड ड्रील, कम्बाईड हार्वेस्टर, सेल्फ प्रोपेल्डरीपर/बाईडर, पावर थ्रेसर/मेज सेलर, स्टॉ रीपर यंत्रों की माँग आधारित किया गया है। किसान मेला के अतिरिक्त मेला के बाहर क्रय किये गये कृषि यंत्रों पर भी अनुदान देने का प्रावधान है।[8]

निष्कर्ष

निष्कर्ष के तौर पर कहा जा सकता है कि कृषि विकास में सबसे बड़ी बाधा पुराने ढ़ंग अथवा परंपरागत कृषि प्रणाली है, जिसके कारण हम वैज्ञानिक रूप से विकसित कृषि पद्धति का उपयोग मृदा निर्माण, फसलों की समय से बुआई, सिंचाई एवं फसल कटाई में नहीं कर पाते हैं। मौसम, मृदा एवं फसल विकास के विभिन्न स्तर पर वास्तविक काल श्रंखला आँकड़ों को इकट्ठा कर खेती के लिए एक अच्छा निर्णय लेने में वृहद आँकड़ों का इस्तेमाल किया जा सकता है। उन्नत सांख्यिकीय अनुसंधान से एक बेहतर प्रारूप की संरचना कर सकते हैं जिससे हम आने वाली परिस्थितियों का पूर्वानुमान कर किसानों के लिए एक बेहतर निर्णय लेने में मदद कर सकते हैं।

संदर्भ स्रोतः-

1. आर0 एल0 कौड़ा, (2018), ''एग्रीकल्चर डेवलपमेंट इन द उत्तर प्रदेश, उत्तर प्रदेश, लखनऊ, पृ 12
2. एल0 एस0 एस कुमार, आदि (2020), ''एग्रीकल्चर इन इण्डिया'', खण्ड तीन, एशिया पब्लिशिंग हाउस, आगरा., पृ 15
3. एस0 एस0 खोट, (2015), ''शीप एण्ड वूल इन इण्डिया'', इंडियन कौंसिल आफ एग्रीकल्चरल रिसर्च, नई दिल्ली, फार्म बुलेटिन नं0 16, पृ 30
4. नार्मन0 सी0 राइट, (2021), ''रिपोर्ट आन द डैवलपमेंट आफ एग्रीकल्चर इंडस्ट्रीज इन इण्डिया'', मैनेजर आफ पब्लिकेशंस भारत सरकार, नई दिल्ली, पृ 49
5. हरबंस सिंह, (2016), ''ए सर्वे आफ एग्रीकल्चर इन इंडिया'', लाहौर बुक शाप, लुधियाना, पृ 25
6. हरबंश सिंह और वाई0एम0 पारनेकर (2015), ''बेसिक फक्ट्स अबाउट एग्रीकल्चर एण्ड इट्स मेटर्स'', सेंट्रल कौंसिल आफ एग्रीकल्चर, नई दिल्ली, पृ 14
7. आर0 एन0 सोनी (2017), ''कृषि अर्थशास्त्र के मुख्य विषय'', विशाल पब्लिशिंग कारपोरेशन जयपुर., पृ 21
8. एम0 एस0 रंधावा, (2019), ''एग्रीकल्चर इन इण्डिया'', इण्डियन कौंसिल आफ एग्रीकल्चरल रिसर्च, नई दिल्ली, पृ 154

बिहार के ग्रामीण दिव्यांगों की सामाजिक समस्याएं एवं चुनौतियां : एक समाजशास्त्रीय अध्ययन।

डॉ० रोहित कुमार

समाजशात्र विभाग, पाटलिपुत्र विश्वविद्यालय, पटना

शोधा-सार

प्रस्तुत अध्ययन का उद्देश्य ग्रामीण बिहार में दिव्यांग व्यक्तियों के समक्ष विद्यमान सामाजिक बाधाओं एवं चुनौतियों का विश्लेषणात्मक अध्ययन करना है। भारत के ग्रामीण क्षेत्रों में दिव्यांगता केवल एक स्वास्थ्य संबंधी समस्या नहीं है, बल्कि यह सामाजिक, आर्थिक, शैक्षिक एवं सांस्कृतिक कारकों से गहराई से जुड़ी हुई एक बहुआयामी स्थिति है। बिहार जैसे राज्य में, जहाँ ग्रामीण जनसंख्या अधिक है और संसाधनों की सीमाएँ हैं, वहाँ दिव्यांग व्यक्तियों को अनेक प्रकार की कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। इस अध्ययन में यह पाया गया कि ग्रामीण समाज में दिव्यांग व्यक्तियों के प्रति जागरूकता की कमी, पारंपरिक मान्यताएँ, अंधविश्वास तथा सामाजिक भेदभाव प्रमुख बाधाएँ हैं। कई स्थानों पर दिव्यांगता को अभिशाप या ईश्वरीय दंड के रूप में देखा जाता है, जिसके कारण प्रभावित व्यक्तियों को परिवार एवं समाज दोनों स्तरों पर उपेक्षा का सामना करना पड़ता है। इसके अतिरिक्त, शिक्षा एवं स्वास्थ्य सुविधाओं की सीमित उपलब्धता, सुलभ परिवहन का अभाव तथा रोजगार के अवसरों की कमी भी उनकी स्थिति को और अधिक जटिल बनाती है। अध्ययन से यह भी स्पष्ट होता है कि सरकारी योजनाओं एवं नीतियों की जानकारी का अभाव तथा उनके प्रभावी क्रियान्वयन में कमी ग्रामीण दिव्यांग व्यक्तियों के विकास में बाधक है। परिणामस्वरूप, अनेक दिव्यांग व्यक्ति आत्मनिर्भर बनने के अवसरों से वंचित रह जाते हैं और सामाजिक बहिष्कार का शिकार होते हैं। इसके साथ ही, परिवार का सहयोग, गैर-सरकारी संगठनों की भूमिका तथा समावेशी शिक्षा प्रणाली कुछ हद तक सकारात्मक प्रभाव डालती है, किन्तु इनका दायरा सीमित है।

मुख्य बिन्दुः-दिव्यांगता, अधिकार, सामाजिक बाधाएँ, समावेशन, बिहार, Rights of Persons with Disabilities Act, 2016, शिक्षा, रोजगार, सामाजिक सुरक्षा, सशक्तिकरण

परिचय

दिव्यांगता आज केवल एक चिकित्सीय या शारीरिक स्थिति का विषय नहीं रह गई है, बल्कि यह एक महत्वपूर्ण सामाजिक, आर्थिक और मानवाधिकार से जुड़ा मुद्दा बन चुकी है। वैश्विक स्तर पर यह स्वीकार किया गया है कि दिव्यांग व्यक्तियों को समाज के अन्य सदस्यों के समान अधिकार, अवसर और सम्मान प्राप्त होना चाहिए। भारत में भी इस दिशा में कई संवैधानिक एवं कानूनी प्रयास किए गए हैं, जिनमें विशेष रूप से त्पहीजे वि चमतेवदे ूपजी क्पेंइपसपजपमे ।बज, 2016 एक महत्वपूर्ण मील का पत्थर है। यह अधिनियम दिव्यांग व्यक्तियों को शिक्षा, रोजगार, सामाजिक सुरक्षा, और समान अवसरों का अधिकार प्रदान करता है तथा उनके समावेशी विकास को सुनिश्चित करने का प्रयास करता है। बिहार, जो भारत के सामाजिक-आर्थिक दृष्टि से पिछड़े राज्यों में से एक माना जाता है, वहां दिव्यांग व्यक्तियों की स्थिति विशेष अध्ययन की मांग करती है। राज्य में गरीबी, अशिक्षा, और सीमित संसाधनों की उपलब्धता जैसी समस्याएँ पहले से ही विद्यमान हैं, जो दिव्यांग व्यक्तियों के जीवन को और अधिक चुनौतीपूर्ण बना देती हैं। बिहार में दिव्यांगता का मुद्दा केवल व्यक्तिगत कठिनाइयों तक सीमित नहीं है, बल्कि यह व्यापक सामाजिक संरचना, सांस्कृतिक मान्यताओं और प्रशासनिक व्यवस्थाओं से भी गहराई से जुड़ा हुआ है। दिव्यांग व्यक्तियों के अधिकारों की चर्चा करते समय यह समझना आवश्यक है कि अधिकार केवल कानूनी दस्तावेजों तक सीमित नहीं होते, बल्कि उनके वास्तविक क्रियान्वयन और सामाजिक स्वीकृति पर भी निर्भर करते हैं। बिहार में, यद्यपि दिव्यांग व्यक्तियों के लिए कई सरकारी योजनाएँ और नीतियाँ लागू की गई हैं, जैसे कि पेंशन योजनाएँ, विशेष शिक्षा कार्यक्रम, और कौशल विकास पहल, लेकिन इन योजनाओं का लाभ सभी तक समान रूप से नहीं पहुँच पाता। इसका प्रमुख कारण जागरूकता की कमी, प्रशासनिक बाधाएँ, और सामाजिक असमानताएँ हैं। अवसरों के संदर्भ में देखा जाए तो शिक्षा और रोजगार दिव्यांग व्यक्तियों के सशक्तिकरण के दो महत्वपूर्ण स्तंभ हैं। बिहार में समावेशी शिक्षा की अवधारणा धीरे-धीरे विकसित हो रही है, परंतु अभी भी अधिकांश विद्यालयों और उच्च शिक्षण संस्थानों में आवश्यक सुविधाओं का अभाव है। जैसे कि रैम्प, ब्रेल पुस्तकें, सांकेतिक भाषा के विशेषज्ञ, और सहायक तकनीकों की कमी, दिव्यांग विद्यार्थियों की शिक्षा में बाधा उत्पन्न करती है। इसके अतिरिक्त, रोजगार के क्षेत्र में भी स्थिति संतोषजनक नहीं है। निजी और सरकारी दोनों क्षेत्रों में दिव्यांग व्यक्तियों के लिए निर्धारित आरक्षण और अवसरों का पूर्णतः पालन नहीं हो पाता, जिससे उनकी आर्थिक स्वतंत्रता प्रभावित होती है।

सामाजिक बाधाएँ इस अध्ययन का एक अत्यंत महत्वपूर्ण पहलू हैं। बिहार के ग्रामीण और शहरी दोनों क्षेत्रों में दिव्यांगता को लेकर अनेक प्रकार की भ्रांतियाँ और नकारात्मक धारणाएँ प्रचलित हैं। कई बार दिव्यांगता को अभिशाप, कर्मों का फल, या सामाजिक बोझ के रूप में देखा जाता है। ऐसी सोच दिव्यांग

व्यक्तियों के आत्मसम्मान और आत्मविश्वास को प्रभावित करती है तथा उन्हें समाज की मुख्यधारा से अलग कर देती है। परिवार और समुदाय का सहयोग न मिलना भी एक बड़ी समस्या है, जो उनके समग्र विकास में बाधा उत्पन्न करता है। इसके अतिरिक्त, आधारभूत संरचना की कमी भी दिव्यांग व्यक्तियों के जीवन को प्रभावित करती है। सार्वजनिक स्थानों, परिवहन व्यवस्था, सरकारी कार्यालयों, और शैक्षणिक संस्थानों में सुलभता का अभाव उन्हें स्वतंत्र रूप से कार्य करने से रोकता है। डिजिटल युग में, जहां तकनीक विकास का एक प्रमुख साधन बन चुकी है, वहाँ डिजिटल साक्षरता और उपकरणों की कमी दिव्यांग व्यक्तियों को नई संभावनाओं से वंचित कर देती है। नीतिगत स्तर पर, बिहार सरकार और केंद्र सरकार द्वारा कई पहलें की गई हैं, जैसे कि दिव्यांगजन सशक्तिकरण विभाग की स्थापना, विभिन्न सामाजिक सुरक्षा योजनाएँ, और कौशल विकास कार्यक्रम। फिर भी, इन नीतियों के प्रभावी क्रियान्वयन में कई चुनौतियाँ बनी हुई हैं। प्रशासनिक ढांचे की कमजोरियाँ, भ्रष्टाचार, और निगरानी की कमी इन योजनाओं की प्रभावशीलता को कम कर देती हैं। यह अध्ययन इस बात पर भी प्रकाश डालता है कि दिव्यांगता को केवल एक कल्याणकारी दृष्टिकोण से देखने के बजाय अधिकार-आधारित दृष्टिकोण अपनाने की आवश्यकता है। इसका अर्थ है कि दिव्यांग व्यक्तियों को केवल सहायता प्राप्त करने वाले लाभार्थी के रूप में नहीं, बल्कि समाज के सक्रिय और समान भागीदार के रूप में देखा जाना चाहिए। इसके लिए आवश्यक है कि समाज में जागरूकता बढ़ाई जाए, नकारात्मक धारणाओं को समाप्त किया जाए, और समावेशी नीतियों को प्रभावी ढंग से लागू किया जाए। अध्ययन का उद्देश्य बिहार में दिव्यांग व्यक्तियों की वर्तमान स्थिति का व्यापक विश्लेषण करना है, जिसमें उनके अधिकारों, उपलब्ध अवसरों, और सामाजिक बाधाओं का गहन अध्ययन शामिल है। यह शोध न केवल समस्याओं की पहचान करता है, बल्कि उनके समाधान के लिए व्यावहारिक सुझाव भी प्रस्तुत करता है। इसमें यह भी प्रयास किया गया है कि नीति निर्माताओं, शिक्षाविदों, और समाज के अन्य हितधारकों को इस दिशा में प्रभावी कदम उठाने के लिए प्रेरित किया जाए। अंततः, यह कहा जा सकता है कि बिहार में दिव्यांग व्यक्तियों की स्थिति में सुधार लाने के लिए एक समग्र और बहुआयामी दृष्टिकोण की आवश्यकता है। इसमें सरकारी नीतियों के साथ-साथ सामाजिक परिवर्तन, तकनीकी नवाचार, और सामुदायिक सहभागिता का समन्वय आवश्यक है। जब तक समाज में समानता, सम्मान, और समावेशन की भावना विकसित नहीं होगी, तब तक दिव्यांग व्यक्तियों के अधिकारों का वास्तविक क्रियान्वयन संभव नहीं हो पाएगा। इस संदर्भ में यह अध्ययन एक महत्वपूर्ण योगदान प्रदान करता है, जो भविष्य में और अधिक गहन शोध और नीतिगत सुधारों के लिए आधार तैयार कर सकता है।

साहित्य की समीखा

दिव्यांग व्यक्तियों के अधिकार, अवसर एवं सामाजिक समावेशन पर भारतीय विद्वानों द्वारा किए गए अध्ययन यह दर्शाते हैं कि भारत में दिव्यांगता संबंधी विमर्श धीरे-धीरे कल्याणकारी दृष्टिकोण से अधिकार-आधारित दृष्टिकोण की ओर अग्रसर हुआ है। विशेष रूप से Rights of Persons with Disabilities Act, 2016 के लागू होने के बाद शिक्षा, रोजगार, सामाजिक सुरक्षा और समावेशी विकास से संबंधित शोधों में उल्लेखनीय वृद्धि हुई है। बिहार जैसे सामाजिक एवं आर्थिक रूप से चुनौतीपूर्ण राज्य के संदर्भ में यह विषय और अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाता है।

दास, एस., और सरकार, आर. (2025)[1] ने भारतीय समावेशी शिक्षा व्यवस्था पर अपने अध्ययन में यह स्पष्ट किया कि भारत में समावेशी शिक्षा की अवधारणा अभी भी सीमित दृष्टिकोण से प्रभावित है। उन्होंने तर्क दिया कि दिव्यांग व्यक्तियों को मुख्यधारा में सम्मिलित करने के लिए केवल विद्यालयी प्रवेश पर्याप्त नहीं है, बल्कि संपूर्ण शिक्षा व्यवस्था में संरचनात्मक परिवर्तन आवश्यक है।

भारत सरकार (2016)[2] द्वारा अधिनियमित दिव्यांग व्यक्तियों के अधिकार अधिनियम, 2016 (Rights of Persons with Disabilities Act, 2016) भारत में दिव्यांग व्यक्तियों के अधिकारों, सम्मान और समावेशी विकास को सुनिश्चित करने की दिशा में एक ऐतिहासिक कदम है। यह अधिनियम संयुक्त राष्ट्र के Convention on the Rights of Persons with Disabilities (UNCRPD) के सिद्धांतों के अनुरूप तैयार किया गया है, जिसका उद्देश्य दिव्यांग व्यक्तियों के लिए समान अवसर, गैर-भेदभाव और पूर्ण सामाजिक सहभागिता को सुनिश्चित करना है। इस अधिनियम के अंतर्गत दिव्यांगता की परिभाषा को व्यापक बनाते हुए कुल 7 से बढ़ाकर 21 प्रकार की दिव्यांगताओं को शामिल किया गया है। इसमें शारीरिक, बौद्धिक, मानसिक, तंत्रिका संबंधी तथा बहु-दिव्यांगता जैसी स्थितियाँ सम्मिलित हैं। अधिनियम का प्रमुख उद्देश्य दिव्यांग व्यक्तियों को समाज की मुख्यधारा में जोड़ना और उन्हें शिक्षा, रोजगार, स्वास्थ्य, परिवहन एवं सूचना जैसी सभी सेवाओं में समान अवसर प्रदान करना है। इस अधिनियम में शिक्षा के क्षेत्र में समावेशी शिक्षा को विशेष महत्व दिया गया है, जिसके अनुसार 6 से 18 वर्ष तक के सभी दिव्यांग बच्चों को निःशुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा का अधिकार प्रदान किया गया है। साथ ही सभी शैक्षणिक संस्थानों को बाधारहित (barrier-free) वातावरण उपलब्ध कराने का प्रावधान किया गया है। रोजगार के क्षेत्र में सरकारी एवं निजी दोनों क्षेत्रों में आरक्षण तथा समान अवसर नीति को सुदृढ़ किया गया है।

प्रेम गुड्डाड (2024)[3] ने उच्च शिक्षा में समावेशिता को बढ़ावा देने में RPwD Act, 2016 तथा राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 की भूमिका का अध्ययन किया। उनके अनुसार, इन नीतियों ने दिव्यांग विद्यार्थियों के लिए समान अवसर, गैर-भेदभाव और सक्रिय सहभागिता सुनिश्चित करने का प्रयास किया है। तथापि, उच्च शिक्षण संस्थानों में सहायक तकनीकों और सुलभ वातावरण की कमी समावेशी शिक्षा को सीमित करती है।

डॉ. बृजेश कुमार राय (2025)[4] ने "Reasonable Accommodation" की अवधारणा पर शोध करते हुए यह स्पष्ट किया कि भारतीय कानूनों में दिव्यांग व्यक्तियों के लिए अनुकूल सुविधाएँ उपलब्ध कराना सामाजिक न्याय का आवश्यक तत्व है। उन्होंने बताया कि शिक्षा और रोजगार के क्षेत्र में उचित सुविधाओं का अभाव दिव्यांग व्यक्तियों की सहभागिता को सीमित करता है।

मिल्लो पबयांग (2026)[5] ने अरुणाचल प्रदेश में समावेशी शिक्षा के क्रियान्वयन का अध्ययन करते हुए पाया कि भौगोलिक कठिनाइयाँ, सामाजिक कलंक, संसाधनों की कमी और प्रशिक्षित शिक्षकों का अभाव दिव्यांग बच्चों की शिक्षा में बाधा उत्पन्न करते हैं। यह निष्कर्ष बिहार जैसे राज्यों की परिस्थितियों से भी काफी हद तक मेल खाता है। मोनार्क विश्वविद्यालय के शोधकर्ताओं द्वारा किए गए हालिया अध्ययन में यह निष्कर्ष निकाला गया कि भारतीय दिव्यांग कानूनों ने सामाजिक न्याय और पुनर्वास के क्षेत्र में सकारात्मक परिवर्तन लाया है, परंतु जागरूकता की कमी, प्रशासनिक जटिलताएँ तथा ग्रामीण क्षेत्रों में संसाधनों की अनुपलब्धता अभी भी प्रमुख चुनौतियाँ हैं। उपरोक्त साहित्य समीक्षा से स्पष्ट होता है कि भारत में दिव्यांग व्यक्तियों के अधिकारों और समावेशी विकास को लेकर नीतिगत स्तर पर पर्याप्त प्रगति हुई है। तथापि, इन नीतियों के प्रभावी क्रियान्वयन, सामाजिक जागरूकता, आधारभूत संरचना और संस्थागत

सहयोग की कमी अभी भी गंभीर समस्या बनी हुई है। बिहार के संदर्भ में विशेष रूप से यह आवश्यकता महसूस होती है कि दिव्यांग व्यक्तियों के अधिकारों और अवसरों को केवल कानूनी प्रावधानों तक सीमित न रखकर उन्हें व्यवहारिक एवं सामाजिक स्तर पर भी सुनिश्चित किया जाए।

नारू गोपाल डे एवं शंकर लाल बीका (2023)[6] ने भारत में दिव्यांग विद्यार्थियों के लिए समावेशी एवं समान शिक्षा की यात्रा का विश्लेषण किया। उन्होंने बताया कि भारत सरकार द्वारा विभिन्न नीतियों और कार्यक्रमों जैसे सर्व शिक्षा अभियान, राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 तथा RPwD Act, 2016-के माध्यम से दिव्यांग विद्यार्थियों को मुख्यधारा में लाने का प्रयास किया गया है। फिर भी ग्रामीण क्षेत्रों में अवसंरचना की कमी और सामाजिक भेदभाव अभी भी गंभीर समस्याएँ बनी हुई हैं।

ट्राडा नेहाबेन एवं डॉ. सरलाबेन चौधरी (2025)[7] ने भारतीय कानूनी प्रावधानों और पुनर्वास संबंधी नीतियों का मूल्यांकन करते हुए बताया कि भारत में दिव्यांगता संबंधी कानूनों ने कल्याणकारी दृष्टिकोण से अधिकार-आधारित दृष्टिकोण की ओर महत्वपूर्ण परिवर्तन किया है। उनके अध्ययन के अनुसार, RPwD Act, 2016 ने समानता, सम्मान और सामाजिक समावेशन को कानूनी आधार प्रदान किया, किंतु व्यवहारिक स्तर पर अभी भी प्रशासनिक और सामाजिक चुनौतियाँ विद्यमान हैं।

लालरोचामी राल्टे एवं प्रो. लालबियाकडिकी हनामते (2025)[8] ने प्राथमिक विद्यालयों में RPwD Act, 2016 की समझ और उसके क्रियान्वयन का अध्ययन किया। शोध के अनुसार, शिक्षकों में समावेशन की सामान्य समझ तो है, लेकिन अधिनियम के व्यावहारिक पक्षों और अधिकारों के प्रति गहन जानकारी का अभाव पाया गया। अध्ययन ने शिक्षक प्रशिक्षण और संस्थागत सहयोग को आवश्यक बताया।

स्नेह बंसल (2022)[9] ने चंडीगढ़, पंचकुला और मोहाली के सरकारी एवं निजी विद्यालयों में RPwD Act, 2016 के प्रति जागरूकता का तुलनात्मक अध्ययन किया। अध्ययन में पाया गया कि विद्यालयों में समावेशी शिक्षा की अवधारणा को स्वीकार तो किया गया है, किंतु शिक्षकों एवं प्रशासनिक अधिकारियों में अधिनियम के प्रावधानों की पर्याप्त जानकारी का अभाव है। शोध में यह भी सामने आया कि संसाधनों की कमी और प्रशिक्षित शिक्षकों का अभाव समावेशी शिक्षा की राह में प्रमुख बाधाएँ हैं।

सोमनाथ दास एवं रतन सरकार (2025)[10] ने भारतीय विद्यालयों में दिव्यांग समावेशन की वास्तविक स्थिति का अध्ययन किया। उनके अध्ययन में पाया गया कि अधिकांश विद्यालयों में आधारभूत सुलभ सुविधाएँ उपलब्ध नहीं हैं तथा शिक्षकों का प्रशिक्षण भी अपर्याप्त है। उन्होंने Universal Design for Learning (UDL) और सहायक तकनीकों के उपयोग को समावेशी शिक्षा के लिए आवश्यक बताया।

उदेश्य

1. बिहार में दिव्यांग व्यक्तियों के अधिकारों की स्थिति का विश्लेषण करना, विशेष रूप से Rights of Persons with Disabilities Act, 2016 के संदर्भ में।
2. बिहार में दिव्यांग व्यक्तियों के लिए उपलब्ध शैक्षिक, आर्थिक एवं सामाजिक अवसरों का मूल्यांकन करना।
3. दिव्यांग व्यक्तियों के समक्ष उपस्थित प्रमुख सामाजिक बाधाओं, जैसे भेदभाव, सामाजिक कलंक एवं पारिवारिक उपेक्षा की पहचान करना।
4. ग्रामीण एवं शहरी क्षेत्रों में दिव्यांग व्यक्तियों की स्थिति की तुलनात्मक समीक्षा करना।
5. सरकारी नीतियों, योजनाओं एवं कार्यक्रमों के क्रियान्वयन की प्रभावशीलता का अध्ययन करना।
6. दिव्यांग व्यक्तियों के समावेशी विकास एवं सशक्तिकरण हेतु व्यावहारिक सुझाव एवं नीतिगत सिफारिशें प्रस्तुत करना।

परिकल्पना

1. बिहार में दिव्यांग व्यक्तियों को त्पहीजे वि च्मतेवदे ूपजी क्पेंइपसपजपमे ।बज, 2016 के तहत प्राप्त अधिकारों का पूर्ण लाभ प्रभावी रूप से नहीं मिल पा रहा है।
2. बिहार में दिव्यांग व्यक्तियों के लिए उपलब्ध शिक्षा, रोजगार एवं सामाजिक सुरक्षा के अवसर सामाजिक एवं संरचनात्मक बाधाओं के कारण सीमित हैं।
3. सामाजिक कलंक, भेदभाव तथा जागरूकता की कमी दिव्यांग व्यक्तियों के समावेशी विकास एवं सशक्तिकरण में प्रमुख अवरोध के रूप में कार्य करते हैं।

शोध का महत्व

दिव्यांगता से संबंधित मुद्दे आज के समय में केवल स्वास्थ्य या पुनर्वास तक सीमित नहीं हैं, बल्कि यह मानवाधिकार, सामाजिक न्याय और समावेशी विकास के व्यापक विमर्श का एक महत्वपूर्ण हिस्सा बन चुके हैं। विशेष रूप से बिहार जैसे राज्य में, जहाँ सामाजिक-आर्थिक चुनौतियाँ पहले से ही गहरी हैं, वहाँ दिव्यांग व्यक्तियों की स्थिति को समझना अत्यंत आवश्यक हो जाता है। इस संदर्भ में "बिहार में दिव्यांग व्यक्तियों के अधिकार, अवसर और सामाजिक बाधाएँ: एक विश्लेषणात्मक अध्ययन" न केवल एक अकादमिक प्रयास है, बल्कि यह समाज और नीति-निर्माताओं के लिए एक महत्वपूर्ण दिशा-निर्देशक भी है। दिव्यांग व्यक्तियों के अधिकारों की वास्तविक स्थिति को उजागर करता है। यद्यपि भारत में Rights of Persons with Disabilities Act, 2016 जैसे प्रगतिशील कानून लागू हैं, लेकिन उनके प्रभावी क्रियान्वयन की स्थिति राज्यों के अनुसार भिन्न-भिन्न है। बिहार में इन अधिकारों का वास्तविक लाभ किस हद तक दिव्यांग व्यक्तियों तक पहुँच रहा है, यह जानना अत्यंत महत्वपूर्ण है। यह अध्ययन इस अंतर को स्पष्ट करता है कि कानूनी प्रावधान और जमीनी वास्तविकता के बीच कितना अंतर है।

दिव्यांग व्यक्तियों के लिए उपलब्ध अवसरों का विश्लेषण करता है, विशेषकर शिक्षा, रोजगार, स्वास्थ्य और सामाजिक सुरक्षा के क्षेत्र में। किसी भी समाज के समग्र विकास के लिए यह आवश्यक है कि उसके सभी वर्गों को समान अवसर प्राप्त हों। यदि दिव्यांग व्यक्ति शिक्षा और रोजगार के अवसरों से वंचित रहते हैं, तो यह न केवल उनके व्यक्तिगत विकास को बाधित करता है, बल्कि समाज की समग्र प्रगति को भी प्रभावित करता है। इस दृष्टिकोण से यह अध्ययन अवसरों की उपलब्धता और उनकी पहुंच के बीच के अंतर को समझने में सहायक है। इस अध्ययन का एक महत्वपूर्ण पहलू यह है कि यह सामाजिक बाधाओं की गहराई से पड़ताल करता है। बिहार में आज भी दिव्यांगता को लेकर कई प्रकार की नकारात्मक धारणाएँ प्रचलित हैं, जैसे कि इसे अभिशाप या कर्मों का फल मानना। ऐसी मान्यताएँ न केवल दिव्यांग व्यक्तियों के आत्मविश्वास को प्रभावित करती हैं, बल्कि उन्हें समाज की मुख्यधारा से अलग भी कर देती हैं। यह अध्ययन इन सामाजिक बाधाओं को उजागर करता है और यह दर्शाता है कि केवल नीतियाँ बनाना पर्याप्त नहीं है, बल्कि सामाजिक मानसिकता में बदलाव भी आवश्यक है। यह अध्ययन नीति-निर्माताओं के लिए अत्यंत उपयोगी है। यह उन्हें यह समझने में मदद करता है कि वर्तमान नीतियों और योजनाओं में कहाँ-कहाँ सुधार की आवश्यकता है। उदाहरण के लिए, यदि किसी योजना का लाभ लक्षित समूह तक नहीं पहुँच रहा है, तो उसके पीछे के कारणों जैसे प्रशासनिक जटिलताएँ, भ्रष्टाचार या जागरूकता की कमी को पहचानना आवश्यक है। इस अध्ययन के निष्कर्ष नीति-निर्माण और उसके क्रियान्वयन को अधिक प्रभावी बनाने में सहायक हो सकते हैं। यह अध्ययन अकादमिक दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है। दिव्यांगता के विषय पर भारत में, विशेषकर बिहार के संदर्भ में, सीमित शोध उपलब्ध हैं। यह अध्ययन इस क्षेत्र में एक महत्वपूर्ण योगदान प्रदान करता है और भविष्य के शोधकर्ताओं के लिए एक आधार तैयार करता है। यह न केवल वर्तमान स्थिति का विश्लेषण करता है, बल्कि आगे के अनुसंधान के लिए नए प्रश्न और संभावनाएँ भी प्रस्तुत करता है।

यह अध्ययन सामाजिक जागरूकता बढ़ाने में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है। जब समाज के लोग दिव्यांग व्यक्तियों की वास्तविक समस्याओं और चुनौतियों को समझेंगे, तब ही वे उनके प्रति संवेदनशील और सहयोगी बन सकेंगे। यह अध्ययन समाज के विभिन्न वर्गों जैसे शिक्षकों, छात्रों, सामाजिक कार्यकर्ताओं और आम नागरिकों को इस दिशा में जागरूक करने का कार्य करता है।, यह अध्ययन समावेशी विकास की अवधारणा को मजबूत करता है। समावेशी विकास का अर्थ है कि समाज के सभी वर्गों को विकास की प्रक्रिया में समान रूप से शामिल किया जाए। यदि दिव्यांग व्यक्तियों को इस प्रक्रिया से बाहर रखा जाता है, तो विकास अधूरा रह जाता है। यह अध्ययन यह स्पष्ट करता है कि दिव्यांग व्यक्तियों को मुख्यधारा में शामिल किए बिना सतत विकास संभव नहीं है। यह अध्ययन तकनीकी और अवसंरचनात्मक सुधारों की आवश्यकता को भी रेखांकित करता है। जैसे कि सुलभ परिवहन, अनुकूलित भवन, डिजिटल उपकरण और सहायक तकनीकें दिव्यांग व्यक्तियों के जीवन को आसान बना सकती हैं। बिहार में इन सुविधाओं की कमी एक बड़ी समस्या है, जिसे दूर करने के लिए ठोस प्रयासों की आवश्यकता है। यह अध्ययन इन आवश्यकताओं को स्पष्ट रूप से प्रस्तुत करता है। यह अध्ययन स्थानीय और क्षेत्रीय संदर्भ में समस्याओं को समझने का अवसर प्रदान करता है। अक्सर नीतियाँ राष्ट्रीय स्तर पर बनाई जाती हैं, लेकिन उनका प्रभाव स्थानीय परिस्थितियों के अनुसार भिन्न होता है। बिहार की सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक परिस्थितियाँ अन्य राज्यों से अलग हैं, इसलिए यहाँ की समस्याओं का समाधान भी स्थानीय स्तर पर ही खोजा जाना चाहिए। यह अध्ययन इस दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम है।

यह अध्ययन यह संदेश देता है कि दिव्यांगता को केवल एक समस्या के रूप में नहीं, बल्कि एक सामाजिक जिम्मेदारी के रूप में देखा जाना चाहिए। समाज, सरकार और अन्य संस्थाओं को मिलकर ऐसे वातावरण का निर्माण करना चाहिए, जहाँ दिव्यांग व्यक्ति सम्मानपूर्वक और आत्मनिर्भर जीवन जी सकें। इस प्रकार, यह अध्ययन न केवल दिव्यांग व्यक्तियों की वर्तमान स्थिति को समझने में सहायक है, बल्कि यह उनके अधिकारों की रक्षा, अवसरों के विस्तार और सामाजिक बाधाओं को दूर करने के लिए एक ठोस आधार भी प्रदान करता है।

आंकड़ों का विश्लेषण

जनसांख्यिकीय वितरण

श्रेणी	*प्रतिशत (%)*
पुरुष दिव्यांग	58%
महिला दिव्यांग	42%
ग्रामीण क्षेत्र	72%
शहरी क्षेत्र	28%

Sources: Primary Data 2024

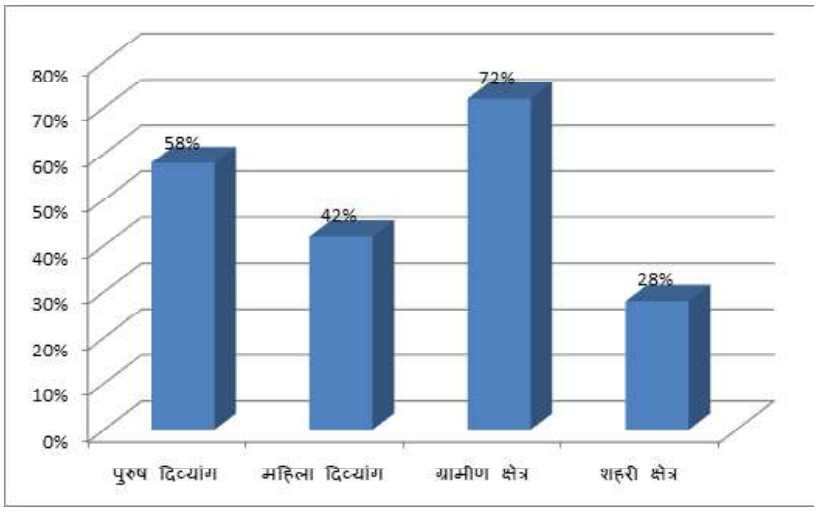

व्याख्या

यह दर्शाता है कि बिहार में अधिकांश दिव्यांग व्यक्ति ग्रामीण क्षेत्रों में निवास करते हैं, जहाँ संसाधनों और सेवाओं की कमी अधिक है। इससे उनकी समस्याएँ और जटिल हो जाती हैं।

शिक्षा की स्थिति

शिक्षा स्तर	*प्रतिशत (%)*
निरक्षर	38%
प्राथमिक शिक्षा	32%
माध्यमिक	18%
उच्च शिक्षा	12%

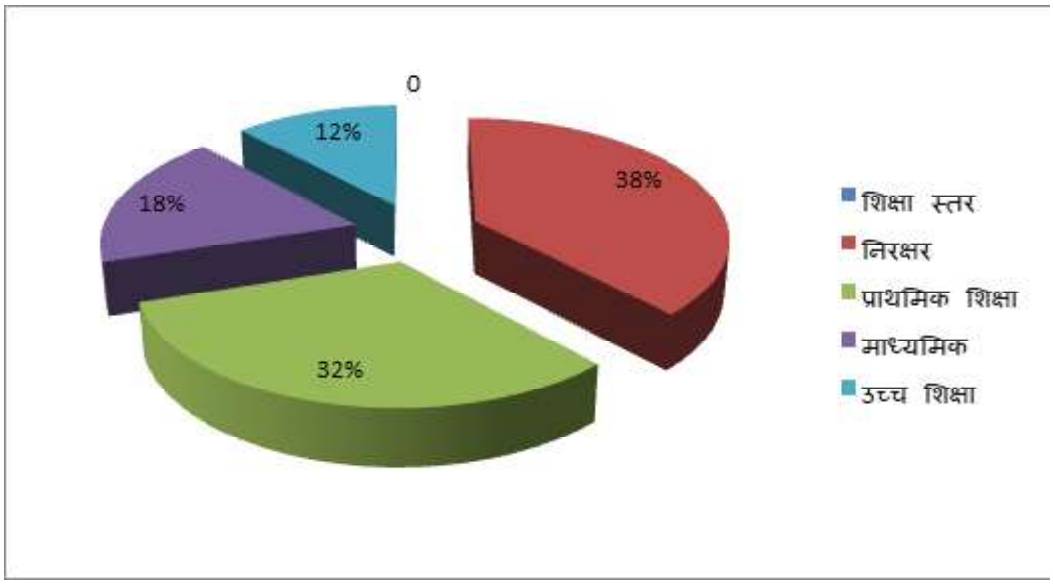

रोजगार की स्थिति

श्रेणी	*प्रतिशत (%)*
रोजगार प्राप्त	26%
बेरोजगार	74%

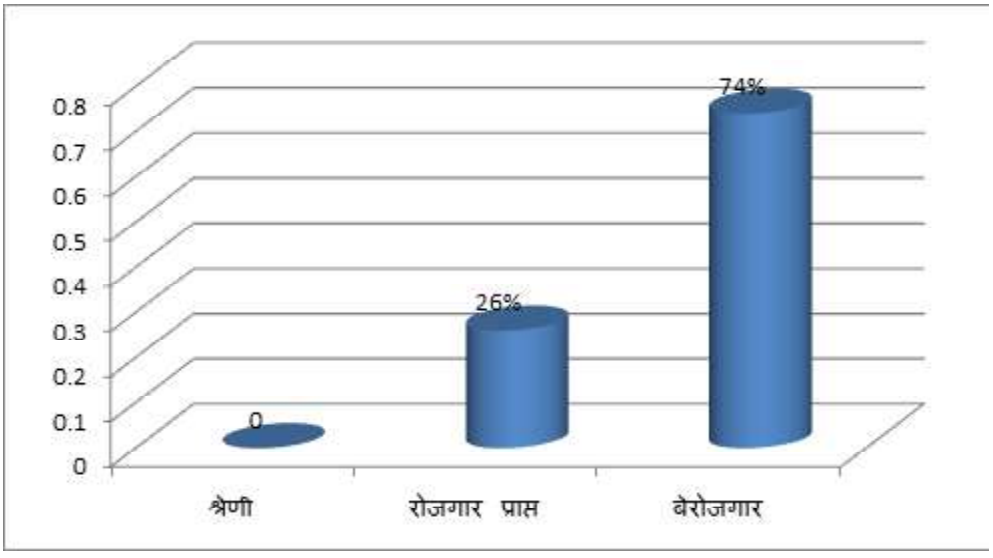

व्याख्या:

रोजगार की स्थिति अत्यंत चिंताजनक है। त्पहीजे वि चमतेवदे ूपजी क्पेंइपसपजपमे ।बज, 2016 में आरक्षण प्रावधान होने के बावजूद उनका पूर्ण लाभ नहीं मिल रहा है।

सामाजिक बाधाएँ

समस्या	*प्रतिशत (%)*
सामाजिक भेदभाव	52%
पारिवारिक उपेक्षा	21%
जागरूकता की कमी	64%
अवसंरचना की कमी	58%

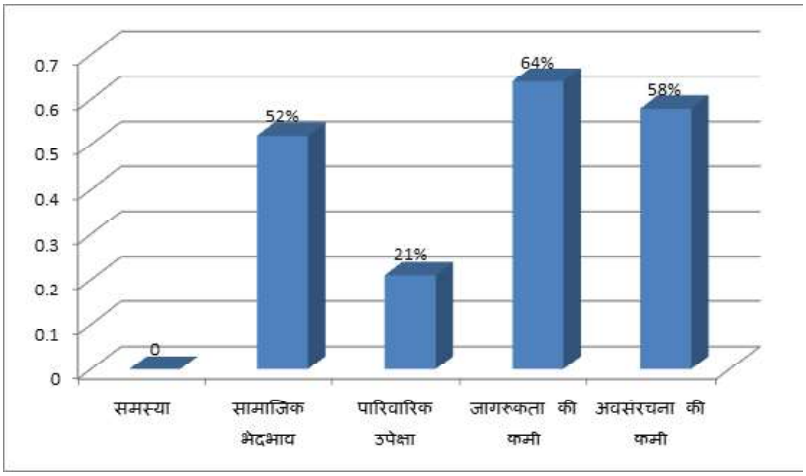

प्रस्तुत आंकड़ों के आधार पर बिहार में दिव्यांग व्यक्तियों के समक्ष उपस्थित सामाजिक बाधाओं का विश्लेषण यह स्पष्ट करता है कि उनकी समस्याएँ बहुआयामी और गहराई से सामाजिक संरचना में निहित हैं। सबसे प्रमुख समस्या जागरूकता की कमी (64%) के रूप में सामने आती है। यह दर्शाता है कि समाज के अधिकांश लोग दिव्यांगता के प्रति सही जानकारी और संवेदनशील दृष्टिकोण से वंचित हैं। जागरूकता के अभाव में लोग दिव्यांग व्यक्तियों की क्षमताओं को समझ नहीं पाते, जिससे उनके प्रति भेदभावपूर्ण व्यवहार और उपेक्षा बढ़ती है। यह स्थिति सरकारी योजनाओं और त्पहीजे वि चमतेवदे ूपजी क्पेंइपसपजपमे ।बज, 2016 जैसे कानूनी प्रावधानों के प्रभावी क्रियान्वयन में भी बाधा उत्पन्न करती है। अवसंरचना की कमी (58%) दूसरी बड़ी बाधा है, जो यह दर्शाती है कि सार्वजनिक स्थानों, शैक्षणिक संस्थानों, परिवहन और सरकारी सेवाओं में सुलभता का अभाव है। इस कारण दिव्यांग व्यक्ति स्वतंत्र रूप से शिक्षा, रोजगार और सामाजिक गतिविधियों में भाग नहीं ले पाते। यह समस्या विशेष रूप से ग्रामीण क्षेत्रों में अधिक गंभीर रूप में देखी जाती है। सामाजिक भेदभाव (52%) भी एक गंभीर चुनौती है। यह इंगित करता है कि समाज में दिव्यांग व्यक्तियों को समान अवसर और सम्मान नहीं मिलता। उन्हें अक्सर हीन दृष्टि से देखा जाता है, जिससे उनका आत्मविश्वास और सामाजिक सहभागिता प्रभावित होती है। यह भेदभाव उनके मानसिक स्वास्थ्य और जीवन की गुणवत्ता पर नकारात्मक प्रभाव डालता है। अंततः, पारिवारिक उपेक्षा (21%) का प्रतिशत अपेक्षाकृत कम होने के बावजूद अत्यंत महत्वपूर्ण है। परिवार व्यक्ति के विकास का पहला और सबसे महत्वपूर्ण आधार होता है। यदि परिवार ही सहयोग न करे, तो दिव्यांग व्यक्ति के लिए समाज में आगे बढ़ना और भी कठिन हो जाता है।

निष्कर्ष

इस अध्ययन के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि बिहार में दिव्यांग व्यक्तियों की स्थिति अधिकारों, अवसरों और सामाजिक बाधाओं के संदर्भ में मिश्रित एवं चुनौतीपूर्ण है। यद्यपि भारत सरकार द्वारा Rights of Persons with Disabilities Act, 2016 जैसे प्रगतिशील कानूनों के माध्यम से दिव्यांग व्यक्तियों के लिए समान अधिकार, सम्मान और समावेशन सुनिश्चित करने का प्रयास किया गया है, तथापि जमीनी स्तर पर इनके प्रभावी क्रियान्वयन में कई कमियाँ पाई जाती हैं। अध्ययन से स्पष्ट होता है कि दिव्यांग व्यक्तियों को शिक्षा, रोजगार, स्वास्थ्य और सामाजिक सुरक्षा के क्षेत्र में कई अवसर उपलब्ध हैं, लेकिन इन अवसरों तक उनकी वास्तविक पहुँच सीमित है। इसका प्रमुख कारण जागरूकता की कमी, प्रशासनिक बाधाएँ और अवसंरचनात्मक सुविधाओं का अभाव है। विशेष रूप से ग्रामीण क्षेत्रों में यह समस्या अधिक गंभीर रूप में देखने को मिलती है, जहाँ संसाधनों की कमी और सामाजिक पिछड़ापन दिव्यांग व्यक्तियों के विकास को बाधित करता है। सामाजिक दृष्टिकोण से भी दिव्यांग व्यक्तियों को अनेक चुनौतियों का सामना करना पड़ता है। समाज में व्याप्त भेदभाव, कलंक और नकारात्मक धारणाएँ उनके आत्मविश्वास और सामाजिक सहभागिता को प्रभावित करती हैं। इसके अतिरिक्त, परिवार का सीमित सहयोग भी उनकी स्थिति को और कठिन बना देता है। इस अध्ययन के निष्कर्ष यह भी दर्शाते हैं कि केवल नीतियों का निर्माण पर्याप्त नहीं है, बल्कि उनके प्रभावी

क्रियान्वयन और निगरानी की भी आवश्यकता है। साथ ही, समाज में सकारात्मक सोच विकसित करना और दिव्यांग व्यक्तियों के प्रति संवेदनशीलता बढ़ाना अत्यंत आवश्यक है। अंततः कहा जा सकता है कि दिव्यांग व्यक्तियों के अधिकारों की वास्तविक प्राप्ति तभी संभव है जब सरकार, समाज और परिवार मिलकर एक समावेशी एवं सुलभ वातावरण का निर्माण करें। यह अध्ययन इस दिशा में नीति-निर्माताओं और समाज दोनों के लिए महत्वपूर्ण संकेत प्रदान करता है, जिससे दिव्यांग व्यक्तियों का समग्र विकास सुनिश्चित किया जा सके।

संदर्भ-सूची

1. दास, एस., और सरकार, आर. (2025). भारत में दिव्यांग बच्चों के लिए समावेशी और न्यायसंगत शिक्षा: एक क्षेत्र-आधारित अध्ययन. इंडियन जर्नल ऑफ एजुकेशनल डेवलपमेंट, 12(1), 88-102.
2. भारत सरकार. (2016). दिव्यांग व्यक्तियों के अधिकार अधिनियम, 2016. विधि और न्याय मंत्रालय, नई दिल्ली.
3. गुडैट, पी. (2024). उच्च शिक्षा में समावेशिता को बढ़ावा देने में RPwD अधिनियम, 2016 और राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 की भूमिका. जर्नल ऑफ एजुकेशनल पॉलिसी स्टडीज, 15(3), 120-134.
4. कुमार, बी. आर. (2025). भारत में दिव्यांग व्यक्तियों के लिए उचित समायोजन और सामाजिक न्याय. इंडियन जर्नल ऑफ ह्यूमन राइट्स एंड सोशल जस्टिस, 9(1), 55-70.
5. मिल्लो, पी. (2026). अरुणाचल प्रदेश में समावेशी शिक्षा की चुनौतियाँ: एक सामाजिक-शैक्षिक अध्ययन. नॉर्थ-ईस्ट एजुकेशनल रिव्यू, 6(1), 33-48.
6. नारो, जी. डी., और बीका, एस. एल. (2023). भारत में दिव्यांग बच्चों के लिए समावेशी और न्यायसंगत शिक्षा: एक नीति विश्लेषण. इंटरनेशनल जर्नल ऑफ एजुकेशनल डेवलपमेंट, 18(2), 77-91.
7. नेहाबेन, टी., और चौधरी, एस. (2025). भारत में दिव्यांगता कानूनों और पुनर्वास नीतियों का मूल्यांकन: एक अधिकार-आधारित परिप्रेक्ष्य. जर्नल ऑफ लॉ एंड सोशल पॉलिसी, 10(2), 101-118.
8. राल्ते, एल., और हनामते, एल. (2025). प्राथमिक विद्यालयों में RPwD अधिनियम, 2016 का कार्यान्वयन: शिक्षकों की जागरूकता और चुनौतियाँ. जर्नल ऑफ एलिमेंट्री एजुकेशन स्टडीज, 14(1), 66-80.
9. सिंघल, एन. (2005). भारत में समावेशी शिक्षा: एक वैचारिक विश्लेषण. इंटरनेशनल जर्नल ऑफ डिसेबिलिटी, डेवलपमेंट एंड एजुकेशन, 52(2), 103ख्118.
10. दास, एस., और सरकार, आर. (2025). भारत में समावेशी शिक्षा: स्थिति, चुनौतियाँ और समावेशी पद्धतियाँ (पृष्ठ 10-25). नई दिल्ली: एजुकेशन पब्लिशिंग हाउस.

गांधीवादी ग्राम विकास की अवधारणा

प्रो० विवेकानंद तिवारी

अध्यक्ष, आम्बेडकर पीठ, एचपीयू, शिमला

शोध सारांश

गांधीवादी दृष्टिकोण हमेशा स्वैच्छिक इच्छाओं, आत्मनिर्भर ग्राम समुदायों की आवश्यकता और मनुष्य एवं प्रकृति के बीच बेहतर संतुलन से संबंधित मुद्दों पर बल देता रहा है। गांधी जी अपने आदर्श समाज की कल्पना करते थे और उनके आर्थिक विचार उनके दार्शनिक एवं समाजशास्त्रीय विचारों का अभिन्न अंग हैं। वे मानव विकास और विशेष रूप से वंचित एवं पिछड़े वर्ग के उत्थान में रुचि रखते थे। वास्तव में, वे सामाजिक कल्याण को अधिकतम करने के समर्थक थे और उनका मानना था कि अर्थव्यवस्था का विकास मानव व्यक्तित्व के समग्र विकास पर निर्भर करता है। उनके अनुसार, व्यक्तिगत आय में वृद्धि राष्ट्रीय आय में वृद्धि का सूचक है। परन्तु इसका विपरीत सत्य नहीं है, अर्थात् राष्ट्रीय आय में वृद्धि से समाज के प्रत्येक व्यक्ति को लाभ होना आवश्यक नहीं है।

आत्मनिर्भर ग्राम अर्थव्यवस्था के संबंध में गांधीवादी दृष्टिकोण

गांधी जी सामाजिक कल्याण को अधिकतम करने के विचार को मानते हैं और इसके लिए वे आय और धन की असमानताओं को कम करके व्यक्तियों के कल्याण को सर्वोपरि महत्व देते हैं। गांधी जी के अनुसार, प्रत्येक व्यक्ति को न्यूनतम आवश्यक वस्तुएँ, अर्थात् भोजन, आवास और वस्त्र उपलब्ध कराए जाने चाहिए। धन का कुछ ही समूहों के हाथों में संकेंद्रण निश्चित रूप से समाजवादी समाज के सपने को चकनाचूर कर देगा। गांधी जी आत्मनिर्भर ग्राम अर्थव्यवस्था के पक्षधर हैं, जहाँ गाँव स्वतंत्र आर्थिक इकाइयाँ होंगी। कृषि में ऐसी तकनीकों को अपनाया जाएगा जो मिट्टी को अपक्षयित न करें और पर्यावरण को प्रदूषित न करें। इसके लिए किसानों को उर्वरकों, कीटनाशकों और पेस्टिसाइड्स का कम से कम उपयोग करके पर्यावरण के अनुकूल उत्पादन तकनीकों का प्रयोग करना चाहिए। वे बड़े जलविद्युत परियोजनाओं के बजाय कुएँ से सिंचाई को प्राथमिकता देते हैं, क्योंकि इससे शोषण होगा। भूमि स्वामित्व के संबंध में, गांधी जी जमींदारी व्यवस्था के विरुद्ध हैं और उनका मानना घ्है कि भूमि का स्वामित्व वास्तव में खेती करने वालों को मिलना चाहिए। उनका यह भी मानना घ्थ्था कि संतुलित खेती के लिए भूमि का सामुदायिक स्वामित्व होना चाहिए और यदि कोई अतिरिक्त भूमि बचती है तो उसे गांव के शेष समुदायों में वितरित किया जाना चाहिए।

भारत गांवों में बसता है। स्वाभाविक रूप से देश का विकास गांवों के विकास पर निर्भर करता है। गांव के लोगों के लिए आवश्यक सभी वस्तुएं और सेवाएं गांव में ही उत्पादित होनी चाहिए। संक्षेप में, प्रत्येक गांव एक आत्मनिर्भर गणराज्य होना चाहिए। यदि प्रत्येक गांव अपनी अतिरिक्त उपज गरीबों में बांट दे, तो ग्रामीण क्षेत्रों में गरीबी और भुखमरी की समस्या नहीं रहेगी। केवल इसी से गरीबी का उन्मूलन हो सकता है और इस प्रकार लोग सुखी और आत्मनिर्भर बन सकते हैं। केवल कृषि क्षेत्र ही ग्रामीण गरीबी और बेरोजगारी की समस्या का समाधान नहीं कर सकता। इसीलिए गांधी जी खादी, हथकरघा, रेशम उत्पादन और हस्तशिल्प जैसे ग्रामीण उद्योगों के विकास पर जोर देते हैं। उनका मानना है कि बड़े पैमाने के उद्योग लोगों को आलसी बनाते हैं और धन को कुछ ही लोगों के हाथों में केंद्रित करने में मदद करते हैं। इसके विपरीत, ग्रामीण उद्योग पारिवारिक श्रम पर आधारित होते हैं और इनमें कम पूंजी की आवश्यकता होती है। कच्चा माल भी स्थानीय बाजारों से प्राप्त किया जाता है और इस प्रकार उत्पादित वस्तुओं को स्थानीय बाजारों में बेचा जाता है। इसलिए उत्पादन और बाजार की कोई समस्या नहीं होती। बड़े पैमाने पर उत्पादन श्रम और पूंजी के बीच संघर्ष पैदा करता है। यहां पूंजी श्रम पर हावी हो जाती है। ग्रामीण उद्योगों के मामले में इस तरह के संघर्ष शायद ही उत्पन्न हों। ग्रामीण उद्योग एकता और समानता के प्रतीक हैं। भारत में बड़े पैमाने के उद्योग मुंबई, कोलकाता, अहमदाबाद, जमशेदपुर आदि कुछ बड़े शहरों में केंद्रित हैं। ग्रामीण क्षेत्रों में बड़े उद्योगों का अभाव है। इन उद्योगों के कुछ शहरों में केंद्रित होने से कई समस्याएं उत्पन्न हुई हैं। प्रमुख समस्या औद्योगिक क्षेत्रों में अत्यधिक जनसंख्या की है। इसके साथ ही वायु और जल प्रदूषण भी बढ़ता है। इसके अलावा, बड़े पैमाने के उद्योगों ने एकाधिकारवादी प्रवृत्तियों और आय के असमान वितरण को बढ़ावा दिया है। दूसरी ओर, ग्रामीण उद्योग आर्थिक गतिविधियों के विकेंद्रीकरण में सहायक होते हैं और इन उद्योगों में उत्पन्न आय का एक बड़ा हिस्सा श्रमिकों और बड़ी संख्या में लोगों के बीच वितरित होता है। गांधी जी बड़े पैमाने के उद्योगों के पक्षधर नहीं थे, क्योंकि ये उद्योग ग्रामीण क्षेत्रों में रहने वाली विशाल जनसंख्या से संबंधित नहीं थे। इस प्रकार, गांधी जी के अनुसार, औद्योगीकरण व्यक्तित्व के विकास में सहायक नहीं होता; बल्कि यह केवल कुछ लोगों की भौतिक प्रगति में ही सहायक होता है। हमारे हस्तशिल्प को अंग्रेज शासकों द्वारा मशीनों के उपयोग से नष्ट कर दिया गया था। मशीनरी, पूंजी-प्रधान होने के कारण, श्रम को विस्थापित करती है और स्वाभाविक रूप से रोजगार और अल्प-रोजगार को बढ़ाती है। मशीनरी एक समतावादी अनुकूलतम स्थिति उत्पन्न करती है, क्योंकि यह कुछ लोगों की आर्थिक स्थिति में सुधार करती है, जबकि कई दुर्भाग्यशाली ग्रामीण लोगों को बेरोजगार और शोषित छोड़ देती है। इसलिए यह दो व्यक्तियों के बीच शून्य-योग का खेल है। लेकिन निराशाजनक बात यह है कि यह ग्रामीण आबादी के एक बड़े हिस्से के कल्याण को कम कर देती है।

बीज मंत्र: गाँव, स्वराज, गणराज्य, आत्मनिर्भर, लोकतंत्र, ग्राम पंचायत विकेन्द्रीकरण

शोध विस्तार

गांधी जी की लोकतांत्रिक विकेंद्रीकरण की अवधारणा में अहिंसा, सत्य और व्यक्तिगत स्वतंत्रता में उनके प्रबल विश्वास की छाप स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। वे इसे पंचायती राज या ग्राम स्वराज कहते हैं। वे प्रत्येक गाँव को एक छोटा गणराज्य देखना चाहते थे, जो अपनी मूलभूत आवश्यकताओं में आत्मनिर्भर हो, बड़े भौगोलिक निकायों से व्यवस्थित और गैर-पदानुक्रमित रूप से जुड़ा हो और स्थानीय मामलों के निर्णय लेने की अधिकतम स्वतंत्रता का आनंद लेता हो। गांधी जी चाहते थे कि भारत के गाँवों में राजनीतिक शक्ति का वितरण हो। गांधी जी ने जिसे सच्चा लोकतंत्र कहा, उसे 'स्वराज' शब्द से वर्णित करना बेहतर समझा। यह लोकतंत्र स्वतंत्रता पर आधारित है। गांधी जी के विचार में, व्यक्तिगत स्वतंत्रता को केवल स्वायत्त, आत्मनिर्भर समुदायों में ही बनाए रखा जा सकता है जो लोगों को पूर्ण भागीदारी के अवसर प्रदान करते हैं।

ग्राम पंचायतें

जमीनी स्तर पर राजनीतिक और आर्थिक लोकतंत्र की शुरुआत करने के लिए पंचायत राज व्यवस्था सबसे आदर्श साधन थी। महात्मा गांधी के देशव्यापी दौरों ने उनके इस विश्वास को और मजबूत किया कि यदि गांवों का शासन 'सादा जीवन और उच्च विचार' के सिद्धांत पर आधारित ग्राम पंचायतों द्वारा किया जाए तो भारत को लाभ होगा। ये ऐसे ग्राम गणराज्य थे जो आत्मनिर्भर और स्वावलंबी थे और जिनमें लोगों की सभी आवश्यकताएं पूरी होती थीं। ये ऐसी संस्थाएं थीं जहां सभी मनुष्यों को न्यूनतम जीवन स्तर प्रदान किया जा सकता था। व्यक्ति को अपने व्यक्तित्व के पूर्ण विकास के लिए अधिकतम स्वतंत्रता और अवसर प्राप्त थे। इन गणराज्यों में राज्य का प्रभाव कम होगा और लोकतंत्र की जड़ें गहरी होंगी। उनके अनुसार, पर्याप्त बल के बिना केंद्रीकरण व्यवस्था कायम नहीं रह सकती।[2]

पंचायतों द्वारा वार्षिक रूप से निर्वाचित पांच सदस्यों का प्रबंधन किया जाना था। गांधी का उद्देश्य व्यक्ति को स्थानीय प्रशासन का केंद्र बनाना था। लोगों से अपेक्षा की जाती थी कि वे व्यक्तिगत रुचि लें और बड़ी संख्या में बैठकों में उपस्थित होकर सामान्य हित के मुद्दों जैसे कि ग्राम उद्योग, कृषि उत्पादन, दायित्व और योजना पर विचार-विमर्श करें।[3]

ग्राम- विकेंद्रीकृत प्रणाली की एक इकाई:

गांधी जी ने इस बात पर विशेष बल दिया कि आर्थिक या राजनीतिक शक्ति का केंद्रीकरण सहभागी लोकतंत्र के सभी मूलभूत सिद्धांतों का उल्लंघन करेगा। केंद्रीकरण को रोकने के लिए, गांधी जी ने समानांतर राजनीतिक व्यवस्थाओं और आर्थिक स्वायत्तता की इकाइयों के रूप में ग्राम गणराज्यों की स्थापना का सुझाव दिया। ग्राम विकेंद्रीकृत व्यवस्था की सबसे छोटी इकाई है। राजनीतिक रूप से, ग्राम इतना छोटा होना चाहिए कि हर कोई निर्णय लेने की प्रक्रिया में प्रत्यक्ष रूप से भाग ले सके। यह सहभागी लोकतंत्र की मूलभूत संस्था है। गांवों के तकनीकी कौशल पूर्णत: विकसित होंगे, उच्च कौशल और कलात्मक प्रतिभा वाले लोगों की कोई कमी नहीं होगी। ग्राम कवि, ग्राम कलाकार, ग्राम वास्तुकार, भाषाविद और शोधकर्ता होंगे।

गांधीवादी विकेंद्रीकरण का अर्थ है समानांतर राजनीति का निर्माण जिसमें आधुनिक राज्य की केंद्रीकरण और अलगाववादी शक्तियों का प्रतिकार करने के लिए जनशक्ति को संस्थागत रूप दिया जाता है। महात्मा गांधी के अनुसार, स्थानीय संसाधनों का उपयोग पंचायत राज व्यवस्था के विकास के लिए अत्यंत आवश्यक है। ग्राम सभाओं सहित पंचायतों को इस प्रकार संगठित किया जाना चाहिए कि वे कृषि और औद्योगिक क्षेत्रों के विकास के लिए स्थानीय रूप से उपलब्ध संसाधनों की पहचान कर सकें। गांधी ने लिखा, "जब तक सत्ता सभी के साथ साझा नहीं की जाती, तब तक लोकतंत्र असंभव है, लेकिन लोकतंत्र को भीड़तंत्र में परिवर्तित न होने दें।"

प्रत्येक गाँव एक छोटा गणराज्य हो, आत्मनिर्भर हो और स्थानीय मामलों के निर्णय लेने की अधिकतम स्वतंत्रता का आनंद ले।[6] गांधी ने गांधीवादी संविधान के अंतर्गत एक शासन योजना का भी प्रस्ताव रखा, जो प्राथमिक इकाई ग्राम पंचायत से शुरू होकर अखिल भारतीय पंचायत तक जाती हो, जिसमें सरकार के सभी स्तरों को शक्तियाँ सौंपी गई हों।[7] ये गाँव न केवल आत्मनिर्भर होने चाहिए, बल्कि आवश्यकता पड़ने पर पूरी दुनिया के विरुद्ध भी अपनी रक्षा करने में सक्षम होने चाहिए।[8]

बेलगाम कांग्रेस में अपने अध्यक्षीय भाषण में गांधी ने कहा कि पंचायत न केवल सस्ते न्याय को सुनिश्चित करने का एक सही माध्यम है, बल्कि आपसी न्याय के निपटारे के लिए सरकार पर निर्भरता से बचने का एक साधन भी है।[9]

पंचायत राज व्यवस्था:

गांधीवादी ग्राम स्वराज और पंचायत राज व्यवस्था के विचार, निर्णय लेने और सार्वजनिक नीति निर्माण की प्रक्रिया में सभी हितधारकों को शामिल करके, आवश्यक सामाजिक और राजनीतिक परिवर्तन लाने का माध्यम बन सकते हैं। जैसा कि गांधी ने कहा था, "पंचायत राज सच्ची लोकतंत्र की साकार अभिव्यक्ति है। हम भारत के सबसे विनम्र और निम्नतम व्यक्ति को भी देश के सबसे ऊंचे शासक के समान ही भारत का शासक मानेंगे।"

पंचायत राज के संबंध में भारत की विकास नीति:

महात्मा गांधी ने पंचायत राज की वकालत की, जो एक विकेंद्रीकृत शासन प्रणाली है जिसमें प्रत्येक गाँव अपने मामलों के लिए स्वयं उत्तरदायी होता है, और इसे भारत की राजनीतिक व्यवस्था की नींव बताया। इस अवधारणा को ग्राम स्वराज कहा जाता था। बलवंत राय मेहता समिति की सिफारिशें: बलवंत राय मेहता समिति को भारत सरकार द्वारा जनवरी 1957 में सामुदायिक विकास कार्यक्रम (1952) और राष्ट्रीय विस्तार सेवा (1953) के कामकाज की समीक्षा

करने और उनके बेहतर संचालन के लिए सुझाव देने हेतु नियुक्त किया गया था। समिति की सिफारिशों को जनवरी 1958 में राष्ट्रीय विस्तार सेवा (एनडीसी) द्वारा अनुमोदित किया गया और इससे पूरे देश में पंचायत राज संस्थाओं की स्थापना का मार्ग प्रशस्त हुआ। समिति ने श्लोकतांत्रिक विकेंद्रीकरणश योजना की स्थापना की सिफारिश की, जिसे अंततः पंचायत राज के नाम से जाना गया। (i) त्रिस्तरीय पंचायत राज प्रणाली की स्थापनाः इस प्रणाली को 1950 और 60 के दशक के दौरान राज्य सरकारों द्वारा अपनाया गया, क्योंकि विभिन्न राज्यों में पंचायतों की स्थापना के लिए कानून पारित किए गए थे। इसे भारतीय संविधान में भी समर्थन मिला, और 1992 में 73वें संशोधन के माध्यम से इस विचार को शामिल किया गया। 1992 के संशोधन अधिनियम में पंचायतों को आर्थिक विकास योजनाओं और सामाजिक न्याय की तैयारी के साथ-साथ संविधान की ग्यारहवीं अनुसूची में सूचीबद्ध 29 विषयों के कार्यान्वयन के लिए शक्तियां और जिम्मेदारियां सौंपने का प्रावधान है।

सामाजिक लेखापरीक्षाः

पंचायती राज मंत्रालय ने ग्राम सभा को गांवों के सुनियोजित आर्थिक और सामाजिक विकास को पारदर्शी तरीके से बढ़ावा देने के लिए एक जीवंत मंच बनाने हेतु विशिष्ट दिशानिर्देश जारी किए हैं। ये दिशानिर्देश वर्ष 2009-10 को ग्राम सभा वर्ष के रूप में मनाने की कार्यवाही का हिस्सा हैं और महात्मा गांधी एनआरईजीए के प्रभावी कार्यान्वयन के लिए सामाजिक लेखापरीक्षा से संबंधित हैं। दिशानिर्देशों के अनुसार, ग्राम सभा स्वशासन और पारदर्शी एवं उत्तरदायित्वपूर्ण कार्यप्रणाली की कुंजी है और एक ऐसा मंच है जो प्रत्यक्ष, सहभागी लोकतंत्र सुनिश्चित करता है। यह गरीबों, महिलाओं और हाशिए पर रहने वाले लोगों सहित सभी नागरिकों को ग्राम पंचायत के प्रस्तावों पर चर्चा करने, उनकी आलोचना करने, उन्हें स्वीकार या अस्वीकार करने और उसके प्रदर्शन का मूल्यांकन करने का समान अवसर प्रदान करता है। अतः, राज्य विधि द्वारा पंचायतों को ऐसी शक्तियां और अधिकार प्रदान कर सकते हैं जो उन्हें अपने अधीन स्वशासन संस्थाओं के रूप में कार्य करने में सक्षम बनाने के लिए आवश्यक हों। ग्यारहवीं अनुसूची के साथ अनुच्छेद 243जी में यह प्रावधान है। ऐसे कानून पंचायतों को आर्थिक विकास और सामाजिक न्याय की योजनाओं को तैयार करने और लागू करने के लिए शक्तियां और जिम्मेदारियां भी सौंप सकते हैं, जिनमें ग्यारहवीं अनुसूची में सूचीबद्ध 29 मामले भी शामिल हैं। इससे विभिन्न राज्यों द्वारा ग्राम पंचायत अधिनियमों को लागू करने की दिशा में कदम उठाए गए; हालांकि ये ग्रामीण स्थानीय सरकारी संस्थाओं के निर्माण के आधे-अधूरे प्रयास मात्र थे। लेकिन ग्रामीण समाज में प्रगति की सुप्त शक्तियों को जगाकर एक मौन क्रांति लाने के उद्देश्य से शुरू किए गए सामुदायिक विकास कार्यक्रम की विफलता के कारण बलवंतराय मेहता अध्ययन दल की नियुक्ति हुई।

लेकिन विभिन्न राज्यों में पंचायती राज के कामकाज पर कई प्रतिष्ठित विद्वानों के अध्ययनों और पंचायती राज मंत्रालय की स्थिति रिपोर्ट (1996) से यह निष्कर्ष निकलता है कि बलवंतराय मेहता अध्ययन दल की 2 अक्टूबर, 1959 की सिफारिश पर पंचायती राज लागू होने के छह दशक बाद भी ग्राम स्वराज का गांधीवादी आदर्श एक अधूरा एजेंडा बना हुआ है। 73वां संशोधन 1994 में विभिन्न राज्यों द्वारा लागू किया गया था। इसलिए, ग्राम स्वराज के प्रति समर्पित, व्यवस्थित और निरंतर प्रयासों की आवश्यकता है, ताकि जनता को सशक्त बनाया जा सके और भारत के राष्ट्रीय विकास को एक सहभागी लोकतंत्र बनाया जा सके।

संदर्भ सूची

1. रामश्रय रॉय, 1984. स्वयं और समाजः गांधीवादी विचार का अध्ययन, नई दिल्ली, सेज पब्लिकेशन्स, इंडिया प्राइवेट लिमिटेड, पृष्ठ 123
2. हरिजन, 30 दिसंबर 1939, खंड VII, पृ. 391.
3. एमएल शर्मा, 1987. गांधी और लोकतांत्रिक विकेंद्रीकरण, नई दिल्ली, दीप एंड दीप पब्लिकेशन्स, पृष्ठ 48
4. एमके गांधी, 1959. पंचायती राज, अहमदाबाद, नवजीवन पब्लिशिंग हाउस, पृ. 16
5. एमएल शर्मा, उपरोक्त उद्धरण, पृष्ठ 88
6. संकलित रचनाएँ, खंड ग्स्टप्, पृष्ठ 12
7. अधिक जानकारी के लिए श्रीमान नारायण अग्रवाल की पुस्तक 'गांधीवादी संविधान फॉर फ्री इंडिया' (इलाहाबाद, किताबिस्तान, 1946) देखें।
8. हरिजन, 28 जुलाई, 1946, खंड 10, पृ. 236
9. संकलित रचनाएँ, मई 1967, खंड ग्ट, पृष्ठ 478।
10. एमके गांधी, ग्राम स्वराज, (नवजीवन ट्रस्ट, अहमदाबाद, 1962), पृ.71.

भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन की पृष्ठभूमि और परंपराः एक अध्ययन

डॉ० अविनाश कुमार

एम. ए., पीएच.डी, तिलका मांझी भागलपुर विश्वविद्यालय, भागलपुर

सारांश

वर्तमान में, भारत दुनिया का सबसे तेजी से उभरता हुआ शक्तिशाली राष्ट्र-राज्य है। हालाँकि इसका उदय 1947 में हुआ था, लेकिन उससे पहले यह ब्रिटिश साम्राज्य का एक उपनिवेश था। ब्रिटिश लोगों ने इस धरती पर 200 से भी ज़्यादा सालों तक राज किया था। आजाद होने के लिए इसे एक बहुत लंबे सफर से गुजरना पड़ा।

भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन विभिन्न प्रकार के क्रियाकलापों और घटनाओं की एक शृंखला थी जिसका अंतिम उद्देश्य भारत में ब्रिटिश शासन को समाप्त करना था। यद्यपि सन 1857 के विद्रोह को श्स्वतन्त्रता का प्रथम संग्रामश कहा जाता है, किन्तु भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन उससे भी बहुत पहले छिटफुट रूप से आरम्भ हो गया था। यह 1947 तक ही नहीं बल्कि उसके बाद गोवा की मुक्ति तक चला।

इस लंबे सफर में इसे इसके महान नेताओं ने सही राह दिखाई। इन नेताओं ने भारतीयों को आजाद होने के लिए जरूरी हथियार दिए, यानी श्राष्ट्रवादी आंदोलनश। इसीलिए, भारतीय नेताओं को श्भारतीय राष्ट्रवादी आंदोलनश की आत्मा कहा जाता है।

इस शोध लेख में भारतीय राष्ट्रवादी आंदोलन का गहराई से विश्लेषण किया गया है।

मूल शब्दः राष्ट्रवाद, भारतीय राष्ट्रवादी आंदोलन, योगदान, औपनिवेशिक शासन, लोकतंत्र।

प्रस्तावना

भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन से स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिए किया गया एक सदी लंबा (1857-1947) ऐतिहासिक संघर्ष था। यह एक जन-जागृति थी जिसने साम्राज्यवाद का विरोध करते हुए एक धर्मनिरपेक्ष, लोकतांत्रिक और स्वतंत्र भारत की रूपरेखा तैयार की।[1]

भारतीय स्वतंत्रता के लिए पहला राष्ट्रवादी क्रांतिकारी आंदोलन बंगाल से उभरा। बाद में इसने नवगठित भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में जड़ें जमा लीं, जिसमें प्रमुख उदारवादी नेताओं ने ब्रिटिश भारत में भारतीय सिविल सेवा परीक्षाओं में बैठने के अधिकार के साथ-साथ मूल निवासियों के लिए अधिक आर्थिक अधिकारों की मांग की। 20वीं सदी के पूर्वार्द्ध में स्व-शासन के प्रति अधिक क्रांतिकारी दृष्टिकोण देखा गया।[2]

भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन निरंतर वैचारिक विकास में था। अनिवार्य रूप से उपनिवेशवाद विरोधी, यह एक धर्मनिरपेक्ष, लोकतान्त्रिक, गणतन्त्रात्मक और नागरिक-स्वतन्त्रतावादी राजनीतिक संरचना के साथ स्वतन्त्र, आर्थिक विकास के दृष्टिकोण से पूरक था। 1930 के दशक के बाद, आंदोलन ने एक मजबूत समाजवादी अभिविन्यास प्राप्त कर लिया। इसकी परिणति भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम 1947 में हुई, जिसने क्राउन आधिपत्य को समाप्त कर दिया और ब्रिटिश राज को भारतीय अधिराज्य और पाकिस्तान अधिराज्य में विभाजित कर दिया।

26 जनवरी 1950 तक भारत एक स्वायत्तशासी बना रहा, जब भारत के संविधान ने भारत गणराज्य की स्थापना की। पाकिस्तान 1956 तक एक प्रभुत्व बना रहा जब उसने अपना पहला संविधान अपनाया। 1971 में, पूर्वी पाकिस्तान ने बांग्लादेश के रूप में अपनी स्वतंत्रता की घोषणा की।[3]

इस विशाल आंदोलन की पृष्ठभूमि और परंपरा को निम्नलिखित चरणों और घटकों में समझा जा सकता हैः

1. पृष्ठभूमि और उदय के कारण

- राजनीतिक एकीकरणः अंग्रेजों द्वारा संपूर्ण भारत में एक समान प्रशासनिक व्यवस्था, न्याय प्रणाली और एकीकृत संचार माध्यमों (रेल, डाक, तार) का विकास किया गया, जिससे क्षेत्रीय दूरियां कम हुईं और एक राष्ट्र की भावना जगी।[4]
- सामाजिक-धार्मिक सुधार आंदोलनः राजा राममोहन राय, स्वामी दयानंद सरस्वती और स्वामी विवेकानंद जैसे सुधारकों ने समाज से कुरीतियों को दूर कर भारतीयों में आत्म-सम्मान और राष्ट्रप्रेम की अलख जगाई।[5]
- आर्थिक शोषणः दादाभाई नौरोजी और आर.सी. दत्त जैसे विचारकों ने 'धन की निकासी' (Drain of Wealth) के सिद्धांत के माध्यम से उजागर किया कि कैसे ब्रिटिश नीतियां भारत को गरीब बना रही थीं।
- पाश्चात्य शिक्षा और साहित्यः अंग्रेजी शिक्षा ने भारतीय बुद्धिजीवियों को स्वतंत्रता, समानता और राष्ट्रवाद के पश्चिमी विचारों से परिचित कराया।

2. संघर्ष की परंपरा और प्रमुख चरण

भारतीय स्वतंत्रता संग्राम को वैचारिक और व्यावहारिक रूप से तीन प्रमुख चरणों में विभाजित किया जा सकता है:[5]

- प्रारंभिक विद्रोह (1857): 1857 का सिपाही विद्रोह ब्रिटिश सत्ता को चुनौती देने वाला पहला संगठित सशस्त्र प्रयास था।
- उदारवादी/नरमपंथी चरण (1885-1905): 1885 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस (INC) की स्थापना हुई। गोपाल कृष्ण गोखले और दादाभाई नौरोजी जैसे नेताओं ने प्रार्थना, याचिका और सुधारों के माध्यम से ब्रिटिश सरकार तक अपनी बात पहुंचाई।
- उग्रवादी/गरमपंथी चरण (1905-1919): बंगाल विभाजन (1905) के विरोध में 'स्वदेशी' और 'बहिष्कार' आंदोलन ने जोर पकड़ा। लाल, बाल, पाल (लाला लाजपत राय, बाल गंगाधर तिलक, विपिन चंद्र पाल) ने पूर्ण स्वराज की मांग की। इस दौरान क्रांतिकारी राष्ट्रवाद (जैसे- भगत सिंह, चंद्रशेखर आजाद) की परंपरा भी फली-फुली।
- गांधीवादी युग (1919-1947): महात्मा गांधी के आगमन के साथ आंदोलन एक जन-आंदोलन में बदल गया। उन्होंने सत्य और अहिंसा पर आधारित असहयोग आंदोलन (1920-22), सविनय अवज्ञा आंदोलन (1930) और भारत छोड़ो आंदोलन (1942) जैसे सफल अभियानों का नेतृत्व किया।[6]

3. आदर्श और विरासत

- लोकतांत्रिक व धर्मनिरपेक्ष मूल्य: इस आंदोलन की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि यह सभी धर्मों, जातियों और क्षेत्रों के लोगों को एक साथ लेकर चला।
- संविधान निर्माण: स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान ही नेहरू रिपोर्ट (1928) और मौलिक अधिकारों के प्रस्तावों ने स्वतंत्र भारत के संविधान की नींव रखी।
- वैश्विक प्रभाव: भारत का अहिंसक संघर्ष दुनिया भर में उपनिवेशवाद विरोधी आंदोलनों के लिए एक प्रेरणा स्रोत बना।

भारतीय राष्ट्रवाद

भारतीय राष्ट्रवाद एक आधुनिक घटना है। इसका उदय ब्रिटिश काल में हुआ। यह भारतीय समाज में विकसित हुई अनेक व्यक्तिपरक और वस्तुनिष्ठ शक्तियों और कारकों की क्रिया और अंत:क्रिया के परिणामस्वरूप हुआ; ब्रिटिश शासन की परिस्थितियों और विश्व शक्तियों के प्रभाव में। भारतीय राष्ट्रवाद के विकास की प्रक्रिया बहुत जटिल और बहुआयामी रही है।

विश्व इतिहास में, भारतीय राष्ट्रवादी आंदोलन को औपनिवेशिक ताकतों के खिलाफ छेड़ा गया एक महान आंदोलन माना जाता है। ब्रिटिश लोगों की साम्राज्यवादी नीतियों के कारण ही भारतीय राष्ट्रवादी आंदोलन का उदय हुआ; इस आंदोलन की सबसे बड़ी खासियत यह थी कि इसमें अलग-अलग धर्मों, जातियों और क्षेत्रों के भारतीय लोग एकजुट होकर शामिल हुए थे।

भारत में राष्ट्रवादी आंदोलन के उदय के पीछे कई कारण थे, और उनमें सबसे अहम कारण था श्ब्रिटिश साम्राज्यवादश। ब्रिटिश शासन के दौरान ही पूरे भारत को जीतकर एक ही सत्ता के अधीन लाया गया था। किसी एक देश का पूरे भारत पर कब्जा हो जाने से, भारत के लोगों को एक श्राष्ट्रश के तौर पर सोचने और काम करने का अवसर मिला।

भारत में ब्रिटिश लोगों के आने से पहले, दक्षिण भारत के लोग आमतौर पर बाकी भारत से अलग-थलग ही रहते थे (सिर्फ कुछ छोटे-मोटे अंतराल को छोड़कर)। ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने देश को एकजुट करने में मदद की। श्बेहतर शासनश के नाम पर उन्होंने भारत की अर्थव्यवस्था का जमकर शोषण किया।

इसी आर्थिक शोषण के परिणामस्वरूप, लोगों में राष्ट्रवादी चेतना जागृत हुई और आंदोलन की नींव पड़ी। इसके अलावा, भारत में राष्ट्रवादी आंदोलन, दुनिया भर में फैल रहे श्लोकतंत्रश और श्राष्ट्रवादश के विचारों की लहर का ही एक हिस्सा था। भारत का पढ़ा-लिखा वर्ग इन विचारों से काफी प्रभावित हुआ था।

भारतीय राष्ट्रवाद की पृष्ठभूमि तैयार करने वाले कारक

भारतीय समाज पर औपनिवेशिक प्रभाव के तीन प्रमुख स्रोत ब्रिटिश सरकार के ईसाई मिशन और अंग्रेजी शिक्षा थे। ब्रिटिश सरकार ने स्वदेशी प्रशासनिक और शासन प्रणालियों को प्रतिस्थापित कर दिया। मिशन ने भारतीयों को ईसाई धर्म में परिवर्तित करने के प्रयास किए। ब्रिटिश शिक्षाविदों ने स्वदेशी आबादी के दृष्टिकोण में परिवर्तन लाने के लिए शिक्षा का प्रसार करने का प्रयास किया। भारत में ब्रिटिश समुदाय का देश के विभिन्न भागों के लोगों पर भी प्रभाव था। कम से कम ब्रिटिश राज के आरंभ में बंदरगाह, शहर और तटीय क्षेत्र अधिक प्रभावित हुए। राष्ट्रीय चेतना के उदय, संगठन के महत्व और आंदोलन की अहमियत के अहसास ने 1885 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के गठन को जन्म दिया। कांग्रेस का गठन भारतीय राष्ट्रवाद की एक मजबूत नींव थी।[7]

केएम पन्निक्कर ने लिखा है कि ष्ब्रिटिश शासन की सबसे उल्लेखनीय उपलब्धि भारत का एकीकरण थाष। यह कार्य अंग्रेजों द्वारा भारतीय जनता के हित में अनजाने में किया गया था। वे पूरे देश में अपने शासन का विस्तार और सुदृढ़ीकरण करने में रुचि रखते थे। पश्चिमी शिक्षा, परिवहन के साधनों, संचार, प्रौद्योगिकी और न्यायपालिका के परिचय के बारे में भी यही तर्क दिया जा सकता है।[8]

वाई. सिंह कहते है कि "पश्चिमी देशों के साथ भारतीय (हिंदू) परंपरा का संपर्क एक अलग और मौलिक समाजशास्त्रीय महत्व का था। ऐतिहासिक रूप से, यह एक पूर्व-आधुनिक और आधुनिकीकरण की ओर अग्रसर सांस्कृतिक व्यवस्था का संपर्क था।"

पश्चिमी परंपरा में "तर्कवाद, समानता और स्वतंत्रता पर आधारित वैज्ञानिक और तकनीकी विश्वदृष्टि" थी। परिणामस्वरूप, भारतीय परंपरा, जो पहले से ही एक प्रकार के 'विघटन' से गुजर रही थी, और अधिक खुली, उदार, समतावादी और मानवतावादी बन गई। पश्चिमी परंपरा ने भारतीय परंपरा के लिए

एक गंभीर चुनौती पेश की। पदानुक्रम, जो किसी विशेष जाति समूह में जन्म के आधार पर सामाजिक क्रम का सिद्धांत है, और समग्रतावाद, जो विभिन्न जाति समूहों के बीच 'जैविक' अंतरनिर्भरता है, जो विभिन्न समूहों द्वारा सौंपे गए कार्यों और कर्तव्यों के निष्पादन से संबंधित मानदंडों पर आधारित है, पश्चिमी परंपरा से काफी प्रभावित हुए।

एमएन श्रीनिवास पश्चिमीकरण को भारत में ब्रिटिश शासन के प्रभाव से भारतीय समाज में आए परिवर्तन के संदर्भ में परिभाषित किया गया है । परिवर्तन के क्षेत्रों में प्रौद्योगिकी, पहनावा, भोजन और लोगों की आदतों और जीवनशैली में परिवर्तन शामिल हैं। पश्चिमीकरण तीन स्तरों पर होता है: प्राथमिक, माध्यमिक और तृतीयक।[9]

1. प्राथमिक स्तर पर मुट्ठी भर लोग थे जो पहली बार पश्चिमी संस्कृति के संपर्क में आए और इसके पहले लाभार्थी थे।
2. पश्चिमीकरण के द्वितीयक स्तर से तात्पर्य भारतीय समाज के उन वर्गों से है जो प्राथमिक लाभार्थियों के प्रत्यक्ष संपर्क में आए।
3. तृतीय स्तर पर वे लोग आते हैं जिन्हें अंग्रेजों द्वारा दी गई सलाहों के बारे में अप्रत्यक्ष रूप से जानकारी मिली।

हालांकि, भारतीय समाज के विभिन्न वर्गों में पश्चिमीकरण का प्रसार असमान रहा है। श्रीनिवास ने मानवतावाद और समतावाद को इसके सकारात्मक पहलुओं के रूप में उल्लेख किया है, वहीं कुछ अन्य लोग पश्चिमीकरण को सांस्कृतिक और संज्ञानात्मक उपनिवेशवाद की प्रक्रिया और एक ष्अवैयक्तिक, गैर-सांस्कृतिक और गैर-संप्रभु राज्यष के मॉडल के रूप में देखते हैं।

पश्चिमीकरण ने नए आधारों पर अखिल भारतीय संस्कृति के पुनरुत्थान में योगदान दिया है। पश्चिमी प्रभाव के कुछ क्षेत्रों में शिक्षा, कानून, विज्ञान, प्रौद्योगिकी, राजनीतिकरण के नए रूप, शहरीकरण, औद्योगीकरण, प्रेस, परिवहन और संचार के साधन शामिल हैं।[10]

वाई. सिंह इसे श्सांस्कृतिक आधुनिकीकरणश की प्रक्रिया कहते हैं। पश्चिमी प्रभाव ने 'आधुनिकीकरण की एक नई महान परंपरा' को जन्म दिया है। निश्चित रूप से, इससे भारतीय धरती पर स्वदेशी परंपरा और पश्चिमी परंपरा के बीच संघर्ष की समस्या उत्पन्न होती है। इन दोनों परंपराओं का सामंजस्य विशेष रूप से भारतीय समाज के संभ्रांत वर्गों में देखने को मिलता है। आज, वैश्वीकरण का भारतीय समाज पर कहीं अधिक प्रभाव है। वास्तव में, भारत वैश्विक बाजार/आर्थिक और व्यावसायिक गतिविधियों का केंद्र बनने की प्रक्रिया में है।

ब्रिटिश शासन ने एक नई चेतना और मूल्यों की संरचना का निर्माण किया। वाई. सिंह के अनुसार, पश्चिमीकरण ने निम्नलिखित को जन्म दिया: सार्वभौमिक कानूनी ढांचे का विकास, शिक्षा का विस्तार, शहरीकरण और औद्योगीकरण, संचार नेटवर्क में वृद्धि और राष्ट्रवाद का विकास तथा समाज का राजनीतिकरण। इन तत्वों ने पूरे देश में आधुनिकीकरण में योगदान दिया। न्यायपालिका, कानून अदालतें, बाल विवाह, शिशुहत्या और सती प्रथा आदि को प्रतिबंधित करने वाले कानून, विधि आयोग, भूमि अधिकार, व्यापार, वाणिज्य, उद्योग, श्रम आदि स्थापित किए गए।[11]

भारतीय राष्ट्रवादी आंदोलन के बाद के प्रभाव

भारतीय राष्ट्रवादी आंदोलन ने न केवल भारतीयों को आजादी दिलाई, बल्कि इसके अलावा, विभिन्न मुद्दों और क्षेत्रों पर भी इसके कई प्रभाव पड़े।

1. भारतीय राष्ट्रवादी आंदोलन का सबसे पहला और प्रमुख प्रभाव भारत और पाकिस्तान का स्वतंत्र राष्ट्र-राज्यों के रूप में उदय था।[12]
2. भारतीय राष्ट्रवादी आंदोलन के कारण भारत दो देशों में विभाजित हो गया, जिसके परिणामस्वरूप इन दोनों नए बने देशों के बीच बड़े पैमाने पर आबादी का आदान-प्रदान हुआ। एक बार सीमाएँ तय हो जाने के बाद, लगभग 14.5 मिलियन (1.45 करोड़) लोगों ने इस उम्मीद में सीमाएँ पार कीं, कि वे धार्मिक बहुसंख्यक वाले क्षेत्र में अपेक्षाकृत अधिक सुरक्षित रहेंगे।
3. यह भारत के विभाजन के बाद हुए कुछ सांप्रदायिक दंगों के लिए भी जिम्मेदार था।
4. इसके अलावा, 1965 में भारत और पाकिस्तान के बीच एक युद्ध छिड़ गया, जिसका कारण दोनों देशों में राष्ट्रवाद की अत्यधिक भावना थी।
5. इसके अतिरिक्त, इसने बंगाली लोगों को अपने अधिकारों के प्रति जागरूक होने और पाकिस्तान सरकार के दमन के खिलाफ अपनी आवाज उठाने के लिए प्रेरित किया। अंतत:, उन्होंने अपने अधिकारों के लिए संघर्ष किया और 1971 में पाकिस्तान के चंगुल से खुद को मुक्त कराया।
6. इसके अलावा, भारतीय राष्ट्रवादी आंदोलन ने अफ्रीका के देशों को भी अपने अधिकारों और स्वतंत्रता के लिए लड़ने हेतु प्रोत्साहित किया।
7. भारतीय राष्ट्रवादी आंदोलन ने भारतीयों को एकजुट होने में भी सहायता की, जिसने उनके राज्य-निर्माण और राष्ट्र-निर्माण के कार्यों को आगे बढ़ाया।
8. इसके अतिरिक्त, भारतीय राष्ट्रवादी आंदोलन ने महिला आंदोलनों की प्रगति को भी प्रभावित किया, जिसने स्वतंत्र भारत के संविधान में महिलाओं के लिए समान अधिकारों और वयस्क मताधिकार को सुनिश्चित किया।
9. इसने भारतीय साहित्य और संस्कृति को भी समृद्ध किया है। उस दौर के ज्यादातर उपन्यासकार, लेखक, कवि और चित्रकार भारतीय राष्ट्रवादी आंदोलन से काफी प्रभावित थे, जिसकी झलक हमें उनकी रचनाओं में मिलती है।

भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन केवल एक राजनीतिक सत्ता परिवर्तन नहीं था, बल्कि यह एक नए और आधुनिक राष्ट्र के निर्माण की प्रक्रिया थी।

संक्षेप में, हम कह सकते हैं कि भारतीय राष्ट्रवादी आंदोलन में कुछ कमियाँ थीं, लेकिन साथ ही यह भी सच है कि इसी की वजह से भारत को आजादी मिली। इस आंदोलन को सफल और सार्थक बनाने में भारतीय नेताओं के बलिदानों की भूमिका अनिवार्य थी। भारत को आजाद कराने के लिए कई नेताओं ने अपनी जान कुर्बान कर दी, तो कई नेताओं ने अपना जीवन देश-निकाले और जेलों में बिताया।[13]

निष्कर्ष

भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन भारतीयों द्वारा ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन से स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिए किया गया एक लंबा संघर्ष था। 19वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में शुरू होकर 1947 में समाप्त हुए इस आंदोलन में विदेशी प्रभुत्व को चुनौती देने के लिए राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक प्रयास शामिल थे।

महात्मा गांधी, जवाहरलाल नेहरू, सुभाष चंद्र बोस, बाल गंगाधर तिलक और अन्य जैसे नेताओं ने इसमें महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। इस आंदोलन में संवैधानिक सुधार, जन आंदोलन, क्रांतिकारी गतिविधियाँ और सविनय अवज्ञा शामिल थे, जिन्होंने आधुनिक भारत को आकार दिया।

यह आंदोलन कई चरणों में विकसित हुआ, जो ब्रिटिश शासन के विरुद्ध भारतीयों की बदलती रणनीतियों को दर्शाता है। आरंभिक नेताओं ने उदार राजनीतिक सुधारों पर जोर दिया, जबकि बाद की पीढ़ियों ने अधिक कट्टरपंथी दृष्टिकोण अपनाए। असहयोग आंदोलन, सविनय अवज्ञा आंदोलन और भारत छोड़ो आंदोलन जैसे जन आंदोलनों ने लाखों लोगों को एकजुट किया। इसने सामाजिक सुधार, महिलाओं की भागीदारी और युवा सक्रियता को भी एकीकृत किया, जो राष्ट्रव्यापी जागृति का प्रतीक था। बंगाल, पंजाब, महाराष्ट्र और दक्षिण के क्षेत्रीय आंदोलनों ने स्वतंत्रता के लिए राष्ट्रीय संघर्ष का समर्थन किया।

सन्दर्भ

1. डेनिस जे (1996). '1919 का अमृतसर नरसंहार: गांधी, राज और भारतीय राष्ट्रवाद का विकास, 1915-39,' जुड में, एम्पायर: 1765 से वर्तमान तक का ब्रिटिश साम्राज्यिक अनुभव, पृष्ठ 258-272.
2. जलाल ए (1994). द सोल स्पोक्समैन: जिन्ना, मुस्लिम लीग और पाकिस्तान की मांग. कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस. ISBN 978-0-521-45850-4.
3. लॉरेंस जेम्स आर (2000). द मेकिंग एंड अनमेकिंग ऑफ ब्रिटिश इंडिया. पृष्ठ 439-518.
4. मैकलेन जेआर (1965). '1905 में बंगाल के विभाजन का निर्णय,' इंडियन इकोनॉमिक एंड सोशल हिस्ट्री रिव्यू, 2(3):221-237.
5. रॉय के (2009). 'औपनिवेशिक संदर्भ में सैन्य निष्ठा: द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान भारतीय सेना का एक केस स्टडी," J- Military History 73(2):144-172.
6. भगवान जोश, स्ट्रगल फार हेजेमनी इन इंडिया, वाल्यूम 2, द कोलोनियल स्टेट, द लेफ्ट ऐंड द नेशनल मूवमेंट, 1934-41, नई दिल्ली, 1992.
7. बिपन चंद्र, आइडियोलाजी ऐंड पोलिटिक्स इन माडर्न इंडिया, नई दिल्ली, 1994.
8. सी एच फिलिप्स और एम डी वेनराइट (संपादक), द पार्टीशन आफ इंडिया: पालिसीज ऐंड पर्सपेक्टिव्स, 1935-47, लंदन, 1970.
9. डी ए लो, ब्रिटेन ऐंड इंडियन नेशनलिज्म: द इम्प्रिन्ट आफ एम्बिगुइटी, 1929-42, कैम्ब्रिज, 1997.
10. डी डी बसु, इंट्रोडक्शन टु द कंस्टीच्यूशन आफ इंडिया, 1960, (2011 बीसवां पुनर्मुद्रित संस्करण).
11. राजमोहन गांधी, द गुड बोटमैन: ए पोट्रेट आफ गांधी, नई दिल्ली, 1995.
12. एस गोपाल (संपादक), सेलेक्टेड वर्क्स आफ जवाहरलाल नेहरू, वाल्यूम 6, नई दिल्ली, 1974
13. डा बाबासाहब आंबेडकर, राइटिंग्स ऐंड स्पीचेज, वाल्यूम 13, शिक्षा विभाग, महाराष्ट्र

जनजाति महिलाओं के सामाजिक विकास हेतु छत्तीसगढ़ राज्य सरकार की संचालित योजनाएँ

लोक सिंह

प्रभारी प्राचार्य, वीरांगना रानी दुर्गावती शासकीय महाविद्यालय, जिला-जी.पी.एम.

डॉ० यू.एस. श्रीवास्तव

प्राध्यापक, वी.अ.बा.लो.शा. महाविद्यालय पथरिया, जिला-मुगेंली (छ.ग.)

की-कुंजी- जनजातीय महिलाओं की सामाजिक विकास, राज्य द्वारा संचालित योजनाएँ

भारत एक विशाल राष्ट्र है। यहॉ अनेक जाति धर्म सम्प्रदाय के लोग निवास करते है। इन विभिन्न जाति, धर्म सम्प्रदाय के बीच जंगलों और पहाड़ों में रहने वाले जनजाति समुदाय भी है जो सभ्य समाज से दूर रहते हैं। इनकी अपनी पृथक संस्कृति और रीति रिवाज के अनुसार सादा और सरल जीवन-यापन करते हुए निवास करते हैं। अधिकांश जनजाति प्राकृतिक साधनों से ही अपना भोजन ग्रहण करते हैं। जन सामान्य इन्हें आदिम जाति जनजाति, वन्य जाति आदिवासी एवं वनवासी आदि के रूप में पहचानते हैं। इन जनजातियों को भारतीय संविधान में अनुच्छेद-342 के अन्तर्गत सूचीबद्ध कर अनुसूचित जनजाति कहा जाता है। 2011 के जनगणना के अनुसार भारत में जनजाति लगभग-10.43 करोड़ है, जो कि सम्पूर्ण जनसंख्या का 8.6 प्रतिशत है।

01 नवंबर 2000 को छत्तीसगढ़ राज्य का गठन हुआ। 2011 के जनगणना के अनुसार छत्तीसगढ़ की कुल जनसंख्या लगभग-25545198 है जिसमें अनुसूचित जनजाति की संख्या 7822902 है जो कुल जनसंख्या का लगभग-31.76 प्रतिशत है। यहॉ 42 विभिन्न जनजाति है, जिसमें अबूझमाड़िया, बैगा, बिरहोर, पहाड़ी कोरबा एवं कमार आदिम जनजाति समूह से है। बाद में छत्तीसगढ़ शासन द्वारा दो जनजाति भुंजिया तथा पण्डों को विशेष रूप से पिछडी जनजाति समूह के रूप में पहचान मिली है।

जन जातीय समाज प्राचीनतम समाज है। ये सर्वाधिक पिछड़े हुए हैं तथा सामाजिक, आर्थिक विकास की दृष्टि से इन समाजों को निम्नतम सोपानों में रखा जा सकता है। छत्तीसगढ़ के आदिवासी आज भी अतीत का प्रतिनिधित्व करते हैं। इनकी मान्याताएँ आदिम जातिगत परम्पराओं से जुड़े होने के कारण इनकी विशिष्टता बनी हुई है। जो स्वभाविक रूप से समाजश्शास्त्रीयों का ध्यान आकर्षित करता है।

हैं। 2011 की जनगणना के अनुसार छत्तीसगढ़ की कुल जनसंख्या का 31.62 प्रतिशत भाग जनजातियों का है

यह समुदाय अपने भौगोलिक परिवेश के कारण सभ्य समाज से पृथक एवं पिछड़ा हुआ है। मानव शास्त्र के शब्दकोष में "जनजाति'' को सामाजिक समूह माना गया है जो प्राय: निश्चित भू-भाग में रहते है। जिनकी स्वंय की भाषा, सभ्यता तथा सामाजिक संगठन होता है। "भारत की जनजातियों को विद्धानों ने अलग-अलग नामों से संबोधित किया है जहां रिजली, लेके, ग्रिगसन, सोबर्ट, टेलेण्ट्स सेजनिक, मार्टिन तथा ए.वी. ठक्कर ने "आदिवासी'' शब्द से संबोधित किया है। कुछ समाजषास्त्रीयों नें तथाकथित आदिवासी अथवा "पिछड़े हुए हिन्दू'' से संबोधित किया है। भारतीय संविधान के अनुच्छेद 342 के अन्तर्गत इन्हें अनुसूचित जनजाति कहा जाता हैं।

अध्ययन का महत्व:-

जनजातीय समाज प्राचीनतम समाज है ये सर्वाधिक पिछड़े हुए हैं तथा सामाजिक, आर्थिक विकास की दृष्टि से इन समाजों को निम्नतम सोपानों में रखा जा सकता है। छत्तीसगढ़ राज्य पिछड़े राज्यों में से एक है जहॉ के आदिवासी आज भी अतीत का प्रतिनिधित्व करते हैं। इनकी मान्याताएँ आदिम जातिगत परम्पराओं से जुड़े होने के कारण इनकी विशिष्टता बनी हुई है। जो स्वभाविक रूप से ध्यान आकर्षित करता है।

केन्द्र व राज्य सरकार द्वारा जनजातियों के सामाजिक, आर्थिक एवं बौद्धिक विकास हेतु अनेक विकास योजनाएं क्रियान्वित हो चुकी है तथा षिक्षा का विकास भी हुआ है।

जनजातीय समाज कृषि प्रधान होने के बावजूद कृषि के क्षेत्र में पिछड़े हैं। अधिकांष मात्रा में जनजातीयों के जोत अनार्थिक है। भूमि कम उपजाऊ है तथा आधुनिक तकनीकों का अभी तनाव एवं विषमता को बढ़ाया है। ऋणग्रस्ता के अभिषाप से भी ये मुक्त नहीं हुए हैं अतएव इन समस्याओं के समाधान के लिये जनजाति कल्याण हेतु सरकारी प्रयास एवं योजनाओं का अध्ययन महत्वपूर्ण हो जाता है।

उद्देश्यः-

1. वर्तमान परिस्थिति में जनजाति महिलाओं के सामाजिक स्तर (आय, शिक्षा, स्वास्थ्य एवं रोजगार) का अध्ययन।
2. विभिन्न योजनाओं के फलस्वरूप बदलाव का अध्ययन।
3. जनजाति महिलाओं के विकास के सकारात्मक प्रभावों का अध्ययन।
4. जनजाति की महिलाओं में आर्थिक स्वतंत्रता ज्ञात करना।
5. जनजाति की महिलाओं में शिक्षा के स्तर का पता लगाना।
6. जनजाति की महिलाओं में परम्परा, धर्म एवं लोक दृष्टि का अध्ययन करना।
7. छत्तीसगढ़ शासन द्वारा चलाई गयी योजना का प्रचार प्रसार।

पूर्व अध्ययन की समीक्षाः-

किसी भी प्रस्तावित शोध कार्य की रूपरेखा बनाने के पूर्व उससे संबंधित पूर्ववर्ती शोधकार्य का अध्ययन आवश्यक होता है। ऐसे अध्ययन से शोधकार्य के लिए आवश्यक दिशा निर्देशन प्राप्त होते है। इसी परंपरा में प्रस्तावित शोधकार्य से संबंधित पूर्ववर्ती शोधकार्य का अध्ययन किया है।

चन्द्रकला हाटे: (1969) 'Changing status of women in Post Independence India' इस शोधकृति में महिलाओं की परिवर्तित सामाजिक स्थिति के विभिन्न पक्षों का अध्ययन किया गया है।

डॉ. मिश्रा रूप नारायण (1972) के द्वारा अबुझमाड़िया पर शोधपरक अध्ययन किया गया है। प्रायः सभी अध्ययन, जनजातियों की सामाजिक संरचना और उनके आर्थिक, धार्मिक, राजनीति एवं सांस्कृतिक जीवन को केंद्रित कर अध्ययन किया गया है।

मजूमदार प्रो. डी.एन. (1973) ने अपना अध्ययन किया और पाया कि जनजाति महिलाएं बहुत अधिक मेहनत करती हैं, इसके बाद भी समाज में उनकी स्थिति अच्छी नहीं है। उन्हें अपने परिवार तक ही सीमित रहना पडता है। परिवार की ओर से उन पर अनेक प्रकार के बंधन लगाये जाते हैं, इस कारण जागरूक नहीं हो पाते हैं। उनमें साक्षरता का प्रतिशत् बहुत कम पाया जाता है।

रानाडे (1975) और जोशी (1977) ने बस्तर जिला के समीप महिलाओं के दैनिक मजदूरी संबंधी अध्ययन में पाया कि काफी अधिक संख्या में महिलाए खनिज कार्य, फैक्ट्री, भवन निमार्ण और कई घरेलू सेवाओं में लगी हुई है। ठेकेदार इन्हें सुबह से ट्रकों में भरकर कार्यस्थल में ले जाते हैं। जहॉ पर एक तरह के कार्यो के लिए भी इन्हे पुरूषों से कम मजदूरी मिलती है। निर्माण कार्यो के लिए ठेकेदार 13-35 आयु समुह की वयस्क और स्वस्थ्य महिलाओं को प्राथमिकता देते हैं, इनमें से बहुत से महिलाएं प्रवासी अशिक्षित व निम्न जाति समुदाय से संबंध्द होती है।

डॉ. डी. एन. मजूमदार ने अपने अध्ययन "Race and culture of India'' Asia publishing house Bombay 1958 में जनजातीय समाज एवं उनकी संस्कृति की विशेषता बताते हुए परिवर्तनों को दर्शाया है।

डॉ. हरिशचन्द्र उप्रेती ने अपने अध्ययन "भारतीय जनजातियाँ'' रचना केन्द्र के अध्ययन से पता चलता है कि पाश्चात्य सभ्यता एवं संस्कृति का जनजातीय समाज पर काफी प्रभाव पड़ा। परम्परागत जाति पाँति के बंधन कमजोर पड़ने लगे हैं। नये व्यवसायों को ये अपनाने लगे है।

श्री चंद जैन ने अपने अध्ययन "आदिवासियों के बीच'' किताब घर 1980 गांधी दिल्ली में पाया है कि स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद जन जातीय समाज में अधिक गतिशीलता पायी गई है।

जी.एस.घुरवे ने अपने अध्ययन The schedule cast tribe पापुलर प्रकाशन बाम्बे 1963 में जनजातीय समाज की विशेषताओं पर प्रकाश डाला है। उनकी उत्पत्ति एवं विकास का भी उल्लेख किया है।

मजूमदार एवं मदान ने सामाजिक मानव शास्त्र परिचय पब्लिशिंग हाउस दिल्ली में भारत में पायी जाने वाली जनजातियों का परिचयात्मक एवं विश्लेषणात्मक विवेचन प्रस्तुत किया है।

श्री श्यामाचरण दुबे ने अपने अध्ययन मानव और संस्कृति राजकमल प्रकाशन प्रा. लि. नई दिल्ली में जनजातीय समाज के परम्परागत पक्ष को बताते हुए आधुनिक प्रक्रियाओं का उन पर प्रभाव एवं परिवर्तन को बताया है।

सिंह एण्ड सिंह (1981) आदिवासी किसानों की जरूरतों के क्रम में मुख्य क्षेत्रों का सुझाव दिया। आदिवासियों में प्रशिक्षण की जरूरत है कृषि पशुपालन, मुर्गी पालन, अनाज के भण्डारण, विपणन के उत्पादन और गैस संयंत्र, गोबर आदि में कुशल प्रशिक्षण की आवश्यकता पड़ती है।

डॉ. ब्रम्हदेव शर्मा ने अपने अध्ययन "आदिवासी विकास'' मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी भोपाल 1982 में आदिवासी विकास की यथार्थता पर प्रकाश डाला है कि किस प्रकार जनजातीय समाज विभिन्न क्षेत्रों में विकास की ओर अग्रसर है।

श्रीवास्तव (1986) सिंहभूम में आई.आर.डी.पी. के प्रोग्रामर (बिहार) के प्रभाव का अध्ययन किया। साउथटर्न मध्य की मुरिया जनजातियॉ की औसत घरेलू आय, वन उत्पादों और श्रम और अन्य निर्माण गुमनाम क्रमशः 78.77, 11.54 और 7.61 प्रतिशत था।

शोध परिकल्पनाः-

परिकल्पना वैज्ञानिक पद्धति का एक आवश्यक चरण है। परिकल्पना एक विचार मात्र होता है, जिसकी सत्यता प्रमाणित होना शेष होती है।

अध्ययन क्षेत्र के जनजातियों में अभी भी विकास के प्रति अभी भी जागरूकता का अभाव है, क्षेत्र में संसाधनों की कमी है जिसके कारण उनका सर्वांगीण विकास नहीं हो पा रहा है।

1. जनजाति महिलाओं की वर्तमान सामाजिक, आर्थिक स्थिति में सुधार हुआ है।
2. जनजाति महिलाओं में अपने अधिकारों एवं कर्त्तव्यों के प्रति चेतना तथा सामाजिक बुराईयों के प्रति जागरूकता बढ़ी है।
3. जनजाति महिलाओं की शैक्षणिक स्थिति में परिवर्तन।
4. जनजाति की अधिकांश महिलाएं सामाजिक, आर्थिक स्थिति ठीक न होने के कारण गरीबी रेखा से नीचे जीवन-यापन कर रहे हैं।
5. विकास संबधी योजनाओं की सही जानकारी के अभाव में जनजाति समाज को शासन की योजनाओं का उचित लाभ नहीं मिल पा रहा है।
6. जनजाति विकास के योजनाओं की जानकारी के प्रति अभिरूचि का अभाव है। परिणामस्वरूप अधिकांश जनजाति जनसंख्या गरीबी में जीवन जीने को विवश है।
7. जनजाति विकास योजनाओं के प्रति जागरूकता का अभाव है।

विधि तंत्रः-

प्रस्तुत शोध में तथ्यों का संकलन प्राथमिक एवं द्वितीयक स्त्रोत विधियों द्वारा किया गया।

देव निदर्शन-

सामाजिक अनुसंधान में निदर्शन प्राप्त करने की अनेक निदर्शन प्रविधियॉ प्रचलित है, परंतु प्राप्त निदर्श अनुसंधानकर्त्ता के चयन किये जाने की प्रक्रिया में वैषयिकता और पूर्वाग्रह से पूर्णतः मुक्त हो, इस दृष्टि से दैव निदर्शन ही सर्वाधिक उपयुक्त माना जाता है। इसका कारण यह है कि दैव निदर्शन में इकाईयों का चुनाव शोधकर्त्ता की इच्छा या अनिच्छा पर निर्भर नहीं करता वरन वह दैव या संयोग पर निर्भर होता है। प्रत्येक इकाई को चुने जा सकने का समान अवसर प्राप्त होता है।?

साक्षात्कार अनुसूचि-

अधिकत्तर जनजाति अशिक्षित थें इसलिए साक्षात्कार अनुसूची ही उपयुक्त विधि प्रतीत हुई, अतएव शोधकर्त्ता ने विभिन्न पक्षों पर जानकारी एकत्र करने के लिए साक्षात्कार अनुसूचि बनाई एवं उसकी सहायता से तथ्यों का संकलन किया।

अवलोकन

उपरोक्त विधियों के अतिरिक्त शोधकर्त्ता को जब कभी भी अवसर मिला उन तथ्यों को अवलोकन के माध्यम से एकत्र किया, जिसकी जानकारी अनुसूची के माध्यम से प्राप्त नहीं हो सकी थी। इसके साथ ही साथ ऐसे उत्तर जो अनुसूची के माध्यम से मिल थे, उसकी जांच शोधकर्त्ता ने अवलोकन के माध्यम से की।

द्वितीयक स्त्रोत

प्राथमिक स्त्रोत के अतिरिक्त विभिन्न लिखित सामग्रियों का संकलन भी शोधकर्त्ता द्वारा किया गया। सरकारी डाक्यूमेन्टस, आंकड़ें, शोध से संबंधित पत्रिकाएँ, समाचार पत्रों में उपलब्ध शोध से सम्बद्ध लेख, शोध पत्रिकाएँ, जरनल्स इत्यादि उन सभी का उपयोग शोध के लिए किया गया है।

अध्ययन क्षेत्र का परिचयः-

छत्तीसगढ़ भारत का एक राज्य है। इसका गठन 01 नवम्बर 2000 को हुआ था और यह भारत का 26वां राज्य है। पहले यह मध्य प्रदेश के अन्तर्गत था। जब राज्य का गठन हुआ तब कांग्रेस पार्टी से माननीय अजीत जोगी राज्य के पहले मुख्यमंत्री बने थे।

डॉ० हीरालाल के मतानुसार छत्तीसगढ़ 'चेदीशगढ़' का अपभ्रंश हो सकता है। कहते हैं किसी समय इस क्षेत्र में 36 गढ़ थे, इसीलिये इसका नाम छत्तीसगढ़ पड़ा। किंतु गढ़ों की संख्या में वृद्धि हो जाने पर भी नाम में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। "छत्तीसगढ़" वैदिक और पौराणिक काल से ही विभिन्न संस्कृतियों के विकास का केन्द्र रहा है। यहाँ के प्राचीन मन्दिर तथा उनके भग्नावशेष इंगित करते हैं कि यहाँ पर वैष्णव, शैव, शाक्त, बौद्ध संस्कृतियों का विभिन्न कालों में प्रभाव रहा है। एक संसाधन संपन्न राज्य, यह देश के लिए बिजली और इस्पात का एक स्रोत है, जिसका उत्पादन कुल स्टील का 15: है। छत्तीसगढ़ भारत में सबसे तेजी से विकसित राज्यों में से एक है।

जनगणना 2011 के अनुसार छत्तीसगढ़ राज्य की कुल जनसंख्या 2.5 करोड़ है। इनमें 59.3 लाख लोग शहर में निवास करते हैं जबकि 1.9 करोड़ लोग गांवों में जीवन बसर कर रहे हैं।

छत्तीसगढ़ में कई जातियां और जनजातियां हैं। राज्य की कुल जनसंख्या में से 30.62 प्रतिशत (78.22 लाख) जनसंख्या अनुसूचित जनजातियों की है। अघरीया, गोंड, कंवर, बिंझवार, उरांव, हल्बा, भतरा, सवरा आदि प्रमुख जनजातियॉ है। बूझमाड़िया, कमार, बैगा, पहाड़ी कोरवा तथा बिरहोर राज्य के विशेष पिछड़ी जनजातियाँ हैं। इनके अतिरिक्त अन्य जनजाति समूह भी है, जिनकी जनसंख्या अपेक्षाकृत कम है।

जनजाति विकास हेतु राज्य सरकार की योजनाएँ एवं नीतियॉः-

राज्य में आदिमजाति के विकास के लिए एक विषेष पहल कर माइक्रो प्लानिग को अधिक असरदार बनाने विकास प्रक्रिया में जनप्रतिनिधियों को एक मंच में लाने के लिए वर्ष 2004-05 में क्रमशः बस्तर एवं दक्षिण क्षेत्र आदिवासी विकास प्राधिकरण, सरगुजा एवं उत्तर क्षेत्र आदिवासी विकास प्राधिकरण का गठन किया गया है।

दोनों प्राधिकरणों में आदिम जाति तथा अनुसूचित जनजाति विकास से संबंधित महत्वपूर्ण विभागों के मंत्री क्षेत्र के सांसद, विधायक एवं जिला पंचायतों के अध्यक्ष को प्राधिकरण का सदस्य बनाया गया। प्राधिकरण की बैठकों में संबंधित विभाग के वरिष्ठ अधिकारियों एवं क्षेत्र के अन्य जनप्रतिनिधियों को विशेष आंमत्रित के रूप में बैठक मं आहुत किया जाता है।

छत्तीसगढ़ में कुल 42 जनजातियॉ पाई जाती है। इन जनजातियों के विकास के लिए यहॉ की सरकार ने अनेक योजनाओं की शुरूआत की है। इसके कल्याण हेतु आयुक्त आदिम जाति कल्याण विकास विभाग द्वारा विकासशील कार्यक्रम संचालित किये जा रहे है। जनजातियों के आर्थिक सामाजिक कल्याण हेतु संचालित योजना निम्नलिखित है-

- मुख्यमंत्री आदिवासी चरण सम्मान निधि योजना
- मुख्यमंत्री ज्ञान प्रोत्साहन योजना
- देवगुड़ी योजना
- पोस्ट्र मैट्रिक छात्रवृत्ति योजना
- पंडित जवाहर लाल उत्कर्ष योजना
- वन भूमि अधिकार पत्र
- सुराजीव गॉव योजना
- महेन्द्र कर्मा तेन्दूपत्ता सामाजिक सुरक्षा योजना
- राजीव गॉधी किसान न्याय योजना
- वनधन विकास योजना
- शहीद वीर नारायण सिंह स्वालंबन योजना
- स्वास्थ्य योजना
- हाट बाजार योजना
- सौर सुफला योजना
- स्वर्गीय भॅवर सिंह पोर्ते स्मृति आदिवासी सेवा सम्मान पुरूस्कार
- शहीद वीर नारायण सिंह स्मृति संमान पुरूस्कार
- नर्सिंग पाठ्यक्रम मे निःशुल्क अध्ययन सुविधा
- हास्पिटलिटी एवं होटल मैनेजमेंट प्रषिक्षण
- निःशुल्क वाहन चालक प्रषिक्षण योजना

मुख्यमंत्री आदिवासी परख सम्मान निधि योजना-

26 जनवरी गणतंत्र दिवस के अवसर पर आदिवासी समाज की संस्कृति और पर्वों की परंपरा के संरक्षण के लिए इस योजना की घोषणा की गई। इस योजना के लिए सत्र 2022-23 के बजट में 5 करोड़ रूपये का प्रावधान किया गया है। इस योजना के तहत 1840 वनवासी ग्राम पंचायतों को 5-5 हजार रूपये की अनुदान राशि जारी की गई है।

मुख्यमंत्री ज्ञान प्रोत्साहन योजना-

अनुसूचित जनजातियों के मेधावी विद्यार्थियों जिनका 60 प्रतिशत से अधिक अंक है ऐसे जनजाति विद्यार्थियों को 15 हजार रूपये की प्रोत्साहन राशि दी जायेगी। जिससे इन विद्यार्थी का आगे शैक्षणिक गतिविधियों के लिए कोई रूकावट न आये।

आदिवासी स्वरोजगार-

आदिवासी बेरोजगार युवक युवतियों को जिनकी उम्र 18 से 45 वर्ष तक हो उन्हें आजीविका चलाने के लिए लोन योजना लागू किया गया है। इसके अंतर्गत 20 हजार से 10 लाख तक लोन दिया जाता है तथा इसके 10 हजार रूपये तक अनुदान राशि भी प्रदान किया जा रहा है।

देवगुड़ी योजना-

आदिवासियों के पूजा व श्रद्धा स्थल के निर्माण व मरम्मत हेतु 1 लाख प्रदान की जाती है। आदिवासी क्षेत्रों मे 400 देव गुड़ी मरम्मत कार्य हेतु 400 लाख रूपये स्वीकृत किये गये है।

पोस्ट मैट्रिक छात्रवृत्ति योजना-

हास्टल में रहकर पढ़ने वाले जनजातीय छात्र/छात्राओं को प्रतिवर्ष 3800 रूपये तथा जो छात्र/छात्राएं हास्टल में नहीं रहते उन्हें 2250 रूपये पोस्ट मैट्रिक छात्रवृत्ति प्रदान किया जा रहा है।

पंडित जवाहर लाल उत्कर्ष योजना-

इस योजना के अंतर्गत प्रतिभावान आदिवासी जनजातियों के बच्चों का चयन कर उन्हें नि:शुल्क उच्च शिक्षा तकनीकी शिक्षा प्रदान किया जा रहा है।

वनाधिकार पत्र-

छ0ग0 शासन द्वारा जनजातीय परिवारों को वनभूमि का आंबाटन किया जा रहा है। अब तक 10 लाख 60 हजार 738 हैक्टेयर क्षेत्र मे वनवासी ग्रामीण का वन संसाधन का अधिकार प्राप्त हुआ है। वनाधिकार पट्टा धारकों के जीवन को खुशहाल बनाने के लिए राज्य शासन द्वारा भूमि समतलीकरण, मेड़बंधन, सिंचाई सुविधा के साथ खाद बीज एवं कृषि उपकरणों से संबंधित स्वसहायता उपलब्ध कराई जा रही है। तेंदूपत्ता और लघुवनोपज संग्रहण के जरिये वनवासियों की आय को बढ़ाने के लिए 139 वनधन केन्द्रों का संचालन राज्य शासन के द्वारा किया जा रहा है।

सुराजीव गॉव योजना-

इस योजना के तहत आदिवासी गॉव मे बने गोठानों वनक्षेत्रों मे लघु वनोपजों एवं वनऔषधियों से तैयार उत्पादन को वन विभाग के संजीवनी भंण्डार के साथ-साथ दुकानों से भी की जा रही है।

महेन्द्र कर्मा तेन्दूपत्ता सामाजिक सुरक्षा योजना-

इस योजना के तहत जनजातीयो के 12 लाख 50 हजार परिवारों को सामाजिक सुरक्षा कवच प्राप्त है। इसके अलावा कोदो, कुटकी और रागी जैसी लघु धान्य फसलों को भी समर्थन मूल्य पर खरीदने की घोषणा शासन द्वारा किया गया है।

राजीव गॉधी किसान न्याय योजना-

इस योजना के अंतर्गत खरीफ की सभी फसलों उद्यानिकी फसलों, वृक्षारोपण करने वाले कृषकों को लाभान्वित किया जा रहा है। इस योजना के द्वारा किसानों की बोनस दिया जा रहा है। उत्पादन बढ़ाने व उद्यानिकी व वृक्षारोपणी को बढ़ावा देने के लिए कृषक परिवारों व भूमिहीन किसानों को 6000 हजार रूपये दिया जा रहा है।

वनधन विकास योजना-

सरगुजा, जशपुर, कोरिया, बलरामपुर, सूरजपुर एवं जीपीएम में वन और विशिष्ट पर्यावरण के लिए जाना जाता है। साल बीज, महुआ, तेन्दूपत्ता क साथ उच्च गुणवत्ता के वनोपज पाये जाते है। इस योजना के तहत आदिवासी महिलाओं को सरकार वनधन विकास योजना के माध्यम से महिला स्वसहायता समूहों को झाड़ू बनाने तथा वनोपज से संबंधित नि:शुल्क प्रशिक्षण देकर उन्हें स्वालंबी बनाने का प्रयास कर रही है।

हाट बाजार योजना-

छ0ग0 का आदिवासी ग्रामीण जीवन पूरी तरह से प्रकृति पर निर्भर रहा है, देवी देवताओं पर विश्वास इतना की कितनी भी बड़ी विपक्ष आ जाये बैगा पहले और डॉक्टर बाद में या डॉक्टर के पास तो जाना ही नहीं। सरगुजा संभाग पूरी तरह प्राकृतिक वन संसाधनों से आच्छादित है। सरगुजा संभाग में उरॉव जनजाति बहुतायत मात्रा में रहती है। और इनमें ज्यादातर कृषि एवं अपने पुरखों के पारंपरिक कार्यों में ही लिप्त है।

आदिम समुदाय भले ही जंगलों एवं पहाड़ों को आमतौर पर न छोड़े लेकिन बाजार करने के लिए वो नियमित रूप से गॉवों में आते ही है। यही वजह है कि छ0ग0 शासन द्वारा 02 अक्टूबर 2019 को महात्मा गॉधी की 150 वीं जयंती के उपलक्ष्य में हाट बाजार क्लिनिक के जरिए इन तक पहुँच रही है।

जीपीएम जिले में 38 हाट बाजार क्लिनिक का संचालन किया जा रहा है। वर्तमान मे 35 साप्ताहिक हाट बाजारों में 5 एमएमयू के द्वारा स्वास्थ्य विभाग की टीम प्रत्येक विकासखं डमें हाटबाजार स्वास्थ्य सुविधा उपलब्ध करा रही है। 01 अप्रैल 2022 से अभी तक कुल 35 हजार 675 मरीजों ने स्वास्थ्य परीक्षण करवाया तथा नि:शुल्क दवा वितरण का लाभ लिया। इस समयावधि में योजना के अंतर्गत एमएमयू वाहन 538 साप्ताहिक हाट बाजारों में पहॅचे। इस दौरान 33 जरूरत मंदो लोगों को बेहतर स्वास्थ्य हेतु जिला अस्पताल सेंटर किया गया। नेत्र परिक्षण उपचार एवं दंत चिकित्सक द्वारा दॉतों से संबंधित बीमारियों की भी जॉच की जा रही है। बेहतर चिकित्सा परामर्ष नि:शुल्क दवा वितरण के साथ ही गंभीर मरीजों को उचित इलाज के लिए उच्च चिकित्सीय संस्थाओं में रेफर भी किया जा रहा है।

स्वास्थ्य योजना-

छ0ग0 शासन द्वारा आदिवासी क्षेत्रों में चलायी जा रही नि:स्वास्थ्य शिविर के माध्यम से अनेक रोगों का उपचार किया जा रहा है। कुपोषण के षिकार बच्चों के लिए पोषण आहार तथा अनेक स्वास्थ्यवर्धक कार्यक्रमों व इलाज के द्वारा इन जनजातियों के स्वास्थ्य से संबंधित कार्य किये जा रहे है।

सौर सुजला योजना-

इसे कुसुम सोलर योजना भी कहते है। भारत सरकार द्वारा चलायी जा रही योजना है जिसका उद्येश्य भारत के किसानों को सोलन पंप लगाकर उनके कृषि व्यवसाय को बेहतर बनाना है। इस योजना के अंतर्गत किसानों को सस्ते दामों पर सोलर पंप लगाने की सुविधा दी जाती है। जो उनकी कृषि खेती के लिए जल सप्लाई की समस्याओं को हल करता है। इस योजना के तहत, किसान कुल लागत का मात्र 10 प्रतिशत लगाकर सोलर पैनल लगवा सकते है।

इस योजना मे किसानो को सब्सिडी के द्वारा सोलर पंप दिलवाया जा रहा है। यह सब्सिडी अलग अलग राज्यों में वहॉ के राज्य के अनुसार दिया जाता है। छ0ग0 सोलर पंप के लिए 75 प्रतिशत सब्सिडी किसानों को दी जाती है।

छत्तीसगढ़ सरकार द्वारा ऐसी भी एक योजना का शुरूआत 2016 मे की गयी है। जिसका नाम सौर सुफला योजना रखा गया है। इस योजना को राज्य सरकार के ऊर्जा विभाग के तहत छत्तीसगढ़ राज्य अक्षय ऊर्जा विकास एजेंसी के माध्यम से लागू किया गया। इस योजना का सबसे खास बात यह है कि राज्य के सरकार की बोरबेल या पंप योजना लाभ उठा रहे किसान वह किसान भी इस योजना का लाभ उठा सकते है।

इस योजना का मुख्य उद्येश्य रियायती दर पर किसानों को सोलर पंप दिलवाना इस योजना के शुरू होने से किसान को अपनी भूमि पर खेती करने मे काफी सहायता मिलती थी और इससे ग्रामीण विकास को भी काफी मजबूती मिली इस योजना में सरकार की ओर से दिया जाने वाला सौर ऊर्जा पंप की क्षमता 3 एचपी से 5 एचपी है। छ0ग0 सरकार द्वारा सौर सुफला योजना के अंतर्गत अभी तक 100000 किसानों को सोलर पंप का वितरण किया गया है। इनमें नक्सल प्रभावित और आदिवासी क्षेत्रों के किसान शामिल है।

शहीद वीरनारायण सिंह स्वालंबन योजना-

अनुसूचित वर्ग के असहाय साधन विहीन व्यवसाय के इच्छुक को प्रशिक्षित कर आर्थिक रूप से सक्षम/समर्थ बनाने (आर्थिक उत्थान) हेतु यह योजना है। छत्तीसगढ़ राज्य अत्यावसायी सहकारी वित एवं विकास निगम वर्तमान मे विभिन्न राष्ट्रीय निगमों द्वारा प्रायोजित योजनाए ''राज्य चौनेलाईजिंग'' के रूप में संचालित करता है।

छ0ग0 राज्य की प्राधिकरण से वित घोषित शहीद वीर नारायण सिंह स्वालंबन योजना निगम द्वारा क्रियान्वित की जा रही है। प्राधिकरण से प्राप्त राशि से अनुसूचित जनजाति वर्ग के लोगों को स्वालंबी बनाने हेतु इस योजना का संचालित की जा रही है।

उद्येश्य- आर्थिक रूप से पिछड़े हुये अनुसूचित जनजाति वर्ग के ऐसे असहाय व्यक्ति जो स्वंय का व्यवसाय/उद्योग स्थापित करने के इच्छुक है किन्तु उनके पास कोई व्यावसायिक पृष्ठभूमि नहीं है अथवा स्वयं के साधन एवं पूॅजी नहीं है, उन्हें आर्थिक योजनाओं मे प्रशिक्षण, साधन एवं पूॅजी उपलब्ध कराते हुये व्यवसाय में स्थापित कराना है ताकि वे समाज की मुख्य धारा से जुड़े और व्यावसायिकता की ओर प्रोत्साहित हो।

कार्यक्षेत्र- सूरजपुर, बलरामपुर, कोरिया, जशपुर स्वरोगार स्थापित करने हेतु दुकान निर्माण के लिए अचलपूॅजी एवं व्यवसाय संचालन के लिए कार्यशील पूॅजीकरण स्वरूप में उपलब्ध करायी जायेगी। व्यवसाय के इच्छुक चयनित हितग्राही को नि:शुल्क प्रशिक्षण दिया जायेगा।

निर्माण एजेंसी के रूप में हितग्राही स्वयं या कलेक्टर के निर्णयनुसार हितग्राही की सहमति से ग्रामीण यांत्रिकी सेवा लोक निर्माण विभाग हाउसिंग बोर्ड आदिम जाति विकास विभाग आदि निर्माण एजेंसी हो सकते है। अनुसूचित जनजाति बाहुल्य ग्रामों के 10-15 किलोमीटर के दायरे में बसे अनुसूचित जनजाति बाहुल्य जनसंख्या वाले ग्रामों के हितग्राहियों को लाभ दिया जा सकेगा। न्यूनतम दुकान की साईज 150 वर्गफुट होगी।

वित्त व्यवस्था-

स्वरोजगार स्थापना करने हेतु दुकान आंबटन करना पर्याप्त नहीं होगा, बल्कि उन्हें साज-सज्जा कार्यशील पूॅजी आदि हेतु भी ऋण की सहायता आवष्यक होगी। इस हेतु कुल राशि रू0 100000 के स्थान पर रूपये 150000 तक में योजना के अनुरूप 4 प्रतिशत वार्षिक ब्याज की दर पर ऋण के निर्धारित मासिक किस्त का 5 वर्ष की अवधि में ब्याज सहित हितग्राही को दिया जायेगा। हितग्राही का चयन छ0ग0 शासन द्वारा गठित चयन समिति द्वारा किया जायेगा। चयनित हितग्राही को व्यावसायिक प्रशिक्षण 12 सप्ताह तक दिया जायेगा। इस अवधि में प्रशिक्षण मानदेय राशि 2000 दो हजार प्रति प्रशिक्षणार्थी दिया जायेगा।

निष्कर्ष:-

छत्तीसगढ़ सरकार द्वारा जनजातियों के विकास हेतु अनेक योजनाओं का संचालन किया जा रहा हैं जिसका लाभ छ.ग. के जनजाति समाज के लोंगों को प्राप्त हो रहा है। जनजाति समाज कल्याणकारी योजनाओं का लाभ उठा रहे है। कल्याणकारी योजनाओं के प्रति जनजाति समाज में जागरूकता का प्रसार हुआ है। अतएव यह कहा जा सकता है कि जनजाति कल्याण योजनाओं के क्रियान्वयन से छ.ग. जनजाति समाज का विकास सतत रूप से हो रहा है।

संदर्भ सूची:-

भट्ट एस.सी. एण्ड भार्गव: 2009-लैण्ड पिपुल आफ इण्डिया स्टेट बैलूड कल्पज पब्लिकेशन नई दिल्ली

विद्यार्थी एल.पी.: 2008-छ.ग. की आदिम जनजाति भाग-4

डॉ. डी.एस. बघेल:-जनजातीय समाज

Dasgupta, Aparna (1993)–"A down in the lives of tribals of sankargarh". Farm digest, PP 21-26.

Narayan, S. (1986)–"Dimensions of development in tribal bihar" XVI + 89 PP; tab., Tribal studies of India series. No. T 119, OQEH. New Delhi India; Inter India Publications.

Shrivastva, R.S. (1986) "A sociological study of labor among the muriya Tribal's of Bastar Distt. Of M.P." Bulletin of the tribal's, Bhopal, vol. XIV, No. 1 & 2, PP 27-44.

Singh, A. and Singh, S. (1981) Tranining needs of tribal farmers Ind. Jour. Of Extn. Edu. 17 (3&4); 81-88.

Das Gupta, A. (1993) A down in the lives of tribals of sankargarh. Farms digest pp: 21-26.

Shrivastava, R.S. (1986) A sociological study of labour among the muriya tribals of bastar district of M.P. Bulletin of the Tribals, Bhopal 14(1-2):pp 27-44.

Mohanty, B.K, and Sahu, P.N. (1997) Adoption of improved agricultural practices by tribal farmers of keonjhar. Agri. Extn. Review, July-Aug. 9(4): 18-19.

Identification and use of ITK's in relation of recommended agriculture practices by tribal farmers of surguja district of Madhya Pradesh, M.Sc. (Ag), Thesis, IGAU, Raipur (C.G).

Sharma, R. Mishra, Roop Narain (1998) The Abhu jhmarhi yas : Their socio – economic structure"(An unpublished Ph.D. Thesis) Ravishanker university, Raipur.

रानाडे (1975) और जोशी (1977) 1972. ''बस्तर जिले के दंतेवाड़ा के समीप महिलाओं की दैनिक मजदूरी संबंधी अध्ययन''। डॉ.ज्योत्सना बामट और डॉ. के.एल.कामट

Chandrakala Hatey: 'Changing status of women in Post Independence (1969) India'

परीक्षा और मूल्यांकन में नवाचार: खुली किताब परीक्षा और मूल्यांकन प्रणाली

प्रो० ममता दीक्षित

शोध निर्देशिका, महिला महावि० (पी०जी०) कॉलेज, कानपुर

ममता देवी

शोध छात्रा, (शिक्षाशास्त्र) महिला महावि० (पी०जी०) कॉलेज, कानपुर

परिचय

आज के तेजी से बदलते शिक्षा के क्षेत्र में शिक्षण और परीक्षा प्रणाली में नवाचार की आवश्यकता की अनुभूति की जा रही है। जैसे-जैसे तकनीकी और वैश्विक प्रतिस्पर्धा बढ़ती जा रही है शिक्षा प्रणाली में सुधार की आवश्यकता भी उतनी ही महत्वपूर्ण होती जा रही है। इस परिप्रेक्ष्य में खुली किताब परीक्षा एक महत्वपूर्ण नवाचार के रूप में उभर कर सामने आया है। यह पारंपरिक परीक्षा की स्मरणशक्ति के बजाय उनके विश्लेषणात्मक और समस्या समाधान कौशल का आंकलन करने पर ध्यान केंद्रित करती है। पारंपरिक परीक्षाओं में छात्र सीमित समय में अपने स्मरण शक्ति के आधार पर उत्तर देते हैं, जो सामान्यत: उनकी वास्तविक समझ और समस्या समाधान करने में असमर्थ रहती है। इसके विपरीत खुली किताब परीक्षा छात्रों को उनकी पाठ पुस्तकों नोट्स और संदर्भ सामग्री का उपयोग करने की अनुमति देता है, ताकि वह समस्याओं का विश्लेषण कर सकें और अपने ज्ञान को व्यावहारिक रूप से लागू कर सकें।

यह प्रणाली नवाचार की एक उत्कृष्ट मिसाल है, जो छात्रों द्वारा गहन विचार को महत्वपूर्ण रूप से विश्लेषण करने और जटिल समस्याओं को हल करने की क्षमता प्रदान करता है। खुली किताब परीक्षा का मुख्य उद्देश्य है सिर्फ तथ्यात्मक जानकारी को रटने से बचना है और छात्रों को उनकी वास्तविक क्षमता का प्रदर्शन करने का अवसर प्रदान करना है। यह न केवल छात्रों को गहराई से सोचने और समाधान खोजने की दिशा में प्रोत्साहित करती है बल्कि शिक्षा प्रणाली को भी अधिक सार्थक और प्रभावशाली बनती है।

खुली किताब परीक्षा का सिद्धांत

खुली किताब परीक्षा सिद्धांत के मुख्य तत्व निम्नलिखित हैं:-

1. संदर्भ सामग्री का उपयोग: खुली किताब परीक्षा में छात्रों को अपनी किताबें, नोट्स, और अन्य संदर्भ सामग्री का उपयोग करने की अनुमति होती है। इसका उद्देश्य यह है कि छात्र वास्तविक जीवन की समस्याओं को हल करने में संदर्भ सामग्री का सही उपयोग कर सकें।
2. विश्लेषणात्मक और सृजनात्मक सोच: इस परीक्षा में प्रश्न आमतौर पर ऐसे होते हैं जिनका हल करने के लिए केवल तथ्यों को याद करने की आवश्यकता नहीं होती, बल्कि छात्रों को उनके ज्ञान का विश्लेषण और व्याख्या करने की आवश्यकता होती है। इससे उनकी विश्लेषणात्मक और सृजनात्मक सोच का विकास होता है।
3. गहन समझ का विकास: खुली किताब परीक्षा के तहत, छात्रों को विषय की गहन समझ विकसित करने के लिए प्रेरित किया जाता है। यह उन्हें विचार करने, सवाल पूछने, और ज्ञान को विभिन्न संदर्भों में लागू करने का अवसर प्रदान करता है।
4. समस्या समाधान: इस प्रणाली में छात्रों को वास्तविक दुनिया की समस्याओं का सामना करने और उनका समाधान करने का अनुभव मिलता है। इससे उन्हें ज्ञान को व्यवहार में लाने की क्षमता विकसित होती है।
5. सहयोग और संवाद: खुली किताब परीक्षा अक्सर सहयोगी लर्निंग को बढ़ावा देती है। छात्र आपस में चर्चा कर सकते हैं और एक-दूसरे से सीख सकते हैं, जिससे उनकी समझ और विचारों का आदान-प्रदान होता है।
6. सकारात्मक मनोवैज्ञानिक प्रभाव: खुली किताब परीक्षा में छात्रों को अपने ज्ञान का उपयोग करने का अवसर मिलता है, जो उन्हें आत्मविश्वास प्रदान करता है। यह तनाव को कम करने में भी सहायक हो सकती है, क्योंकि छात्रों को लगता है कि उन्हें सब कुछ याद नहीं करना है।

नवाचार की आवश्यकता

नवाचार (Innovation) का अर्थ है नई और बेहतर सोच, प्रक्रियाएं, उत्पाद, या सेवाएं विकसित करना जो किसी समस्या को हल करने, कार्यप्रणाली में सुधार करने, या सामाजिक-आर्थिक विकास में योगदान करने में सहायक होते हैं। नवाचार की आवश्यकता विभिन्न कारणों से होती है:-

1. प्रतिस्पर्धात्मकता बढ़ाना: व्यवसाय और संगठनों को बाजार में प्रतिस्पर्धा में बने रहने के लिए नवाचार की आवश्यकता होती है। यह उन्हें नए उत्पादों और सेवाओं के माध्यम से ग्राहकों को आकर्षित करने में मदद करता है।
2. परिवर्तनशील आवश्यकताएं: समाज की आवश्यकताएं और प्राथमिकताएं लगातार बदलती रहती हैं। नवाचार की आवश्यकता होती है ताकि उत्पाद और सेवाएं इन परिवर्तनों के अनुरूप हों और ग्राहकों की अपेक्षाओं को पूरा कर सकें।
3. संसाधनों का अधिकतम उपयोग: नवाचार प्रक्रियाओं और तकनीकों में सुधार करके संसाधनों का अधिकतम उपयोग करने में मदद करता है। इससे लागत कम होती है और उत्पादकता बढ़ती है।
4. समस्याओं का समाधान: विभिन्न क्षेत्रों में नई चुनौतियों का सामना करने के लिए नए समाधान खोजने की आवश्यकता होती है। नवाचार इन समस्याओं को हल करने के लिए नई दृष्टिकोण और तकनीकों का विकास करता है।
5. आर्थिक विकास: नवाचार आर्थिक विकास को प्रोत्साहित करता है। नए उद्योग, स्टार्टअप, और तकनीकी advancements रोजगार के अवसर पैदा करते हैं और समग्र आर्थिक गतिविधियों को बढ़ावा देते हैं।
6. गुणवत्ता में सुधार: नवाचार उत्पादों और सेवाओं की गुणवत्ता में सुधार लाता है। इससे ग्राहकों का संतोष बढ़ता है और दीर्घकालिक संबंध बनते हैं।
7. सामाजिक समस्याओं का समाधान: नवाचार सामाजिक समस्याओं जैसे स्वास्थ्य, शिक्षा, पर्यावरण, और गरीबी को संबोधित करने में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। नए विचार और तकनीकें इन क्षेत्रों में सुधार लाने के लिए आवश्यक हैं।
8. वैश्विक चुनौतियों का सामना: जलवायु परिवर्तन, जनसंख्या वृद्धि, और अन्य वैश्विक समस्याओं का सामना करने के लिए नवाचार जरूरी है। यह नए समाधान और टिकाऊ विकास के लिए आवश्यक है।

खुली किताब परीक्षा के लाभ और सीमाएं

1. गहन समझ का विकास: खुली किताब परीक्षा छात्रों को विषय की गहन समझ विकसित करने के लिए प्रेरित करती है, क्योंकि उन्हें तथ्यों को याद करने के बजाय अवधारणाओं को समझने और लागू करने की आवश्यकता होती है।
2. लाभ विश्लेषणात्मक और समस्या समाधान कौशल: इस प्रकार की परीक्षा में छात्रों को जटिल की समस्याओं का समाधान निकालने के लिए सोचने की आवश्यकता होती है विश्लेषणात्मक क्षमता और समस्या समाधान कौशल में वृद्धि होती है।
3. तनाव कम करना: खुली किताब परीक्षा से छात्रों को यह महसूस होता है कि उन्ह सब कुछ याद करने की आवश्यकता नहीं है, जिससे परीक्षा के समय का तनाव कम हो सकता है।
4. व्यवहारिक ज्ञान: यह परीक्षा प्रणाली छात्रों को वास्तविक जीवन की समस्याओं का सामना करने में मदद करती है, जहाँ संदर्भ सामग्री का उपयोग स्वाभाविक होता है।
5. समूह कार्य और सहयोग: खुली किताब परीक्षा में छात्रों को समूह में चर्चा करने और एक-दूसरे से सीखने का अवसर मिलता है, जिससे सहयोगी लर्निंग को बढ़ावा मिलता है।
6. रचनात्मकता का प्रोत्साहन: इस प्रकार की परीक्षा में छात्रों को अपने विचारों को व्यक्त करने और नए दृष्टिकोणों के साथ समस्याओं का समाधान करने के लिए प्रेरित किया जाता है।

सीमाएं

1. समय प्रबंधन की चुनौती: खुली किताब परीक्षा में प्रश्न अक्सर गहरे और विश्लेषणात्मक होते हैं, जिससे छात्रों को समय प्रबंधन में कठिनाई हो सकती है। उन्हें सही तरीके से और समय पर उत्तर देने के लिए जल्दी सोचना पड़ सकता है।
2. सही सामग्री का चयन: छात्रों को सभी संदर्भ सामग्रियों का सही ढंग से उपयोग करने की समझ होना आवश्यक है। यदि वे सही सामग्री का चयन नहीं कर पाते हैं, तो यह उनके लिए भ्रमित करने वाला हो सकता है।
3. तैयारी की आवश्यकता: खुली किताब परीक्षा का मतलब यह नहीं है कि छात्रों को तैयारी की आवश्यकता नहीं होती। उन्हें अभी भी विषय की गहरी समझ विकसित करने और तैयारी करने की आवश्यकता है।
4. निर्णय लेने में देरी: संदर्भ सामग्री की उपलब्धता के कारण, कुछ छात्र निर्णय लेने में अधिक समय बिता सकते हैं, जिससे उनकी उत्तर देने की गति प्रभावित हो सकती है।
5. नैतिकता और धोखाधड़ी का जोखिम: कुछ छात्रों के लिए, खुली किताब परीक्षा में धोखाधड़ी करने का जोखिम बढ़ सकता है, जैसे कि दूसरों की मदद लेना या उत्तर साझा करना।
6. सामग्री पर निर्भरता: छात्रों की ज्ञान की गहराई बढ़ाने के बजाय, कुछ छात्र संदर्भ सामग्री पर अधिक निर्भर हो सकते हैं, जिससे उनकी स्वायत्तता में कमी आती है।

खुली किताब परीक्षा और नवाचार के बीच संबंध

खुली किताब परीक्षाऔर नवाचार के बीच संबंध को समझने के लिए निम्नलिखित बिंदुओं पर ध्यान दिया जा सकता है:-

1. समस्या-समाधान कौशल का विकास

खुली किताब परीक्षा छात्रों को वास्तविक जीवन की समस्याओं को हल करने में सक्षम बनाती है। इस परीक्षा के दौरान, छात्र ज्ञान के बजाय अपने विश्लेषणात्मक और समस्या-समाधान कौशल पर ध्यान केंद्रित कर सकते हैं। नवाचार में अक्सर समस्याओं के नए समाधान खोजने की आवश्यकता होती है। खुली किताब परीक्षा के माध्यम से, छात्र रचनात्मकता को प्रोत्साहित करते हैं, जो नवाचार के लिए आवश्यक है।

2. गहन समझ और ज्ञान का निर्माण

खुली किताब परीक्षा छात्रों को विषयों को गहराई से समझने की अनुमति देती है, जिससे वे सरल याददाश्त से आगे बढ़कर अवधारणाओं में गहराई से गोता लगा सकते हैं। नवाचार की प्रक्रिया में गहरे ज्ञान की आवश्यकता होती है। यदि छात्र अवधारणाओं को ठीक से समझते हैं, तो वे नए विचार विकसित करने में सक्षम होते हैं।

3. तैयारी की आवश्यकता

खुली किताब परीक्षा का मतलब यह नहीं है कि छात्रों को तैयारी की आवश्यकता नहीं होती। उन्हें अभी भी विषय की गहरी समझ विकसित करने और तैयारी करने की आवश्यकता है।

4. निर्णय लेने में देरी

संदर्भ सामग्री की उपलब्धता के कारण, कुछ छात्र निर्णय लेने में अधिक समय बिता सकते हैं, जिससे उनकी उत्तर देने की गति प्रभावित हो सकती है।

5. नैतिकता और धोखाधड़ी का जोखिम

कुछ छात्रों के लिए, खुली किताब परीक्षा में धोखाधड़ी करने का जोखिम बढ़ सकता है, जैसे कि दूसरों की मदद लेना या उत्तर साझा करना।

6. सामग्री पर निर्भरता

छात्रों की ज्ञान की गहराई बढ़ाने के बजाय, कुछ छात्र संदर्भ सामग्री पर अधिक निर्भर हो सकते हैं, जिससे उनकी स्वायत्तता में कमी आती है।

खुली किताब परीक्षा और नवाचार के बीच संबंध

खुली किताब परीक्षाऔर नवाचार के बीच संबंध को समझने के लिए निम्नलिखित बिंदुओं पर ध्यान दिया जा सकता है:-

1. समस्या-समाधान कौशल का विकास

खुली किताब परीक्षा छात्रों को वास्तविक जीवन की समस्याओं को हल करने में सक्षम बनाती है। इस परीक्षा के दौरान, छात्र ज्ञान के बजाय अपने विश्लेषणात्मक और समस्या-समाधान कौशल पर ध्यान केंद्रित कर सकते हैं। नवाचार में अक्सर समस्याओं के नए समाधान खोजने की आवश्यकता होती है। खुली किताब परीक्षा के माध्यम से, छात्र रचनात्मकता को प्रोत्साहित करते हैं, जो नवाचार के लिए आवश्यक है।

2. गहन समझ और ज्ञान का निर्माण

खुली किताब परीक्षा छात्रों को विषयों को गहराई से समझने की अनुमति देती है, जिससे वे सरल याददाश्त से आगे बढ़कर अवधारणाओं में गहराई से गोता लगा सकते हैं। नवाचार की प्रक्रिया में गहरे ज्ञान की आवश्यकता होती है। यदि छात्र अवधारणाओं को ठीक से समझते हैं, तो वे नए विचार विकसित करने में सक्षम होते हैं।

3. रचनात्मकता का प्रोत्साहन

खुली किताब परीक्षा का प्रारूप छात्रों को विभिन्न दृष्टिकोणों से सोचने और नए तरीके से समस्याओं का समाधान करने के लिए प्रेरित करता है। नवाचार में रचनात्मकता महत्वपूर्ण है। जब छात्र खुली किताब परीक्षा के दौरान विभिन्न स्रोतों से जानकारी प्राप्त करते हैं, तो वे नए विचारों और दृष्टिकोणों को विकसित करने में सक्षम होते हैं।

4. सीखने की प्रक्रिया में लचीलापन

खुली किताब परीक्षा में लचीलापन छात्रों को अपनी गति से सीखने और विभिन्न संसाधनों का उपयोग करने की अनुमति देता है। यह न केवल ज्ञान के अधिग्रहण में सहायक होता है बल्कि नवाचार को भी बढ़ावा देता है। लचीलेपन के माध्यम से, छात्र अपने ज्ञान का प्रयोग कर सकते हैं और नए विचारों को विकसित कर सकते हैं।

5. टेक्नोलॉजी का समावेश

खुली किताब परीक्षा में तकनीकी संसाधनों का उपयोग बढ़ता जा रहा है, जैसे कि ऑनलाइन डेटाबेस, ई-बुक्स, और अन्य डिजिटल सामग्री। यह नवाचार के लिए एक उत्कृष्ट मंच प्रदान करता है, क्योंकि छात्र तकनीकी ज्ञान और कौशल का उपयोग करके समस्याओं का समाधान कर सकते हैं।

खुली किताब परीक्षा में नवाचार के आयाम

खुली किताब परीक्षा (Open Book Examination&OBE) में नवाचार के आयाम निम्नलिखित हैं:-

1. प्रश्नों का नया स्वरूप

जटिलता और गहराई: OBE में प्रश्न ऐसे होते हैं जो सामान्य तथ्यों से परे जाते हैं। ये प्रश्न समस्या-समाधान, विश्लेषण, और सृजनात्मकता पर आधारित होते हैं। इससे छात्रों की सोचने की क्षमता को बढ़ावा मिलता है।

मल्टीपल चॉइस और ओपन एंडेड प्रश्न: OBE में मल्टीपल चॉइस प्रश्न और खुले प्रश्न का उपयोग किया जाता है, जो छात्रों को विभिन्न दृष्टिकोणों से उत्तर देने की अनुमति देते हैं।

2. शिक्षण-पद्धतियों में परिवर्तन

छात्र-केंद्रित शिक्षा: OBE छात्रों को अपनी गति से सीखने की अनुमति देता है। यह प्रणाली शिक्षकों को छात्रों के दृष्टिकोण को समझने और उनके अनुसार पाठ्यक्रम को समायोजित करने में मदद करती है।

अन्वेषणात्मक शिक्षा: शिक्षक छात्रों को ज्ञान की खोज करने, प्रयोग करने और विभिन्न संदर्भों में विचार करने के लिए प्रेरित करते हैं।

3. डिजिटल संसाधनों का समावेश

ऑनलाइन सामग्री: OBE में छात्र इंटरनेट और डिजिटल संसाधनों का उपयोग कर सकते हैं। इससे उन्हें नवीनतम जानकारी और शोध तक पहुँच मिलती है।

इंटरएक्टिव प्लेटफॉर्म: OBE का उपयोग करते समय इंटरएक्टिव ई-लर्निंग प्लेटफॉर्म का समावेश, जैसे ऑनलाइन फोरम और वीडियो सामग्री, जो छात्रों को ज्ञान को और अधिक प्रभावी ढंग से प्राप्त करने में मदद करता है।

4. समय प्रबंधन और योजना

समय की योजना: OBE छात्रों को सीमित समय में अपनी संदर्भ सामग्री का उपयोग करके सोचने और योजना बनाने की आवश्यकता होती है। यह उन्हें समय प्रबंधन (Time Management) और प्राथमिकता तय करने की क्षमता विकसित करने में मदद करता है।

अनुसूची बनाना: छात्रों को परीक्षा के दौरान समय का कुशल प्रबंधन करना सिखाया जाता है, जिससे वे अध्ययन की योजना बना सकें और अपनी उत्तर देने की रणनीति विकसित कर सकें।

5. नैतिकता और जिम्मेदारी

ईमानदारी का विकास: OBE छात्रों को नैतिकता और ईमानदारी का पालन करने के लिए प्रेरित करता है। उन्हें अपने ज्ञान का सही तरीके से उपयोग करना सिखाया जाता है, जिससे वे जिम्मेदार नागरिक बनते हैं।

आचार संहिता: OBE के अंतर्गत छात्रों को परीक्षा के दौरान अनुशासन और नैतिकता के महत्व को समझाया जाता है, जो उनके व्यक्तिगत और पेशेवर जीवन में सहायक होता है।

6. सहयोग और टीमवर्क

सह्योगात्मक अध्ययन: OBE छात्रों को सहयोगात्मक तरीके से अध्ययन करने की अनुमति देता है। छात्र एक-दूसरे के साथ मिलकर संदर्भ सामग्री का उपयोग करके समस्याओं का समाधान खोजते हैं।

ग्रुप प्रोजेक्ट: खुली किताब परीक्षा में समूह कार्यों का समावेश छात्रों को एक टीम के रूप में काम करने और विचारों का आदान-प्रदान करने की प्रेरणा देता है।

7. अवसर और चुनौतियों का सामना

वास्तविक जीवन की समस्याएँ: OBE में दिए गए प्रश्न अक्सर वास्तविक जीवन की समस्याओं पर आधारित होते हैं, जिससे छात्र अपने ज्ञान को व्यावहारिक रूप से लागू करने का अनुभव प्राप्त करते हैं।

अवसरों की खोज: छात्रों को स्वतंत्र रूप से अवसरों की पहचान करने और उनके लिए समाधान विकसित करने की क्षमता दी जाती है।

8. मूल्यांकन के नए मानदंड

व्यवस्थित मूल्यांकन: OBE में छात्रों का मूल्यांकन केवल उनके उत्तरों के आधार पर नहीं, बल्कि उनकी तर्कशक्ति, विश्लेषणात्मक क्षमता, और रचनात्मकता पर भी किया जाता है।

परफॉरमेंस आधारित मूल्यांकन: छात्रों के प्रदर्शन के विभिन्न पहलुओं को ध्यान में रखते हुए मूल्यांकन किया जाता है, जो उनके समग्र विकास को प्रोत्साहित करता है।

9. प्रौद्योगिकी का उपयोग

ई-लर्निंग टूल्स: OBE में प्रौद्योगिकी का समावेश छात्रों को नई विधियों से सीखने में सहायता करता है। वे विभिन्न ई-लर्निंग टूल्स का उपयोग करके अपने ज्ञान को विकसित कर सकते हैं।

ऑनलाइन सहयोगात्मक टूल्स: जैसे Google Docs, oom, आदि, जो छात्रों को एक साथ मिलकर कार्य करने की अनुमति देते हैं।

खुली किताब परीक्षा में नवाचार के आयाम

खुली किताब परीक्षा में नवाचार के आयाम निम्नलिखित हैं:-

1. प्रश्नों का नया स्वरूप

जटिलता और गहराई: OBE में प्रश्न ऐसे होते हैं जो सामान्य तथ्यों से परे जाते हैं। ये प्रश्न समस्या-समाधान, विश्लेषण, और सृजनात्मकता पर आधारित होते हैं। इससे छात्रों की सोचने की क्षमता को बढ़ावा मिलता है।

मल्टीपल चॉइस और ओपन-एंडेड प्रश्न: OBE में मल्टीपल चॉइस प्रश्न और खुले प्रश्न का उपयोग किया जाता है, जो छात्रों को विभिन्न दृष्टिकोणों से उत्तर देने की अनुमति देते हैं।

2. शिक्षण-पद्धतियों में परिवर्तन

छात्र-केंद्रित शिक्षा: OBE छात्रों को अपनी गति से सीखने की अनुमति देता है। यह प्रणाली शिक्षकों को छात्रों के दृष्टिकोण को समझने और उनके अनुसार पाठ्यक्रम को समायोजित करने में मदद करती है।

अन्वेषणात्मक शिक्षा: शिक्षक छात्रों को ज्ञान की खोज करने, प्रयोग करने और विभिन्न संदर्भों में विचार करने के लिए प्रेरित करते हैं।

3. डिजिटल संसाधनों का समावेश

ऑनलाइन सामग्री: OBE में छात्र इंटरनेट और डिजिटल संसाधनों का उपयोग कर सकते हैं। इससे उन्हें नवीनतम जानकारी और शोध तक पहुंच मिलती है।

इंटरएक्टिव प्लेटफॉर्म: OBE का उपयोग करते समय इंटरएक्टिव ई-लर्निंग प्लेटफॉर्म का समावेश, जैसे ऑनलाइन फोरम और वीडियो सामग्री, जो छात्रों को ज्ञान को और अधिक प्रभावी ढंग से प्राप्त करने में मदद करता है।

4. समय प्रबंधन और योजना

समय की योजना: OBE छात्रों को सीमित समय में अपनी संदर्भ सामग्री का उपयोग करके सोचने और योजना बनाने की आवश्यकता होती है। यह उन्हें समय प्रबंधन (Time Management) और प्राथमिकता तय करने की क्षमता विकसित करने में मदद करता है।

अनुसूची बनाना: छात्रों को परीक्षा के दौरान समय का कुशल प्रबंधन करना सिखाया जाता है, जिससे वे अध्ययन की योजना बना सकें और अपनी उत्तर देने की रणनीति विकसित कर सकें।

5. नैतिकता और जिम्मेदारी

ईमानदारी का विकास: OBE छात्रों को नैतिकता और ईमानदारी का पालन करने के लिए प्रेरित करता है। उन्हें अपने ज्ञान का सही तरीके से उपयोग करना सिखाया जाता है, जिससे वे जिम्मेदार नागरिक बनते हैं।

आचार संहिता: OBE के अंतर्गत छात्रों को परीक्षा के दौरान अनुशासन और नैतिकता के महत्व को समझाया जाता है, जो उनके व्यक्तिगत और पेशेवर जीवन में सहायक होता है।

6. सहयोग और टीमवर्क

सहयोगात्मक अध्ययन: OBE छात्रों को सहयोगात्मक तरीके से अध्ययन करने की अनुमति देता है। छात्र एक-दूसरे के साथ मिलकर संदर्भ सामग्री का उपयोग करके समस्याओं का समाधान खोजते हैं।

ग्रुप प्रोजेक्ट: खुली किताब परीक्षा में समूह कार्यों का समावेश छात्रों को एक टीम के रूप में काम करने और विचारों का आदान-प्रदान करने की प्रेरणा देता है।

7. अवसर और चुनौतियों का सामना

वास्तविक जीवन की समस्याएँ: OBE में दिए गए प्रश्न अक्सर वास्तविक जीवन की समस्याओं पर आधारित होते हैं, जिससे छात्र अपने ज्ञान को व्यावहारिक रूप से लागू करने का अनुभव प्राप्त करते हैं।

अवसरों की खोज: छात्रों को स्वतंत्र रूप से अवसरों की पहचान करने और उनके लिए समाधान विकसित करने की क्षमता दी जाती है।

8. मूल्यांकन के नए मानदंड

व्यवस्थित मूल्यांकन: OBE में छात्रों का मूल्यांकन केवल उनके उत्तरों के आधार पर नहीं, बल्कि उनकी तर्कशक्ति, विश्लेषणात्मक क्षमता, और रचनात्मकता पर भी किया जाता है।

परफॉरमेंस आधारित मूल्यांकन: छात्रों के प्रदर्शन के विभिन्न पहलुओं को ध्यान में रखते हुए मूल्यांकन किया जाता है, जो उनके समग्र विकास को प्रोत्साहित करता है।

9. प्रौद्योगिकी का उपयोग

ई-लर्निंग टूल्सः OBE में प्रौद्योगिकी का समावेश छात्रों को नई विधियों से सीखने में सहायता करता है। वे विभिन्न ई-लर्निंग टूल्स का उपयोग करके अपने ज्ञान को विकसित कर सकते हैं।

ऑनलाइन सह्योगात्मक टूल्सः जैसे Google Docs(Zoom) आदि, जो छात्रों को एक साथ मिलकर कार्य करने की अनुमति देते हैं।

10. समाज में बदलाव का आह्वान

समाज की आवश्यकताओं के अनुरूप खुली किताब परीक्षा, शिक्षा प्रणाली को समाज की वास्तविक जरूरतों और चुनौतियों के अनुसार विकसित करने का एक माध्यम बन सकता है। यह छात्रों को वास्तविक जीवन की समस्याओं से निपटने के लिए तैयार करता है।

निष्कर्ष

खुली किताब परीक्षा छात्रों को केवल याद करने और लिखने तक सीमित नहीं रखती, बल्कि उनके संपूर्ण मानसिक, रचनात्मक और विश्लेषणात्मक विकास को बढ़ावा देती है। यह छात्रों को वास्तविक दुनिया की समस्याओं से निपटने के लिए तैयार करती है और उनके व्यावहारिक कौशल को निखारती है, जिससे वे न केवल बेहतर छात्र, बल्कि बेहतर पेशेवर और व्यक्ति भी बन पाते हैं। खुली किताब परीक्षा में नवाचार के ये आयाम शिक्षा प्रणाली में एक सकारात्मक बदलाव का संकेत देते हैं। यह न केवल छात्रों के ज्ञान और कौशल को विकसित करने में मदद करता है, बल्कि उन्हें वास्तविक जीवन में समस्याओं का सामना करने के लिए भी तैयार करता है। खुली किताब परीक्षा की यह नवाचारी प्रक्रिया शिक्षा को अधिक समर्पित, उपयोगी, और व्यावहारिक बनाती है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

- बघाला राहुल (2022), शैक्षित नवाचार के अर्थ, परिभाषा, विशेषता एवं आवश्यकता का अध्ययन, इडिण्यन जनरल ऑफ रिर्सचः Vol. (11) ISSN-2250-1991, Pg. 14-15।
- शर्मा, नेहा - (2019) शिक्षक-शिक्षा में नवाचार की भूमिका-इण्टरनेशनल ऐजुकेशन जनरल।
- Innovation Practice in Teacher Education: ISSN-2231-3613, Pg. 62-64.www-ttcb-co-in
- नई शिक्षा नीति -2020 (दृष्टि आई. ए. एस.)
- राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020ः मानव संसाधन विकास मंत्रालय।
- मीना, शर्मा मोनिका (2021)ः नए भारत की नींव राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020, हंस शोध सुधा, वॉ.-1 पेज 59-62।

हिन्दी साहित्य में स्त्री-विमर्श की वर्तमान दिशा और भविष्य

शिव शंकर प्रसाद सिंह

शोधार्थी, स्नातकोत्तर (हिन्दी) बी0 आर0 ए0 बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर

सार-संक्षेप

हिन्दी साहित्य में स्त्री-विमर्श समकालीन साहित्यिक और वैचारिक चेतना का अत्यंत सशक्त, व्यापक और परिवर्तनकारी आयाम बन चुका है। प्रारंभिक दौर में स्त्री-विमर्श का केंद्र स्त्री-शिक्षा, सामाजिक सुधार, बाल-विवाह, विधवा-विवाह और पितृसत्तात्मक संरचनाओं के विरोध जैसे प्रश्न थे, किंतु समय के साथ इसका स्वरूप अधिक व्यापक और बहुआयामी होता गया। आज स्त्री-विमर्श केवल स्त्री-पुरुष असमानता या घरेलू उत्पीड़न तक सीमित नहीं है, बल्कि जाति, वर्ग, धर्म, भाषा, क्षेत्र, श्रम, यौनिकता, देह-राजनीति, पर्यावरण, वैश्वीकरण, उपभोक्तावाद तथा डिजिटल संस्कृति जैसे जटिल सामाजिक प्रश्नों से भी गहराई से जुड़ गया है।

समकालीन हिन्दी साहित्य में स्त्री अब करुणा, त्याग और सहनशीलता की पारंपरिक प्रतिमा के रूप में प्रस्तुत नहीं होती, बल्कि वह आत्मचेतस, संघर्षशील, वैचारिक रूप से स्वतंत्र और आत्मनिर्णयी व्यक्तित्व के रूप में उभरकर सामने आती है। प्रभा खेतान, मैत्रेयी पुष्पा, मृदुला गर्ग, अनामिका, गीतांजलि श्री तथा अन्य समकालीन रचनाकारों ने स्त्री-अस्मिता, देह, स्मृति, श्रम, प्रतिरोध, यौनिकता और आत्मसम्मान जैसे प्रश्नों को नए विमर्शात्मक संदर्भ प्रदान किए हैं। इन रचनाओं में स्त्री अपनी पहचान स्वयं निर्मित करती है तथा सामाजिक-सांस्कृतिक रूढ़ियों को चुनौती देती दिखाई देती है।

वर्तमान समय में दलित, जनजाति, अल्पसंख्यक, क्वीयर तथा अन्य हाशियाकृत स्त्रियों की आवाजें भी हिंदी साहित्य में सशक्त रूप से उभर रही हैं। इससे स्त्री-विमर्श अधिक समावेशी, बहुवचनात्मक और लोकतांत्रिक स्वरूप ग्रहण कर रहा है। डिजिटल मीडिया, सोशल मीडिया और वैश्विक संवाद ने भी स्त्री-अनुभवों की अभिव्यक्ति को नई दिशाएँ और व्यापक मंच प्रदान किए हैं।

प्रस्तुत शोध आलेख में हिन्दी साहित्य में स्त्री-विमर्श की वर्तमान दिशा, उसके वैचारिक विस्तार, प्रमुख प्रवृत्तियों तथा भविष्य की संभावनाओं का विश्लेषण किया गया है। यह अध्ययन स्पष्ट करता है कि स्त्री-विमर्श का भविष्य अधिक लोकतांत्रिक, संवेदनशील और बहुआयामी होगा, जो सामाजिक न्याय, लैंगिक समानता और मानवीय गरिमा की स्थापना में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाएगा।

शब्द-कुंजी: स्त्री-विमर्श, स्त्री-अस्मिता, समकालीन हिंदी साहित्य, पितृसत्ता, दलित स्त्री-विमर्श, डिजिटल संस्कृति, क्वीयर विमर्श, वैश्वीकरण

विषय-परिचर्चा

हिन्दी साहित्य में स्त्री-विमर्श आधुनिक साहित्यिक चेतना का एक महत्त्वपूर्ण और परिवर्तनकारी आंदोलन है। यह विमर्श स्त्री की स्वतंत्र पहचान, समानता, आत्मसम्मान और सामाजिक न्याय के प्रश्नों को केंद्र में स्थापित करता है। प्रारंभिक स्त्री-विमर्श का केंद्र स्त्री-शिक्षा, सामाजिक सुधार और पितृसत्तात्मक रूढ़ियों का विरोध था, किंतु समय के साथ यह विमर्श अधिक व्यापक और बहुआयामी होता गया।[1] स्त्री-विमर्श ने यह स्पष्ट किया कि समाज में स्त्री की स्थिति केवल पारिवारिक संरचनाओं से निर्धारित नहीं होती, बल्कि सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक और सांस्कृतिक शक्तियाँ भी उसके जीवन को गहराई से प्रभावित करती हैं।

समकालीन हिन्दी साहित्य में स्त्री-विमर्श केवल पुरुष-वर्चस्व के विरोध तक सीमित नहीं है, बल्कि यह सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक सत्ता-संरचनाओं की आलोचना भी करता है।[2] वर्तमान समय में स्त्री-विमर्श ने दलित, जनजाति, अल्पसंख्यक, श्रमिक और क्वीयर स्त्रियों के अनुभवों को भी अपने विमर्श का हिस्सा बनाया है। इस कारण स्त्री-विमर्श अब एकरैखिक न रहकर बहुवचनात्मक स्वर ग्रहण कर चुका है, जहाँ स्त्री-अनुभवों की विविधता और जटिलता को महत्त्व दिया जाता है। समकालीन लेखिकाओं ने स्त्री के जीवन-संघर्ष, मानसिक द्वंद्व, देह, श्रम, यौनिकता, अस्मिता और आत्मनिर्णय जैसे प्रश्नों को साहित्य के केंद्र में स्थापित किया है। आधुनिक हिन्दी साहित्य में स्त्री अब केवल करुणा या त्याग की प्रतीक नहीं रही, बल्कि वह आत्मचेतस, प्रतिरोधशील और वैचारिक रूप से स्वतंत्र व्यक्तित्व के रूप में उभरकर सामने आई है। यही परिवर्तन स्त्री-विमर्श को समकालीन हिंदी साहित्य का अत्यंत महत्त्वपूर्ण वैचारिक आयाम बनाता है।

समकालीन हिन्दी साहित्य में स्त्री-विमर्श का सबसे महत्त्वपूर्ण पक्ष उसका बहुआयामी विस्तार है। अब स्त्री को एक समान सामाजिक इकाई के रूप में नहीं देखा जाता, बल्कि उसकी पहचान जाति, वर्ग, धर्म, क्षेत्र और लैंगिक अनुभवों के आधार पर भिन्न मानी जाती है।[3] यही कारण है कि वर्तमान स्त्री-विमर्श में अनुभवों की विविधता और सामाजिक यथार्थ की जटिलता को विशेष महत्त्व प्राप्त हुआ है। स्त्री की समस्याओं को अब केवल लैंगिक असमानता के संदर्भ में नहीं, बल्कि सामाजिक सत्ता-संरचनाओं, आर्थिक विषमता और सांस्कृतिक वर्चस्व से जोड़कर देखा जा रहा है।

मुख्यधारा स्त्री-विमर्श की आलोचना करते हुए दलित और जनजाति स्त्री-विमर्श ने यह स्पष्ट किया कि सभी स्त्रियों के अनुभव समान नहीं हैं। कौशल्या बैसंत्री और सुशीला टाकभौरे जैसी लेखिकाओं ने जाति और लैंगिक उत्पीड़न के अंतर्संबंध को साहित्य में प्रमुखता से उठाया।[4] उनके साहित्य में दलित स्त्री केवल पितृसत्ता की शिकार नहीं है, बल्कि वह सामाजिक अपमान, आर्थिक शोषण और सांस्कृतिक बहिष्कार जैसी समस्याओं से भी जूझती दिखाई देती है। इस प्रकार दलित स्त्री-विमर्श ने स्त्री-अस्मिता को सामाजिक न्याय और समानता के व्यापक प्रश्नों से जोड़ा है। इसी प्रकार जनजाति स्त्रियों के साहित्य में विस्थापन, जंगल, श्रम और सांस्कृतिक अस्मिता के प्रश्न प्रमुखता से उपस्थित हुए हैं। विकास और बाजारवाद की नीतियों ने जनजाति स्त्रियों के जीवन को गहरे रूप में प्रभावित किया है, जिसकी अभिव्यक्ति समकालीन हिन्दी साहित्य में दिखाई देती है। यह प्रवृत्ति स्त्री-विमर्श को अधिक लोकतांत्रिक, समावेशी और बहुवचनात्मक बनाती है, जहाँ प्रत्येक स्त्री-अनुभव को उसकी सामाजिक पृष्ठभूमि के साथ समझने का प्रयास किया जाता है।

समकालीन हिन्दी साहित्य में स्त्री-देह और यौनिकता के प्रश्नों को भी नई दृष्टि से देखा जा रहा है। पहले स्त्री-देह को नैतिकता और मर्यादा के दायरे में सीमित रखा जाता था, किंतु आधुनिक लेखिकाओं ने इसे स्त्री-अस्मिता और स्वतंत्रता से जोड़कर देखा।[5] पारंपरिक समाज में स्त्री की देह पर परिवार, धर्म और सामाजिक नैतिकता का नियंत्रण स्थापित किया गया था, जिसके कारण उसकी इच्छाओं और वैयक्तिक स्वतंत्रता को लंबे समय तक दबाया गया। आधुनिक स्त्री-विमर्श ने इस नियंत्रणकारी दृष्टि का विरोध करते हुए स्त्री-देह को उसके आत्मनिर्णय और व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति के रूप में स्वीकार किया है। मृदुला गर्ग तथा कृष्णा सोबती जैसी लेखिकाओं ने स्त्री की इच्छाओं, कामना और यौनिक स्वतंत्रता को निर्भीकता से अभिव्यक्त किया।[6] उनके साहित्य में स्त्री केवल पुरुष-केंद्रित संबंधों की परिधि में सीमित नहीं रहती, बल्कि वह अपनी इच्छाओं, संवेदनाओं और अस्तित्व के प्रश्नों को स्वयं परिभाषित करती है। इन लेखिकाओं ने यह स्थापित किया कि स्त्री की कामना और भावनात्मक अनुभव भी उतने ही स्वाभाविक और महत्त्वपूर्ण हैं जितने पुरुष के। इस प्रकार हिन्दी साहित्य में स्त्री की यौनिकता को पहली बार वैचारिक गरिमा और मानवीय संवेदना के साथ प्रस्तुत किया गया। वर्तमान में देह-राजनीति का प्रश्न बाजारवाद और उपभोक्तावाद से भी जुड़ गया है। यह सही है कि वैश्वीकरण ने स्त्री को नए अवसर उपलब्ध कराए, किंतु इसके साथ ही स्त्री-देह को उपभोक्तावादी संस्कृति का माध्यम भी बनाया।[7] विज्ञापनों, मनोरंजन उद्योग और डिजिटल माध्यमों में स्त्री-देह का वस्तुकरण आधुनिक पूँजीवादी व्यवस्था की एक प्रमुख प्रवृत्ति बन गया है। समकालीन स्त्री-विमर्श इस अंतर्विरोध की आलोचना करता है और स्त्री की स्वायत्तता, गरिमा तथा स्वतंत्र पहचान की मांग करता है।

वैश्वीकरण और बाजारवाद ने स्त्री के जीवन में व्यापक परिवर्तन किए हैं। शिक्षा और रोजगार के अवसरों में वृद्धि हुई है, किंतु साथ ही प्रतिस्पर्धा, मानसिक तनाव और सांस्कृतिक संकट भी बढ़े हैं।[8] आधुनिक आर्थिक व्यवस्था ने स्त्री को सार्वजनिक जीवन में अधिक सक्रिय बनाया है, जिससे उसकी आर्थिक आत्मनिर्भरता और सामाजिक भागीदारी में वृद्धि हुई है। पहले जिन क्षेत्रों में स्त्रियों की उपस्थिति सीमित थी, वहाँ आज वे नेतृत्वकारी भूमिकाओं में दिखाई देती हैं। फिर भी यह परिवर्तन पूरी तरह मुक्तिदायी नहीं है, क्योंकि बाजारवादी व्यवस्था ने स्त्री के श्रम और व्यक्तित्व को उपभोगवादी दृष्टि से देखने की प्रवृत्ति को भी बढ़ावा दिया है। प्रभा खेतान ने बाजारवाद और स्त्री-शोषण के संबंधों को गंभीरता से उठाया। उनकी कृति 'बाजार के बीच: बाजार के खिलाफ' बाजारवादी संस्कृति में स्त्री की स्थिति का गहन विश्लेषण प्रस्तुत करती है।[9] प्रभा खेतान ने यह स्पष्ट किया कि आधुनिक पूँजीवादी समाज में स्त्री को एक ओर स्वतंत्रता और आत्मनिर्भरता का भ्रम दिया जाता है, वहीं दूसरी ओर उसकी देह, सौंदर्य और श्रम का व्यावसायिक उपयोग भी किया जाता है। इस प्रकार बाजारवाद स्त्री की स्वतंत्रता को उपभोग की वस्तु में बदलने का प्रयास करता है। समकालीन हिन्दी साहित्य में कार्यस्थल पर लैंगिक भेदभाव, घरेलू हिंसा, मानसिक अवसाद और संबंधों की अस्थिरता जैसे प्रश्न भी स्त्री-विमर्श के केंद्र में आए हैं। आधुनिक जीवन की भागदौड़, पेशागत दबाव और पारिवारिक अपेक्षाओं के बीच स्त्री अनेक मानसिक संघर्षों से गुजरती है। साहित्य इन जटिल अनुभवों को गहरी संवेदनशीलता और यथार्थवादी दृष्टि के साथ अभिव्यक्त करता है। इस प्रकार समकालीन स्त्री-विमर्श आधुनिक समाज की बदलती संरचनाओं और उनके अंतर्विरोधों की गंभीर पड़ताल प्रस्तुत करता है।

वर्तमान दौर सूचना क्रांति का है। इस दौर की डिजिटल तकनीक और सोशल मीडिया ने स्त्री-विमर्श को नई अभिव्यक्ति और व्यापक मंच प्रदान किया है। आज स्त्रियाँ ब्लॉग, वेब पत्रिकाओं, सोशल मीडिया और डिजिटल मंचों के माध्यम से अपने अनुभवों और विचारों को सार्वजनिक रूप से अभिव्यक्त कर रही हैं।[10] इंटरनेट और डिजिटल संचार के विस्तार ने स्त्रियों को पारंपरिक सामाजिक सीमाओं से बाहर निकलकर संवाद स्थापित करने का अवसर दिया है। अब साहित्यिक और वैचारिक अभिव्यक्ति केवल पत्र-पत्रिकाओं या प्रकाशन संस्थानों तक सीमित नहीं रह गई, बल्कि डिजिटल माध्यमों ने सामान्य स्त्रियों को भी अपनी आवाज दर्ज कराने का अवसर प्रदान किया है। डिजिटल माध्यमों ने स्त्री-विमर्श को अधिक लोकतांत्रिक बनाया है, क्योंकि अब साहित्यिक अभिव्यक्ति केवल पारंपरिक प्रकाशन संस्थानों तक सीमित नहीं रही। रुडमज्वव जैसे आंदोलनों ने स्त्री-उत्पीड़न और लैंगिक हिंसा के प्रश्नों को वैश्विक स्तर पर सामने लाया।[11] इन आंदोलनों ने यह सिद्ध किया कि सोशल मीडिया केवल मनोरंजन का माध्यम नहीं, बल्कि सामाजिक प्रतिरोध और वैचारिक जागरूकता का प्रभावशाली मंच भी है। डिजिटल अभियानों के माध्यम से अनेक स्त्रियों ने अपने उत्पीड़न, भेदभाव और मानसिक संघर्षों को सार्वजनिक किया, जिससे समाज में लैंगिक न्याय और संवेदनशीलता पर व्यापक बहस संभव हुई। हालाँकि डिजिटल संस्कृति ने साइबर उत्पीड़न, ऑनलाइन हिंसा और निजता के संकट जैसी नई चुनौतियाँ भी उत्पन्न की हैं। सोशल मीडिया पर स्त्रियों को ट्रोलिंग, अपमानजनक टिप्पणियों, पहचान की चोरी और मानसिक उत्पीड़न जैसी समस्याओं का सामना करना पड़ता है। समकालीन हिन्दी साहित्य इन प्रश्नों को भी गंभीरता से उठाने लगा है। इस प्रकार डिजिटल युग का स्त्री-विमर्श अवसरों और चुनौतियों दोनों का जटिल संयोजन प्रस्तुत करता है।

वर्तमान समय में स्त्री-विमर्श का संबंध क्वीयर विमर्श से भी जुड़ने लगा है। लैंगिक पहचान और यौनिक विविधता के प्रश्न साहित्य में महत्त्वपूर्ण हो गए हैं।[12] समकालीन वैचारिक परिवेश में यह स्वीकार किया जाने लगा है कि स्त्री-अनुभव केवल पारंपरिक स्त्री-पुरुष संबंधों तक सीमित नहीं हैं, बल्कि लैंगिक और यौनिक विविधताओं के अनेक रूप सामाजिक यथार्थ का हिस्सा हैं। इसी कारण आधुनिक हिन्दी साहित्य में उन अनुभवों को भी स्थान मिलने लगा है, जिन्हें लंबे समय तक सामाजिक वर्जनाओं और नैतिक रूढ़ियों के कारण दबाया जाता रहा। समकालीन हिन्दी साहित्य में समलैंगिक स्त्रियों, ट्रांसजेंडर व्यक्तियों और लैंगिक अल्पसंख्यकों के अनुभवों को अभिव्यक्ति मिलने लगी है। यह प्रवृत्ति स्त्री-विमर्श को अधिक व्यापक और समावेशी बनाती है। अब साहित्य में ऐसे पात्र दिखाई देते हैं, जो पारंपरिक लैंगिक भूमिकाओं और सामाजिक अपेक्षाओं से अलग अपनी पहचान निर्मित करना चाहते हैं। इन रचनाओं

में केवल यौनिकता का प्रश्न ही नहीं, बल्कि सामाजिक अस्वीकृति, मानसिक संघर्ष, अकेलापन और सम्मानजनक पहचान की आकांक्षा भी प्रमुख रूप से उभरती है। इस प्रकार क्वीयर अनुभवों ने हिंदी साहित्य को संवेदना और वैचारिक विविधता के नए आयाम प्रदान किए हैं।

क्वीयर विमर्श यह स्पष्ट करता है कि लैंगिक पहचान केवल जैविक नहीं, बल्कि सामाजिक और सांस्कृतिक निर्माण भी है। यह दृष्टि पितृसत्तात्मक लैंगिक संरचनाओं की आलोचना करती है।[13] क्वीयर विमर्श व्यक्ति की स्वतंत्र पहचान, आत्मनिर्णय और मानवीय गरिमा को महत्त्व देता है। समकालीन स्त्री-विमर्श के साथ इसका अंतर्संबंध हिंदी साहित्य को अधिक लोकतांत्रिक, बहुवचनात्मक और मानवीय बनाने की दिशा में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा रहा है।

समकालीन हिन्दी साहित्य की विभिन्न विधाओं में स्त्री-विमर्श अलग-अलग रूपों में अभिव्यक्त हुआ है। कविता में स्त्री की संवेदना, स्मृति और प्रतिरोध की चेतना प्रमुखता से दिखाई देती है। आधुनिक हिन्दी कविता ने स्त्री के आंतरिक अनुभवों, उसके मौन, पीड़ा, संघर्ष और आत्मसम्मान को नई वैचारिक दृष्टि प्रदान की है। कविता के माध्यम से स्त्री ने उन भावनात्मक और सांस्कृतिक अनुभवों को अभिव्यक्ति दी, जिन्हें लंबे समय तक साहित्य में पर्याप्त स्थान नहीं मिल पाया था।

अनामिका की कविताएँ स्त्री-अस्मिता, घरेलू जीवन और सांस्कृतिक स्मृतियों को नए रूप में प्रस्तुत करती हैं।[14] उनकी कविताओं में स्त्री केवल परंपरागत भूमिकाओं तक सीमित नहीं रहती, बल्कि वह प्रश्न करने वाली, स्मृतियों को पुनर्परिभाषित करने वाली और अपने अस्तित्व की खोज करने वाली चेतना के रूप में उभरती है। अनामिका ने घरेलू जीवन, पारिवारिक संबंधों और स्त्री के दैनंदिन अनुभवों को व्यापक सामाजिक संदर्भों से जोड़ते हुए उन्हें वैचारिक गहराई प्रदान की है। कथा-साहित्य में स्त्री के मानसिक संघर्ष, अकेलेपन और संबंधों की जटिलता को प्रमुखता मिली है। आधुनिक कहानियों और उपन्यासों में स्त्री अब केवल सहनशील पात्र नहीं, बल्कि आत्मनिर्णयी और संघर्षशील व्यक्तित्व के रूप में दिखाई देती है। वहीं आत्मकथाओं में स्त्री ने अपने अनुभवों को स्वयं अभिव्यक्त करते हुए साहित्य में अनुभव की प्रामाणिकता को स्थापित किया।

प्रभा खेतान की आत्मकथा 'अन्या से अनन्या' तथा मैत्रेयी पुष्पा की आत्मकथात्मक रचनाएँ स्त्री-अनुभवों के महत्त्वपूर्ण दस्तावेज हैं।[15] इन रचनाओं में स्त्री अपने जीवन के संघर्षों, सामाजिक बंधनों, मानसिक द्वंद्वों और आत्मसम्मान की खोज को स्वयं शब्द देती है। इस प्रकार आत्मकथात्मक लेखन ने स्त्री-विमर्श को अधिक आत्मानुभूतिपरक, प्रामाणिक और वैचारिक रूप से सशक्त बनाया है।

भविष्य की संभावनाएँ

हिन्दी साहित्य में स्त्री-विमर्श का भविष्य अत्यंत व्यापक और संभावनापूर्ण दिखाई देता है। यह आशा की जा सकती है कि आने वाले समय में यह विमर्श और अधिक बहुवचनात्मक तथा अंत:विषयक होगा।[16] वर्तमान सामाजिक परिवर्तनों, तकनीकी विकास और वैश्विक संवाद की प्रक्रियाओं ने स्त्री-विमर्श के सामने नए प्रश्न और नई चुनौतियाँ उपस्थित की हैं। भविष्य का स्त्री-विमर्श केवल लैंगिक असमानता के प्रश्नों तक सीमित नहीं रहेगा, बल्कि सामाजिक न्याय, पर्यावरण, तकनीक, सांस्कृतिक पहचान और मानवीय अधिकारों के व्यापक संदर्भों से भी जुड़ता जाएगा। दलित, जनजाति, अल्पसंख्यक और क्वीयर स्त्रियों की आवाजें साहित्य में और अधिक सशक्त रूप से सामने आएँगी। इससे हिन्दी साहित्य में अनुभवों की विविधता और वैचारिक समृद्धि बढ़ेगी। अब साहित्य में उन समुदायों की स्त्रियाँ भी अपनी उपस्थिति दर्ज करा रही हैं, जिन्हें लंबे समय तक हाशिए पर रखा गया था। भविष्य में यह प्रवृत्ति और अधिक मजबूत होगी तथा स्त्री-विमर्श अधिक लोकतांत्रिक और समावेशी स्वर ग्रहण करेगा।

पर्यावरण, जलवायु परिवर्तन, प्रवासन, कृत्रिम बुद्धिमत्ता और डिजिटल जीवन जैसे नए प्रश्न भी स्त्री-विमर्श का हिस्सा बनेंगे। आधुनिक विकास मॉडल का प्रभाव स्त्रियों के जीवन पर गहरे रूप में पड़ रहा है, इसलिए भविष्य का साहित्य प्रकृति, श्रम, तकनीक और मानवीय संबंधों के अंतर्संबंधों पर भी विचार करेगा। डिजिटल माध्यमों के विस्तार से स्त्रियों को अभिव्यक्ति के नए अवसर प्राप्त होंगे, किंतु इसके साथ साइबर हिंसा, निजता और तकनीकी नियंत्रण जैसे प्रश्न भी विमर्श के केंद्र में आएँगे।

वस्तुत: भविष्य का स्त्री-विमर्श केवल विरोध तक सीमित नहीं रहेगा, बल्कि वैकल्पिक सामाजिक संरचनाओं, समानता और सह-अस्तित्व की संभावनाओं को भी सामने लाएगा।[17] हिन्दी साहित्य में यह विमर्श सामाजिक न्याय, लोकतांत्रिक मूल्यों और मानवीय गरिमा की स्थापना में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता रहेगा तथा समाज को अधिक संवेदनशील, न्यायपूर्ण और मानवीय दिशा प्रदान करेगा।

निष्कर्ष

हिन्दी साहित्य में स्त्री-विमर्श ने प्रारंभिक सामाजिक सुधारवादी स्वरूप से आगे बढ़कर आज एक व्यापक, बहुआयामी और वैचारिक आंदोलन का रूप ग्रहण कर लिया है। वर्तमान समय में यह विमर्श केवल स्त्री-पुरुष असमानता तक सीमित नहीं है, बल्कि जाति, वर्ग, धर्म, यौनिकता, श्रम, पर्यावरण और डिजिटल संस्कृति जैसे अनेक प्रश्नों से जुड़ चुका है। इस परिवर्तन ने स्त्री-विमर्श को अधिक व्यापक सामाजिक संदर्भ प्रदान किया है, जहाँ स्त्री-अनुभवों को उनकी विविध सामाजिक परिस्थितियों के साथ समझने का प्रयास किया जाता है। समकालीन हिन्दी साहित्य में स्त्री अब करुणा की पात्र नहीं, बल्कि आत्मचेतस, संघर्षशील और वैचारिक रूप से स्वतंत्र व्यक्तित्व के रूप में उभरती है। प्रभा खेतान, मृदुला गर्ग, मैत्रेयी पुष्पा और अनामिका जैसी रचनाकारों ने स्त्री-अस्मिता और प्रतिरोध को नए आयाम प्रदान किए हैं। इन लेखिकाओं ने स्त्री के मानसिक संघर्ष, देह, श्रम, स्मृति, आत्मनिर्णय और सामाजिक असमानताओं के प्रश्नों को गहरी संवेदनशीलता और वैचारिक गंभीरता के साथ अभिव्यक्त किया है। समकालीन साहित्य में स्त्री केवल सामाजिक संरचनाओं की पीड़िता नहीं, बल्कि परिवर्तन और प्रतिरोध की सक्रिय वाहक के रूप में दिखाई देती है। डिजिटल संस्कृति, वैश्वीकरण और लोकतांत्रिक संवाद ने स्त्री-विमर्श को नई अभिव्यक्तियाँ और व्यापक मंच दिए हैं। साथ ही दलित, जनजाति और क्वीयर स्त्रियों की आवाजों ने इसे अधिक समावेशी और लोकतांत्रिक बनाया है। इससे हिन्दी साहित्य में अनुभवों की बहुलता और वैचारिक विविधता को नई शक्ति प्राप्त हुई है।

इस प्रकार, उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि हिंदी साहित्य में स्त्री-विमर्श का भविष्य अत्यंत संभावनापूर्ण है। यह विमर्श सामाजिक न्याय, समानता और मानवीय गरिमा की स्थापना की दिशा में निरंतर महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता रहेगा तथा हिन्दी साहित्य को अधिक बहुवचनात्मक, संवेदनशील और लोकतांत्रिक बनाएगा। भविष्य में भी यह विमर्श बदलती सामाजिक चुनौतियों के साथ नए प्रश्नों और संभावनाओं को साहित्य के केंद्र में स्थापित करता रहेगा।

संदर्भ-

1. खेतान, प्रभा, स्त्री उपेक्षिता, हिंदी पॉकेट बुक्स, नई दिल्ली, 2003, पृ. 18।
2. पांडेय, मैनेजर, साहित्य और इतिहास दृष्टि, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2003, पृ. 172।
3. पचौरी, सुधीश, स्त्री देह के विमर्श, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2004, पृ. 63।
4. बैसंत्री, कौशल्या, दोहरा अभिशाप, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1999, पृ. 91।
5. खेतान, प्रभा, उपनिवेश में स्त्री, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2005, पृ. 77।
6. सोबती, कृष्णा, मित्रो मरजानी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2011, पृ. 67।
7. खेतान, प्रभा, बाजार के बीच: बाजार के खिलाफ, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2005, पृ. 94।
8. सिंह, नामवर, दूसरी परंपरा की खोज, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2001, पृ. 161।
9. खेतान, प्रभा, बाजार के बीच: बाजार के खिलाफ, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2005, पृ. 112।
10. त्रिपाठी, विश्वनाथ, समकालीन हिंदी साहित्य, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2010, पृ. 145।
11. मी टू आंदोलन: समकालीन सामाजिक संदर्भ, समकालीन अध्ययन प्रकाशन, नई दिल्ली, 2019, पृ. 52।
12. बटलर, जूडिथ, जेंडर ट्रबल (अनुवाद संस्करण), वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2012, पृ. 58।
13. वही, पृ. 73।
14. अनामिका, खुरदुरी हथेलियाँ, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2014, पृ. 39।
15. खेतान, प्रभा, अन्या से अनन्या, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2007, पृ. 121।
16. गुप्ता, रमणिका, स्त्री विमर्श: विविध पहलू, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, 2006, पृ. 133।
17. श्री, गीतांजलि, रेत समाधि, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2018, पृ. 167।

ज्ञान परम्परा में धर्म की प्रासंगिकता

युवराज धवन

एसोसिएट प्रोफेसर ऑफ हिंदी, डिपार्टमेंट ऑफ हिंदी, गवर्नमेंट, सिटी कॉलेज, नायपुल, हैदराबाद 500002, तेलंगाना

हमारे हिन्दू धर्म में "ऊँ''[1] के आकार का चिह्न सबसे पवित्र, शुभ, ब्रह्म का स्वरूप, आदि का सर्वोपरि माना जाता है। ऊँ को ब्रह्माण्ड की निरन्तर ध्वनि तथा मौलिक ध्वनि भी माना जाता है। ऊँ (ओम) को ब्रह्माण्ड की मूल ध्वनि भी माना गया है। इस ओम का उच्चारण करने से मन शरीर आत्मा पवित्र होती है तथा स्वस्थ रहती है। इसकी ध्वनि की गूँज ध्यान में तल्लीन योगी को ही आभासित होती है अन्य किसी को नहीं। ऊँ(ओम) का उच्चारण शरीर में अनेक स्थानों पर अपनी स्थिति को दर्शाता है जैसे 'अ' से पेट के निचले भाग में, 'ऊ' से छाती में और 'म' से मस्तिष्क में कम्पन उत्पन्न करता है। ऊँ संसार की सबसे सकारात्मक ध्वनि है। ऊँ के सही प्रयोग से मानव जीवन की समस्त समस्याओं का समाधान किया जा सकता है। यदि ऊँ का उचित एवं सटीक ढंग से उच्चारण किया जाये, तो ईश्वर को पाया जा सकता है। इस ऊँ की ध्वनि में साक्षात् ईश्वर की शक्ति समाहित है। इसमें पूरी सृष्टि भी समाहित है। समस्त मंत्रों के पूर्व ऊँ शब्द का होना अति आवश्यक है अन्यथा वह मंत्र कभी भी पूर्ण नहीं हो सकता है।

धर्म एक धारक तत्व है। धर्म की सम्पूर्ण विश्व का सत् है तथा उसकी ऊर्जा (प्राणवान शक्ति) भी है। धर्म अखिल ब्रह्माण्ड के अस्तित्व का आधार भी है। सम्पूर्ण विश्व का विनाश हो सकता है, परन्तु धर्म सदैव अस्तित्व में विद्यमान रहता है। धर्म विश्व की वस्तु नहीं है बल्कि वह विश्व का प्रत्यय है। धर्म को उपनिषद की 'मूलसत्ता' से उपमित किया जा सकता है। यह मूलसत्ता त्रिकाला बाधित है, क्योंकि वह भूत, वर्तमान और भविष्य में अखण्डित एवं अकाट्य है। जो त्रिकालाबाधित है वही सत्य है। ''जो कर्म है वही धर्म है जो धर्म है वही कर्म है।''[2]

ईश्वर की लीला को कोई भी नहीं जान सकता है। ईश्वर की लीला एक ऐसी लीला है जिसका आदि तथा अन्त कुछ भी नहीं है। यह जगत (संसार) का भी आदि अन्त कुछ भी नहीं है। यथा-

''ना सदासीन्नोसदासीत्तादानीं नासद्रिजो नो व्योम पारोयत।
किमावरीव: कुहकस्यशर्मन्नम्भ: किमासीद्रहनं गभीरं।।''[3]

अर्थात् सृष्टि उत्पत्ति से पूर्व असत् (सृष्टि का अस्तित्व) तथा सत् (जीवात्मा) नहीं थे। पृथ्वी, आकाश तथा सातो भुवन भी नहीं थे। आवरण (ब्रह्माण्ड) भी विलुप्त था। किसी का भी स्थान निश्चित नहीं था अर्थात् कहाँ था किसी को भी ज्ञात नहीं है उस समय दुर्गम एवं गम्भीर अथाह जलराशि (समुद्र और जाल) भी कहाँ था यह किसी को भी नहीं मालूम है। इसी संदर्भ को दर्शाता अन्य श्लोक इस प्रकार है-

''न मृत्युरासीदमृतंनतर्हिनरात्र्याहनआसीत्प्रकेत:।
आनादवातंस्वध्यातदेकंतस्माद्धान्यन्नपर:किंचनास।।''[4]

अर्थात् उस समय मृत्यु तथा अमरता नहीं थे। रात तथा दिन में भेद भी नहीं था। वायु शून्य और आत्मावलंबन से श्वास-प्रश्वास युक्त केवल एक ब्रह्म था इसके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं था।

मानव का मन हमेशा से जिज्ञासु रहा है उसका कारण यह है कि वह खुले संसार में बाद के बाद आया है। जन्म के पूर्व वह गर्भ में जेर के भीतर बन्द था। यह स्वाभाविक स्थिति है कि बाहर जाने के बाद कोई भी प्राणी बाहर की दुनिया को जानने की प्रबल इच्छा रखता है और इसी भावना के कारण मानव जाति की चेष्टा रही है कि वह बाह्य प्रतीकों का रहस्योद्घाटन एवं मूलभूत तत्त्वों को ग्रहण करना। मानव की यही जिज्ञासा धर्म की उत्पत्ति का कारण है। मनुष्य के अच्छे तथा बुरे कर्मों के निर्धारण के आधार पर ही पाप कर्मों तथा पुणकर्मों की विवेचना होती है। पाप कर्म एवं पुण्य कर्म इन दोनों का विश्लेषण ही व्यक्ति को एक अदृश्य शक्ति को ओर आकर्षित करता है। इस आकर्षण की शक्ति में ही उपासना (प्रार्थना) का भाव छिपा होता है। इस आकर्षण की अदृश्य शक्ति ने ही ईश्वर की कल्पना का आकार भी ग्रहण किया इसके पश्चात् भिन्न-भिन्न मान्यताएँ एवं आचार संहिताओं का निर्माण होने लगा। परिवर्तित कालखण्ड के साथ ही विविध धर्मग्रन्थों एवं उपासना पद्धतियाँ ईश्वर, ईसु, प्रभु, एवं अल्लाह के विचारों में प्रचलित हुई।

जब हम ईश्वर को संसार के समस्त कारणों का कारण तथा सृजनहार, पालक एवं संहारक इस दृष्टि से देखते हैं तो वह हमारी उपासना (पूजा) करने की वस्तु बन जाती है। उपासना की विभिन्न प्रणालियों के आधार पर उपासना भिन्न-भिन्न धर्मों में विभाजित होकर भिन्न रूप, रंग, नाम और पहचान बन जाता है। मानव जीवन के चार उद्देश्य धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष में से मोक्ष को ही मनुष्य जीवन का परम लक्ष्य माना गया है।

काम तथा अर्थ यह दोनों सांसारिक प्रवृत्तियाँ हैं। इसके ठीक विपरीत धर्म सांसारिक प्रयोजन का भाव रखते हुए भी परोपकारी जीवन प्रणाली है। यह अपने आराध्य के प्रति आस्थापूर्ण अंत:करण की प्रक्रिया अथवा आराधना है। धर्म मोक्ष के मार्ग से अध्यात्म तक पहुँचने का एक साधन है और आध्यात्मिकता का अन्तिम चरण तथा सत्य का प्रारम्भ है। सत्य ही परब्रम्ह स्वरूप है। परब्रह्म स्वरूप की प्राप्ति साक्षातकार, एकाकार की निवृत्ति अथवा मोक्ष है। या इसे यों कह सकते हैं कि आत्मा का अपने मूल स्वरूप में समाहित होना। इसके अतिरिक्त मोक्ष (निवृत्ति) से तात्पर्य यह समझना चाहिए कि जन्म मृत्यु के चक्रव्यूह

से मुक्त (निवृत्त) होना। यही जीवन की उच्चतम से उच्चतम स्थिति है। जिसे शब्दों के द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता है। मानव के जीवन में यह अत्यंत आवश्यक है कि जीवन-मरण के चक्र से मुक्त होने के लिए धर्म के प्रखर पण्डितों (ब्राह्मणों) द्वारा काल्पनिक ईश्वरीय प्रारूपों की उपासना करने के बजाय हमें सूक्ष्तम् और शुद्धतम् बनने का प्रयास करना चाहिए। इससे हम ईश्वरीय गुणों के अनुरूप बन सकते हैं तथा हम उस परब्रह्म से साक्षात् तारतम्य भी स्थापित कर सकते हैं। अत: यथार्थ रूप में यह कहा जा सकता है कि वास्तविक जीवन का अमृत केवल उसके लिए ही है जो अपने को तत्सम्बन्धी वांछित स्तर पर ला सके।

धर्म की परिभाषा इस प्रकार है-

धर्म असीम साक्षात् ज्ञान है।
धर्म पूर्ण निर्भरता की अनुभूति है।[1]

धर्म पूर्ण मस्तिष्क के रूप में अपूर्ण (ससीम) मस्तिष्क का ज्ञान है।

धर्म 'सत्य' की अनुभूति है। सत्य को पृथक-पृथक ढंग से सभी धर्म खोजने का प्रयास करते हैं। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड धर्म का साक्षात् रूप और अभिव्यक्ति है। ''धर्म समस्त आत्म-अनात्म की विधायक वृत्ति है।''

प्रत्येक धर्म अपने दो स्वरूपों में होता है। प्रथम भाग में केवल धर्म के नाम पर आडम्बर होता है अर्थात् भौतिक दिखावा। इसमें समय तथा साधनों की ईश्वर के नाम पर केवल बर्बादी ही होती है। सच्चे कर्म की पूर्ति या कर्तव्य की पूर्ति नहीं होती है। ऐसे ही धर्माडम्बरों से सम्प्रदाय (आतंकवाद) की उत्पत्ति हुई है। भौतिकवादी बाजारु गुरू, मौलवी, पादरी, संत तथा महात्मा कुकुरमुत्तों की तरह ऐसे ही सम्प्रदायों से उगते हैं जो समस्त मानव सभ्यता के अमन-चौन को बर्बाद करते हैं। ये परस्पर दंगा-फसाद करवा करके धर्म नहीं अपितु शैतान का काम करते हैं।

धर्म का द्वितीय भाग है वास्तव में मनुष्य अपने चारों मूल जैविक कर्तव्यों (धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष) को सात्विक तरीके से निभाता रहे यही वास्तविक कर्म है। इन कर्तव्य कर्मों कि क्रिया करते समय अपनी दैनिक जीवन शैली में कदम-कदम पर अपने इष्ट की मौजूदगी का ध्यान रखे। तथा सत्य, अहिंसा, प्रेम, अपरिग्रह, आस्तेय, दया, करुणा तथा स्वहित आदि इन आठ गुणों के साथ दूसरों के हित का भी ध्यान रखते हुए ईर्ष्या तथा घृणा से बचता हुए जीवन यापन करे यही धर्म का सार है।

धर्म के सम्बन्ध में गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी श्रीरामचरित मानस में कहा है कि-

''परहित सरिस धर्म नहिं भाई।
पर पीड़ा सम नहिं अधमाई।।''[6]

भगवान श्रीकृष्ण जी भी श्रीमद्भगवद्गीता में यह कहते हैं कि-

स धारयति इति धर्म:।

हमारे ऋषि-मुनियों ने हमेशा से सत्य मार्ग पर चलकर एक ऐसे धर्म की स्थापना की और उसका प्रचार-प्रसार भी किया जो प्रत्येक प्राणी के सुखी जीवन की कामना करता है-

''सर्वे भवन्ति सुखिन: सर्वे सन्तु निरामया।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कष्चिद् भागभवेत्।।''[7]

निष्कर्ष

प्राचीन काल से ही मनुष्य अपने ही भाई-बहनों के खून का प्यासा बना रहा है। हमारा इतिहास अधिकतम लड़ाईयों की पीड़ादायक वृत्ति एवं रक्ति रंजित काले पन्नों से ही भरा पड़ा है। इसी कालिमा को समाप्त करने के लिए ही धर्म की उत्पत्ति हुई। धर्म में पुरुषार्थ के चार चतुष्ट्य समाहित हैं। ये पुरुषार्थ धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष हैं। मानव का जीवन जन्म-मृत्यु का चक्रव्यूह है। धर्म इस चक्रव्यूह के घेरे को समाप्त करने की युक्ति बताता है। धर्म का फल अदृश्य फल देने वाला होता है। धर्म का आचरण करने में हमें अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है परन्तु ये कठिनाइयाँ हमारे ज्ञान और समझ में वृद्धि करती हैं। धर्म में तेज, क्षमा, धैर्य, पवित्रता, करुणा, दयालुता तथा कोमलता आदि गुण समाहित रहते हैं। धर्म की कोई क्रिया विफल नहीं जाती है। धर्ममय आचरण करने पर हमें ही नहीं, बल्कि सम्पूर्ण मानव समाज को धर्म का वास्तविक स्वरूप ज्ञात होता है।

संदर्भ

1. ऊँ(ओम) का स्वरूप ब्रह्माण्ड की मूल ध्वनि, आध्यात्मिक प्रतीक और तीन देवों (ब्रह्मा, विष्णु, महेश) का संयुक्त रूप है। जो सृष्टि, पालन और संहार का प्रतिनिधित्व करता है। ओम् (ऊँ) की संरचना अ+उ+म इन तीन वर्णों की संधि से हुई है। यह तीन गुणों (सत्, रज, तम) तथा तीन अवस्थाओं (जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ता) को भी दर्शाता है।
2. आदिवासी हिन्दी उपन्यासों में संवेदना-डॉ. दीपक कुमार, पृ. 75, संस्करण 2020 समता प्रकाशन कानपुर।
3. ऋग्वेद मण्डल 10, सूक्त 128
4. वही 10/129
5 The Path of Buddha-U.k~ Thithila Page-29
6. श्रीरामचरितमानस-गोस्वामी तुलसीदास
7. नीतिसार

रघुवीर सहाय के काव्य में चित्रित नारी संवेदना

डॉ० जागीर नागर

सहायक आचार्य, हिन्दी विभाग, इंदिरा गांधी विश्वविद्यालय मीरपुर, रेवाड़ी (हरियाणा)

शोधालेख सार

मानव स्वभाव से संवेदनशील और भावुक है। मानव शरीर का निर्माण कुछ ऐसे तत्वों से हुआ है कि सुख-दु:खात्मक विषयों के प्रति उसका स्नायुमण्डल अत्यन्त संवेदनशील रहता है। संवेदना और काव्य का अटूट सम्बन्ध है। कोई कवि जब भी कोई कविता लिखता है उसके भीतर संवेदना अवश्य ही अपरिपक्व या परिपक्व अवस्था में निहित होती है। संवेदना साधारण व्यक्ति में भी उत्पन्न होती है, परन्तु साहित्यकार में इसका अधिग्रहण विशेष रूप से होता है।

रघुवीर सहाय नई कविता के महत्त्वपूर्ण कवि है। इनकी कविताओं में वह बीज निहित है जिसने छठे दशक में कवि के अनुभव और यथार्थ चित्रण को उकेरा है। इनके काव्य ने नई कविता की पहचान कायम करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की है। उन्होंने सामाजिक सम्बद्धता और प्रतिबद्धता को अपनी कविताओं का प्रतिपाद्य बनाया है। उनके काव्य में समाज अपनी सम्पूर्णता में व्यक्त हुआ है। चाहे पुरुष हो या स्त्री, शिशु हो या समाज अथवा नगरध्महानगर सभी उनके काव्य में चित्रित हुए हैं। इन प्रसंगों के चित्रण की गहराई को देखते हुए कहा जा सकता है कि रघुवीर सहाय नारी विषयक संवेदना के सच्चे प्रेमी है। स्त्री, शिशु, शहर, नगर सभी की समस्याओं से वे वाकिफ हैं, रूबरू हैं।

मूल शब्द: नई कविता, पितृसत्तात्मक, नारी अस्मिता, नारी संवेदना।

भूमिका

नारी विधाता की सर्वोत्तम रचना है। वह कमला है, बिमला है, वागेश्वरी है, शक्ति है। वह पुरुष की अपूर्णता को पूर्ण करने वाली आद्या शक्ति है, किंतु फिर भी समाज ने उसे हमेशा हाशिए पर रखा है। वह पत्थर की देवी की पूजा तो कर सकता है कि किंतु अपने घर में, समाज में उसे इंसान होने का हक तक नहीं दे सकता। वह उसे अपने पांव की जूती समझता है। उसे नोंचने, खसोटने और शोषण करने का अपना अधिकार समझता है। उसी स्त्री की दशा को देखकर उससे जुड़े चिंतन विमर्श आज साहित्य का केन्द्र बिंदु बन गए है। यह सब समय की मांग है। चारों तरफ समाज में, साहित्य में स्त्री की दशा में परिवर्तन हो रहा है। समय के साथ-साथ परिवर्तन होता है जिस वस्तु को जितना दबाया जाता है वह उतनी ही तीव्रता से आगे बढ़ती है। यह आज स्त्री की स्थिति के साथ हो रहा है। युग-युग से बंदिनी नारी का जितना शोषण हुआ है वह उतने ही आक्रोश के साथ अपनी स्थिति के प्रति जागरूक होकर आगे बढ़ रही है। स्त्री की यौनिकता और श्रम पर नियंत्रण रखने वाला पुरुष प्रधान समाज स्त्रियों को अपनी सम्पत्ति समझता है। बड़े प्यार और दुलार से अर्थात् पितृवत संरक्षण देते हुए स्त्री को अपने अधीन रखने की ऐसी साजिश रची गयी है कि आज तक समाज की मानसिकता पर अपना शिकंजा कसे हुए है।

आज की नारी पुरुष समाज के द्वारा बनाए तिलिस्म को तोड़कर समझकर आगे बढ़ रही है। वह भी अपने अधिकार और कर्तव्यों को जान रही है। उसे भी यह अहसास हो चुका है कि वह भी मनुष्य है। उसे भी जीने का हक है। वह यह जान चुकी है कि पुरुष प्रधान समाज में उसके शोषण के उपकरण कौन-कौन से है। आज स्त्री देह की अवधारणा से मुक्त होना चाहती है। देह की सुडौलता, अंगों की बनावट के साथ ही उस पर सबसे ज्यादा अत्याचार होते आए है। इसलिए वह देह की राजनीति से मुक्ति के लिए आगे बढ़ रही है।

पुरुष नर मनुष्य है और स्त्री मादा मनुष्य, लेकिन मनोविश्लेषकों ने पुरुष को मनुष्य और स्त्री को मादा माना है और कहा है कि जब भी स्त्री पुरुष की तरह व्यवहार करती है, उसे पुरुषों की नकल की कोशिश बता दिया जाता है। कहने का अभिप्राय यह है कि स्त्री को मनुष्य का दर्जा भी प्राप्त नहीं है। स्त्री अस्मिता की लड़ाई स्त्री को मनुष्य का दर्जा दिलाने की लड़ाई है, जिसकी अभी शुरुआत हुई है।

रघुवीर सहाय के काव्य में भी हाशिये पर धकेल दी गई नारी की पीड़ा, घुटन एवं आक्रोश का चित्र उकेरा गया है। उसका दु:ख उसका निर्जन है, जहाँ कोई भी उसका दु:ख बाँटने के लिए नहीं है। वह सहती जाती है अपना दु:ख अपने निर्जन में। वह हर दिन शोषण का शिकार हो रही है। "रघुवीर सहाय स्त्री की इस स्थिति के प्रति अति भावुक न होकर, कहीं उसकी पूरी परिस्थिति का वर्णन करते दिखते हैं तो कहीं इस परिस्थिति के लिए उसी को दोषी ठहराते हैं तो कहीं स्त्री को उसकी अस्मिता की पहचान कराते दिखते हैं।"[1] पढ़िए गीता कविता के माध्यम से कवि ने नारी की कल्पित मर्यादा के महल को गिरा दिया है। वे नारी को आदर्श के जाल से बाहर लाकर हकीकत की दुनियाँ में खड़ा कर देते हैं -

पढ़िए गीता
बनिए सीता
फिर इन सबमें लगा पलीता

किसी मूर्ख की हो परिणीता
निज घरबार बसाइए।
होंय कँटीली
आँखें गीली
लकड़ी सीली, तबियत ढीली
घर की सबसे बड़ी पतीली
भर कर भात पसाइए।[2]

इस कविता में कवि ने नारी की कल्पित मर्यादा को ढहाया है साथ-साथ निम्न मध्यमवर्गीय नारी की पूरी जीवन कथा को भी प्रस्तुत कर दिया है। इस कविता में करुणा एवं व्यंग्य का सुंदर समावेश है।

रघुवीर सहाय लिखते हैं कि -"हिंदी साहित्य में स्त्री के प्रति यह भावना बार-बार व्यक्त हुई है कि वह उपेक्षिता है इसलिए दया की पात्र है। आधुनिक कहे जाने वाले इस साहित्य में पुरुष से उसके शरीर-सम्बन्ध को विशेष महत्त्व दिया गया है। पर वहाँ भी उसके प्रति दया का भाव रचनाकार के मस्तिष्क से गया नहीं है - मानो आधुनिक जीवन के पुरुष-नारी समता के विचार ने लेखक को स्पर्श ही न किया हो और वह पिछले जमाने के सामंती मन से ही नारी को देख रहा हो।"[3]

'किले में औरत' कविता में कवि ने नारी के हृदय में व्याप्त घुटन, टूटनए वं छटपटाहट का चित्रण किया है ।किस प्रकार किले की चारदीवारी में कैद नारी का जीवन पशुओं से भी बदतर हो जाता है। हंसना,बोलना तो दूर उसकी सांसे भी घुटने लगती है।पुरुष नारी का शोषण किस हद तक कर सकता है, यह बीमार बुढ़िया की स्थिति से सहज ही पता चल जाता है।

उस घर में बीस औरतें थीं
उनमें थी सिर्फ एक बुढ़िया
वे धोती थी वे मलती थी वह हंसती थी
वे कभी सोचती थी चुपचाप ना जाने क्या
वे कभी से सिसकती थी अपने सबके आगे।
उस दिन बुढ़िया बीमार पड़ी
मर्दों ने कहा औरतों की बीमारी है
वह बुढ़िया औरत के रहस्य
उन बीस जनों के औरतपन की गठरी बन
कोने में जा करके पहुड़ रही
वह पहुड़ी रही साल भर तक फिर गुजर गई
औरतें उठीं घर धोया
मर्द गए बाहर
अरथी लेकर।[4]

किस तरह औरत की कोख से जन्म लेने वाला पुरुष बुढ़ापे में उसका सहारा बनने की जगह उसके बुढ़ापे को औरतों की बीमारी का नाम देकर उसका मजाक उड़ाता है और उसके मर जाने पर सारे घर को धोया जाता है ताकि उसकी बीमारी घर में न रह जाये। इसी तरह श्बड़ी हो रही लड़कीश, उसका निर्जन, औरत का सीना, बैंक में लड़कियाँ आदि कविताओं में भी रघुवीर सहाय ने नारी की वेदना का चित्रण किया है। समाज में स्त्रियों पर अनेक पारिवारिक जिम्मेदारियों का बोझ लादकर उन्हें घर की चारदीवारी में कैद कर दिया जाता है। ये पीड़ित नारियां अपना संपूर्ण जीवन इसी प्रकार एक दासी के समान व्यतीत करने के लिए विवश है।औरत के दर्द, आह, आँसू का चित्रण 'औरत की जिन्दगी' कविता में किया गया है -

कई कोठरियाँ थीं कतार में
उनमें किसी में एक औरत ले जायी गयी
थोड़ी देर बाद उसका रोना सुनाई दिया
उसी रोने में हमें जाननी थी एक पूरी कथा
उसके बचपन से जवानी तक की कथा।[5]

थोड़े से शब्दों में कवि ने नारी की व्यथा का वेदनापूर्ण चित्रण किया है। कोठरी के भीतर से आती हुई औरत के रोने की आवाज पुरुष वर्ग द्वारा किये जाने वाले शारीरिक शोषण का उदाहरण है। बचपन से लेकर जवानी तक वह पुरुष वर्ग के हाथों में कठपुतली की भांति नाचती रहती है। उसका शरीर ही उसका सबसे बड़ा दुश्मन बन गया है। जब-जब पुरुष के द्वारा उसकी देह को नोचा गया तब-तब उसके गर्भ में दु:ख का जन्म हुआ। वह क्रूर पुरुष के हाथों में पड़कर जब-जब बिस्तर पर घुटने मोड़ती है तब-तब उसका हृदय वेदना पूरित हो उठता है।

हर स्त्री के
गर्भ में रहते हैं
उसके आने वाले क्लेश।
जब वह घुटने मोड़कर
करवट लेती हो
तब देखोगे कि तुम
देख रहे हो कि
उस पर अन्याय होंगे ही।[6]

नारी शोषण का प्रारंभ तो परिवार से ही हो जाता है। जब परिवार में ही उन्हें यातना झेलनी पड़ती है, तो समाज की तो बात ही दूर है। परिवार ने उनके लिए अलग-अलग पैमाने निर्धारित कर दिए हैं। जिस पैमाने में रहकर स्त्रियाँ घुटन महसूस करती हैं। राकेश कुमार का मत है कि - "स्त्री का दमन पैतृक परिवारों की मूल्य व्यवस्था ने ही किया है। सार्वजनिक क्षेत्र में स्त्री का स्तर कुछ भी क्यों न रहा हो लेकिन परिवार में आते ही वह दमन का शिकार होने लगती है। इसलिए परिवार स्त्री के लिए खुली दास्ता है जो उसकी रचनात्मक बौद्धिक शक्ति को नष्ट करता है।"[7]

रघुवीर सहाय की कविताओं में यह है स्पष्ट दिखाया गया है घर, समाज में किस तरह नारी का शोषण किया गया है, इसकी कल्पना तक नहीं की जा सकती। उनके हावभाव और चेहरे से ज्ञात हो जाता है कि पुरुषों ने किस हद तक उन पर अत्याचार किये हैं। खड़ी स्त्री, चढ़ती स्त्री एक लड़की तथा अभी तक खड़ी स्त्री आदि कविताओं के माध्यम से कवि ने स्त्रियों के जीवन की विडम्बना को अभिव्यक्ति दी है -

वह खड़ी थी
दुबली और थकी
और मुझे लगा कि वह खड़ी ही रहेगी
क्योंकि ऐसे ही वह पूर्ण होती है।[8]

पुरुष की वास्तविकता यह है कि अपने समस्त संस्कारों की दुहाई देते हुए वह साबित करते नहीं सकता कि हमारी व्यवस्था में स्त्री का स्थान अत्यंत महत्वपूर्ण और केंद्रीय है ।लेकिन व्यवहार में वह उसे लगातार हासिये पर धकेलता रहता है। स्त्रियों ने अपने ऊपर थोपी गई इस स्थिति को लंबे समय तक अनिवार्य नियति मानकर झेला तथा पुरुष सत्तात्मक व्यवस्था में आत्मनिर्णय के अधिकार से वंचित रहकर अनेक बार तो मृत्यु से भी दारुण अभिशप्त जीवन भोगा।

रघुवीर सहाय नारियों पर हो रहे अत्याचार-शोषण तथा नारियों को स्वयं अपनी इस स्थिति से अनभिज्ञ पाकर दोहरी चिंता से ग्रस्त है। कवि ने नारियों के जीवन का बड़ी सूक्ष्मता से विश्लेषण कर केवल उनकी पीड़ा व व्यथाओं को ही चिन्हित नहीं किया अपितु उन कारणों की भी खोज की हैं जिनकी वजह से समाज में नारी शोषण का शिकार होती आ रही है। स्त्री की दशा के प्रति चिंतित होते हुए कवि ने श्अभी तक खड़ी स्त्रीश् कविता में कहा है -

ग्रीष्म फिर आ गया
फिर हरे पत्तों के बीच
खड़ी है वह
ओंठ नम
और भरा-भरा सा चेहरा लिये
बदली की रोशनी सी नीचे को देखती
निरखता रह
उसे कवि/न कह
न हँस/न रो
कि वह
अपनी व्यथा इस वर्ष भी नहीं जानती।[9]

सुरेश शर्मा के अनुसार-"इस कविता के माध्यम से कवि का आग्रह है कि 'शोषण का शिकार पहले अपनी स्थिति की पहचान करें, फिर अपनी मुक्ति हेतु शोषक वर्ग के विरुद्ध खड़े हों क्योंकि शोषक वर्ग के विरुद्ध निर्णायक लड़ाई अंतत: शोषित वर्ग स्वयं ही लड़ता है।"[10]

आज भी नारी वर्तमान सामाजिक स्थितियों के बीच अनेक चिंताओं से घिरी हुई है। कवि इसी बात को स्पष्ट करता है कि वह इतनी व्यथाओं और चिंताओं से घिरी होने पर भी अपनी व्यथा के कारणों को क्यों नहीं पहचानती। क्योंकि जिस दिन वह अपनी व्यथा के कारणों की खोज में आगे कदम बढ़ाएगी वह उसके मुक्ति संघर्ष की तरफ बढ़ने वाला कदम होगा।

रघुवीर सहाय वर्तमान समाज में स्त्री की नियति तथा गुलाम स्थिति को लेकर क्षुब्ध हैं। इसलिए वे नारी को जागरूक करते हुए कह उठते हैं कि -

हमारी हिन्दी एक दुहाजू की नयी बीबी है
बहुत बोलने वाली बहुत खाने वाली बहुत सोने वाली
घर से तो खैर निकलने का सवाल ही नहीं उठता
औरतों को जो चाहिए घर ही में है
एक महाभारत, एक रामायण है तुलसीदास की भी
राधेश्याम की भी।[11]

यहाँ राष्ट्रभाषा हिन्दी को दुहाजू की बीबी कहकर कवि ने वर्तमान समाज में नारी की स्थिति का रूपक बांधा है। औरत को घर की चारदीवारी में देवी बनाकर यह अहसास नहीं होने दिया जाता कि वह अपने अस्तित्व की पहचान के लिए आगे बढ़ें।

राजेश रेड्डी के अनुसार–"पुरुष समाज में स्त्री की स्थिति, उसकी अपनी मानसिकता और कमी का एक गहन विश्लेषण है। पर उसमें स्त्री पीड़ा अधिक है, जुझारूपन कम।"[12] किंतु रघुवीर सहाय ने औरतों के संघर्ष का, जुझारूपन का वर्णन परोक्ष ढंग से किया है। वे कम शब्दों के माध्यम से बड़ी व्यथा को चित्रित करते हैं। वे पुरुष प्रधान समाज के द्वारा नारी के शोषण की व्यथा को कम शब्दों में बतला देते हैं। "वे कभी नारी को अपने आप सुंदर होने की बात कह जाते हैं तो कभी उसको यह बतला देते हैं कि उसका चेहरा ही उसका विद्रोह है। इस पुरुष प्रधान समाज ने नारी का शोषण किया और शोषण के सिलसिले को जारी रखने के लिए उसकी उदासी में सुन्दरता देखने की कोशिश की। सुन्दरता के इस बहकावे में आकर स्त्री पुरुष की चालाकी को नहीं ताड़ पाती और शोषित होती जाती है।"[13] रघुवीर सहाय ने नारी शोषण का चित्र तो खींचा ही है साथ ही पुरुष वर्ग की इस चालाकी का भी पर्दाफाश किया है जिसके द्वारा वह नारी का शोषण करता आ रहा है। कवि ने नारी को उसकी अस्मिता की पहचान कराते हुए लिखा है –

तू सुन्दर है
इसलिए नहीं की डरी हुई है
तू अपने में सुन्दर है।[14]

नारी के संघर्ष का भी कवि ने चित्रण किया है। वे उसकी सहनशीलता का घोर विरोध करते हैं और उसे अपने हक के लिए, अपनी अस्मिता को बचाने के लिए, शोषण की पीड़ा से मुक्त होने के लिए प्रेरित करते हैं –

यह इस समाज में है औरत की विडम्बना
हर बार उसे मरना होता है।
वह उसे हँसाता रहता है
वह अपने सस्ते रंगमंच पर
उसे खेलाता रहता है।
औरत का चेहरा है उदास
पर वह करती है अट्टहास
उसके भीतर की एक गरज

अनमनी चीख बन जाती है।[15]

रघुवीर सहाय अपनी कविताओं के माध्यम से स्त्री जीवन का सूक्ष्मता से विश्लेषण कर उनके कष्ट–दुख एवं पीड़ा से ही मुक्ति नहीं दिलाना चाहते बल्कि उनका मुख्य प्रयास उन कारणों को भी जानना है जिनके कारण स्त्री अब तक शोषण का शिकार होती आ रही हैं। रघुवीर सहाय की कविताएं स्त्री पर हो रहे अत्याचार, शोषण एवं अन्याय का विरोध करती हैं तथा उनकी दयनीय स्थिति में क्रान्तिकारी बदलाव लाने का प्रयास करती हैं। समाज में नारी अपने पारिवारिक कर्त्तव्यों एवं दायित्वों से किसी भी प्रकार से स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं कर पाती है। स्वतन्त्रता पूर्व से ही भारतीय समाज में नारियों की दशा अत्यन्त दीन–हीन व दयनीय रही है। आजादी मिलने के पश्चात् भी उनकी स्थिति में कोई विशेष परिवर्तन नहीं आया है। आज भी उनके साथ शोषण, अत्याचार, अन्याय और उनके अधिकारों का हनन समाज में किया जा रहा है। वे नारी को जागरूक बनाना चाहते हैं। उनमें समाज को समझने की शक्ति भरना चाहते हैं। वे चाहते हैं कि नारी उन सभी रूढ़ियों, परम्पराओं और मर्यादाओं की दीवारों को गिरा दे जो पुरुष प्रधान समाज ने उसके ध्लिए खड़ी कर रखी हैं। जब तक वह स्वयं इन दीवारों को गिराने का प्रयत्न नहीं करेगी उसका शारीरिक और मानसिक शोषण होता रहेगा। क्योंकि –

नारी बिचारी है
पुरुष की मारी है
तन से क्षुधित है
मन से मुदित है
लपककर झपककर
अन्त में चित है।[16]

भारतीय-समाज पितृसत्तात्मक समाज है तथा पितृ प्रधान समाज में स्त्री की स्थिति अधीनस्थ की है। इस पितृ प्रधान समाज में पुरुष को यह कदापि स्वीकार्य नहीं कि स्त्री उससे आगे निकल जाए अत: वह सदैव उसे अपने नियंत्रण में रखना चाहता है क्योंकि वह यह जानता है कि नारी में इतनी क्षमता है कि वह उसे चुनौती दे सकती है और उसके वर्चस्व को समाप्त कर सकती है। पुरुष को यह भय है कि नारी अपनी वास्तविक शक्ति को पहचान कर उसकी बनी बनाई सत्ता को कहीं खत्म न कर दे। अत: हमारा पितृसत्तात्मक समाज शुरू से ही नारी को नियंत्रण में रखने की कोशिश उपक्रम में जुट जाता है। जब तक नारी अपनी मुक्ति के लिए आगे बढ़कर पुरुष की इस सोच को नहीं बदल देगी कि वह उसके आगोश का खिलौना मात्र नहीं है तब तक वह शोषित होती रहेगी।उसे पितृसत्तात्मक ढांचे के विरुद्ध अपनी आवाज उठानी ही होगी -

तोड़ो तोड़ो तोड़ो
ये पत्थर ये चट्टानें
ये झूठे बन्धन टूटें।[17]

वे स्त्री को पुरुष की दया पर निर्भर नहीं, बल्कि अपने अधिकारों के लिए लड़ने वाली आत्मनिर्भर और स्वतंत्र इकाई के रूप में चित्रित करते हैं।तभी तो वह भी हुंकार उठी है -

शक्ति दो, बल दो, हे पिता
जब दुख के भार से मन थकने आय।[18]

रघुवीर सहाय ने स्त्रियों के साथ होने वाले शोषण, पीड़ा, यातना और उनकी करुणगाथा का चित्रण करते हुए स्त्रियों की पितृसत्तात्मक समाज में मिटते हुए उनके अस्तित्व और अस्मिता पर सवाल खड़ा करके समूचे समाज पर अपनी कविता के जरिये तंज कसते हुए उनके द्वारा किए जाने वाले अमानवीय व्यवहार का पर्दाफाश किया है। उनकी कविता में स्त्रियों की स्थिति का जीवंत और यथार्थ स्वरूप दिखाई देता है। रघुवीर सहाय यह स्वीकार करते हैं कि नारी के अन्दर एक ऐसी आग है, आत्मप्रेरणा शक्ति है जो सदैव उसके साथ रहती है। यह आन्तरिक शक्ति जहाँ उसे हर स्थिति में सम्बल प्रदान करती है वहीं सामाजिक अन्याय, अपंगता के विरुद्ध लड़ने की शक्ति, हौसला भी देती है। वह अपनी अन्ततरात्मा से उद्वेलित होकर ही सामाजिक बँधनों, रूढ़ियों को तोड़ने के लिए विद्रोह कर उठती है।

निष्कर्ष:

रघुवीर सहाय ने नारी के प्रति गहरी संवेदना तो व्यक्त की ही है साथ ही उसे आगे बढ़ने के लिए प्रेरित भी किया है। कवि नारी को सामाजिक कुप्रथाओं और परम्पराओं में जकड़ा हुआ और संघर्ष करता हुआ पाता है तो उसके संघर्ष को वाणी देते हुए उसे शक्ति प्रदान करता हैं। सदियों से पीड़ित, व्यथित नारी रघुवीर सहाय की वाणी पाकर सचमुच अपनी व्यथा के कारणों को जानकर संघर्ष की राह पर चल पड़ी है।

संदर्भ-

1. अमिय कुमार साहू, रघुवीर सहाय और श्री कांत वर्मा की कविता, संजय प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 37
2. सं.सुरेश शर्मा, रघुवीर सहाय, रचनावली, खण्ड 1, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 79
3. रघुवीर सहाय, लिखने का कारण, राजपाल एंड संस, नई दिल्ली, पृ. 81
4. वही, पृ. 166
5. वही, पृ. 161
6. वही, पृ. 223
7. कुसुमलता केडिया, स्त्रीत्व: धारणाएं एवं यथार्थ, पृ. 150
8. वही, पृ. 126
9. वही, पृ. 127
10. सुरेश शर्मा, रघुवीर सहाय का कवि कर्म, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 82
11. वही, पृ. 137
12. आलोचना (अक्टूबर-दिसम्बर, 1989), पृ. 13
13. अमिय कुमार साहू, रघुवीर सहाय और श्रीकांत वर्मा की कविता, पृ. 39
14. रघुवीर सहाय रचनावली, खण्ड 1, पृ. 190
15. वही, पृ. 250
16. वही, पृ. 92
17. वही, पृ. 93
18. वही, पृ. 60

समकालीन हिंदी कविता में सामाजिक संवेदना के विविध स्वर

डॉ० सुमन रानी

सहायक आचार्य, हिन्दी, श्री लालनाथ हिन्दू कॉलेज, रोहतक (हरियाणा)

शोधालेख सार:

समकालीन हिंदी कविता में सामाजिक संवेदना एक केंद्रीय और सक्रिय तत्व के रूप में चित्रित है। यह केवल भावनात्मक प्रतिक्रिया नहीं, बल्कि समाज के यथार्थ, विसंगतियों, संघर्षों और परिवर्तन की आकांक्षा का सृजनात्मक प्रतिफलन है। 1960 के बाद की हिंदी कविता में यह प्रवृत्ति विशेष रूप से स्पष्ट दिखाई देती है, जहाँ कवि अपने समय के सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक संदर्भों से गहरे स्तर पर जुड़ते हैं।

मूलशब्द: समकालीन हिंदी कविता, समाज, साहित्यकार, मानव स्वभाव, सामाजिक संवेदना।

भूमिका:

साहित्य का केंद्र मनुष्य रहता है और मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। साहित्यकार अपने काव्य में मानव की भावनाओं, अनुभूतियों एवं विचारों को ही लिपिबद्ध करता है। साहित्यकार एक आम मनुष्य की अपेक्षा अधिक संवेदनशील और भावुक होता है। आस-पास घटित हो रही घटनाएं, दृश्य, परिस्थितियां आदि उसकी संवेदना को आंदोलित करते रहते हैं परंतु प्रत्येक साहित्यकार की भिन्न परिस्थितियां, भिन्न मूल्य दृष्टि और भिन्न मानसिक गतिशीलता उसे समाज के विशेष पक्ष की ओर अग्रसर करती है। इसी स्तर पर दो अलग-अलग साहित्यकारों की संवेदना अलगाव को प्राप्त करती है और किसी विशेष पक्ष से परिचालित कवि की सामाजिक चेतना ही उसे काव्य रचना की प्रेरणा देती है।

डॉ गोविंद त्रिगुणायत के अनुसार -"जब-जब समाज विविध विकृतियों के कारण कुंठित होने लगता है, उसकी चेतना निष्क्रिय होने लगती है। उसकी आत्मा कलुषित हो उठती है, तब-तब साहित्य ही उसको नई चेतना और जीवन प्रदान करता है। साथ ही उसमें नहीं प्राण प्रतिष्ठा करता है, यहां तक की उसका कायाकल्प कर देता है।[1]

व्यक्ति समाज की आधारभूत इकाई है। वह एक सामाजिक प्राणी है। उसे अपनी दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु दूसरों पर निर्भर रहना पड़ता है, क्योंकि मनुष्यदृमनुष्य से पृथक् होकर अपने अस्तित्व की रक्षा नहीं कर सकता और न ही उसका बौद्धिक और सांस्कृतिक विकास संभव है। इन सबके लिए उसे अपने आसदृपास के व्यक्तियों से सम्बन्ध स्थापित करने होते हैं और वही आपसी सम्बन्ध संगठित रूप में समाज के स्वरूप को निर्मित करते है। ये सामाजिक सम्बन्ध अमूर्त होते हैं, इनका कोई स्थूल रूप नहीं होता। इन्हें केवल महसूस किया जा सकता है।

डॉ. सम्पूर्णानन्द ने समाज शब्द को स्पष्ट करते हुए कहा है कि - 'जिसमें लोग मिलकर एक साथ, एक गति से चलें, वही समाज है। तात्पर्य यह है कि उन लोगों की जो समाज का अंग हों, परिस्थितियां एक सी हो, उनके प्रयत्न और उद्देश्य एक से हों।[2]

कैलाशनाथ जेटली के अनुसार - 'मनुष्य और समाज एक दूसरे से जुड़े हुए हैं। व्यक्ति और समाज में सौम्य सम्बन्ध हैं। इसलिए कहा गया है कि जहाँ कहीं जीवन है, वहाँ समाज भी है।[3]

समाज में रहना मनुष्य की प्रकृति है। अपनी इसी प्रकृति के कारण ही वह अनेक समुदाय बनाकर सम्बन्ध स्थापित करता है। इन्हीं सम्बन्धों में ही समाज की सार्थकता और पहचान दिखाई देती है।

मनुष्य स्वभाव से संवेदनशील और भावुक होता है। वह दूसरों के सुख-दुख को देखकर स्वयं भी वैसा ही अनुभव करता है। जो कुछ उसके मन में घटित हो रहा होता है वह संवेदना का ही रूप है। संवेदना एक सामान्य शिशु से लेकर प्रोढ़ तक सभी में होती है। मनुष्य की परिस्थितियों, जीवन मूल्यों और मानसिक गतिशीलता से निर्धारित होता है कि समाज का कौन सा पक्ष उसकी संवेदना को अधिक प्रभावित करता है।

प्राचीन भारतीय साहित्य में संवेदना का अर्थ अपेक्षाकृत गहन है।

'संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ' में कृष्संवेदना का अर्थ प्रतीति, बोध, अनुभव करना, जताना एवं प्रकट करना दिया गया है।[4]

आचार्य नन्दकिशोर ने भी संवेदना शब्द की व्यापकता एवं महत्ता का प्रतिपादन करते हुए लिखा है कृष्साधारणतया संवेदना शब्द को 'Sensibility' के माध्यम से समझाने की चेष्टा की जाती है, जबकि संवेदना शब्द का अर्थ सम्भवत: 'सेंसिबिलिटी' से अधिक गहरा एवं व्यापक है। संस्कृत के 'विद्' से उत्पन्न होने के कारण इसका अर्थ अंग्रेजी शब्द 'Knowledge' एवं 'Understanding' भी इसी सीमा में आ जाते हैं। इस प्रकार एक सीमा तक बौद्धिक चेतना भी संवेदना के अर्थ में समाहित है।[5]

अत: स्पष्ट है कि हिंदी साहित्य तक आते-आते संवेदना शब्द के अर्थ में थोड़ा अन्तर जरूर आ गया परन्तु संवेदना पहले भी और आज भी कवि को काव्य लिखने की प्रेरणा देती है। अत: वह काव्य रचना की प्रेरक है।

डॉ. देवी प्रसाद गुप्त के अनुसार -"संवेदना का अभिप्राय प्रभाव की स्थिति या वेदना की निवृति से न लेकर साहित्यकार की उस जागृति अथवा उस मनोदशा से लेना चाहिए जो उसे सृजन की प्रेरणा, निर्माण की शक्ति, रचना विधान की क्षमता और लोक-जीवन के प्रति आस्था प्रदान करती है।"[6]

दु:ख-सुख का अनुभव भावना की विशेषता है जो प्रत्येक संवेगात्मक अनुभव में निहित है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने स्वीकार किया है कि-"संवेदना का अर्थ सुख दुखात्मक अनुभूति ही है। इसमें भी दु:खानुभूति का संवेदना से गहरा सम्बन्ध हैं। संवेदना शब्द अपने वास्तविक या अवास्तविक दु:ख पर कष्टानुभव के अर्थ में आया है।"[7]

अत: स्पष्ट है कि साहित्य कवि की उस सामाजिक संवेदना की उपज है जो आसदृपास के परिवेश से जन्म लेती है।

डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार - "साहित्य में उन सभी बातों का जीवन्त विवरण होता है, जिसे मनुष्य ने देखा है, अनुभव किया है, सोचा है और समझा हैं।"[8]

मुंशी प्रेमचंद के अनुसार-"साहित्य जीवन की आलोचना है।"[9]

अच्छी आलोचना की पहली शर्त है कि जीवन के सभी पहलुओं पर समुचित दृष्टि रखी जाए और यह तभी सम्भव है जब साहित्यकार की संवेदना सामाजिक स्तर की होगी। साहित्यकार सामाजिक प्राणी है और वह समाज की विभिन्न समस्याओं का चित्रण अपने साहित्य में करता है। वह अपने साहित्य में पारिवारिक जीवन की विभिन्न दशाओं, उनसे उत्पन्न होने वाले प्रश्न, सामाजिक परम्पराओं, रीति-रिवाजों और प्रेम-सम्बन्धी विषयों पर लेखनी चलाता है। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि साहित्यकार की रचनाएँ सामाजिक परिवेश में विकसित होती हैं।

बदलते हुए परिदृश्य में भी जब ज्ञान विज्ञान का विकास हुआ लोग आधुनिक कहे जाने लगे जिसमें समानता स्वतंत्रता की बातें कहीं जाने लगी उस युग में भी स्त्रियों की स्थिति दोयम दर्जे की ही दिखाई देती है। आखिर ऐसा क्यों? स्त्री और पुरुष परस्पर पूरक होकर भी स्वतंत्र इकाईयां है। दोनों का स्वतंत्र अस्तित्व है ।फिर दोनों की स्वतंत्रत अस्मिता क्यों नहीं? यह प्रश्न उसके मन मस्तिष्क को झकझोरने लगा है। स्त्री मुक्ति इस दौर में लिखी जा रही कविताओं का प्रमुख स्वर है। निर्मला पुतुल लिखती है कि -

मैं कविता नहीं
शब्दों में खुद को रचती देखती हूं।
अपनी काया से
बाहर खड़ी होकर अपना होना।[10]

गुलामी की अनुभूतियां सघन होकर मुक्ति की जरूरत बनती है और विशिष्ट दृष्टिकोण से संपन्न होकर यह जरूरत मुक्ति के रास्ते तलाशती है।कविता स्त्री मुक्ति की प्रक्रिया का प्रवेश द्वार बनती है।

आज नारी जहाँ एक ओर पुरुषों के साथ कंधे से कंधा मिला कर सफलता के नए आयामों को छू रही है तो दूसरी तरफ आज भी वह दासी सा जीवन जीती है, उसे पशु की तरह प्रताड़ित किया जाता है। वह आज भी भोग्या बनी हुई है। उसकी कोई निजी स्वतन्त्रता नहीं है। उसके प्रति समाज की दृष्टि में कोई मुख्य अन्तर नहीं आया है। परिवार, नारी विमर्श के केन्द्र में होते हुए भी हाशिये पर पड़ी नजर आती है। स्वतंत्रता के इस युग में भी नारी की स्थिति कितनी दयनीय है इसे रघुवीर सहाय की कविताओं से देखा जा सकता है।

नारी बेचारी
पुरूष की मारी
तन से क्षुधित
मन से मुदित
लपककर झटपकर
अन्त में चित।[11]

समकालीन कविता में दलित चिंतन सामाजिक सांस्कृतिक असमानता का जातिगत उत्पीड़न के विरुद्ध मानवीय गरिमा के लिए संघर्ष का मुख्य स्वर है। जनतांत्रिक मूल्यों की स्थापना उसका वास्तविक उद्देश्य है। वह ऐसी व्यवस्था के विरुद्ध चेतना जागृत करने का काम कर रहा है। हमेशा हाशिये पर रखा गया दलित आज अपने अस्तित्व के लिए संघर्षरत हैं।

ओ मेरे गांव! तेरी जमीन पर
घुटी-घुटी सांसों के साथ
पलना पड़ता है अलग-अलग
लड़खड़ाते कदमों से
चलना पड़ता है अलग-अलग

मरने के बाद भी
जलना पड़ता है अलग-अलग।[12]

समाज के विकास में सामाजिक विद्रूपताएं ही बाधा नहीं पहुंचाती बल्कि शिशुओं की बुरी अवस्था भी एक चुनौती बनकर सामने आती है।बच्चे ही किसी देश का भविष्य होते हैं। जब उस भविष्य के साथ-साथ वर्तमान पर भी प्रश्न लगने लगे तो बच्चों की स्थिति के प्रति साहित्यकार का झुकाव सहज है।

पैदल बच्चों के पास छिपाने
के लिए कुछ नहीं
जूते भी नहीं जिन्हें वे रख सकें
झाड़ी के पीछे
कई बार उन्हें हिदायत दी गई है।
जूते पहनकर आने की
हाथ पैर के नाखून कलात्मक काटने की
कई बार पड़ी है बेंत।
और कहा गया है कि
हम तुम्हें नहीं ले जाएंगे।
महापुरुषों की आगवानी में।[13]

आज हमारे समाज में कभी भगवान का रूप माने जाने वाले बच्चे बाल श्रम को मजबूर हैं। उन्हें पालन-पोषण करने के लिए खेलने-कूदने की उम्र में दूसरों की अधीनता स्वीकार करनी पड़ती है। हमारी सरकार, राजनेता बच्चों की स्थिति में सुधार करने के लिए नए-नए कानून तो बनाती है, परन्तु उन्हें क्रियान्वित नहीं किया जाता है। आज के साहित्यकार की चेतना इस ओर सजग हुई है। साहित्यकार अपनी रचना में उनकी यथार्थ स्थिति को व्यक्त करते हुए पूरे समाज के सामने यह प्रश्न उठाता है कि उसकी ऐसी स्थिति का जिम्मेदार कौन है-

सुबह सुबह!
बच्चे काम पर जा रहे हैं
हमारे समय की सबसे भयानक पंक्ति है यह
भयानक है इसे विवरण की तरह लिखा जाना
लिखा जाना चाहिए इसे एक सवाल की तरह।[14]

कवि का कोमल मन बालमन की चेष्टाओं को भली भांति समझता है। गरीब असहाय बच्चों की पीड़ा और लाचारी को देखकर कवि के मन में उनके प्रति गहरी संवेदना के साथ-साथ शोषकों के प्रति आक्रोश भी पनपता है।

कोई और ही दुनिया है।
खिलौनों की सजी हुई।
किसी और ही दुनिया के बच्चे।
बढ़ाते हैं उनकी ओर हाथ।[15]

मनुष्य जब दुराचारी बनकर समाज और राष्ट्र के लिए एक कलंक सिद्ध होता है तो मनुष्य का यह दुराचार व्यापक रूप धारण करके भ्रष्टाचार का स्थान ग्रहण कर लेता है। जब मनुष्य स्वार्थ में अंधा होकर मिथ्या अभिमान के नशे में झूमने लगता है, कामवासना के वशीभूत होकर उचित-अनुचित पर विचार करना छोड़ देता है तो वह धीरे-धीरे एक ऐसे भयंकर जाल में फँसता चला जाता है जहाँ से फिर वापिस निकल पाना उसके लिए कठिन ही नहीं असंभव हो जाता है। आज का मनुष्य भी इसी दुष्चक्र में फँसा हुआ है। यह हमारे समाज में अनेक बुराइयों को भी जन्म देता है।आज पढ़े-लिखे, काबिल नौजवान भी इस भ्रष्टाचार का शिकार बन रहे हैं। आज लाल-फीता शाही अपने पूरे चरम पर है। कभी अमीरों का शौक रहा भ्रष्टाचार आज की जरूरत बन गयी है और जो स्वयं को इससे अलग रखता है वह दर-दर की ठोकरें खाने को विवश हो जाता है। स्वतंत्रता के बाद ईमानदार व्यक्ति की दशा कितनी गिर गई है विष्णु खरे लिखते हैं कि-

1947 के बाद से
इतने लोगो को इतने तरीकों से
आत्मनिर्भर मालामाल और गतिशील होते देखा है
कि अब जब आगे हाथ फैलाता है
पच्चीस पैसे एक चाय या दो रोटी के लिए
तो जान लेता हूँ

मेरे सामने एक ईमानदार
आदमी औरत या बच्चा खड़ा है।[16]

जहाँ शासन की बात होती है वहाँ डर, भय, आतंक अपने आप ही आ जाता है। प्राचीन काल में एक शासक अपने शासन को बनाए रखने के लिए इसका प्रयोग करता था परन्तु आज लोकतन्त्र के युग में जनता के प्रतिनिधि राजनेता ही आतंकवाद को बढ़ावा देने में लगे हैं। साम्प्रदायिकता के रूप में हम आतंकवाद का एक नया रूप देखते हैं। यह साम्प्रदायिकता ही विभाजन का मूल कारण बनी थी और स्वतंत्रता के बाद यह ज्यादा फली-फूली है। आज आतंक अपने इतने भयावह रूप में उपस्थित है कि हल्की सी आवाज हमें डराने में समर्थ है। जाति और धर्म ने हमारी सामाजिक आकांक्षाओं को बिखेर दिया है, लेकिन फिर भी इस सामाजिक जड़ता को तोड़ने के लिए इसके विरुद्ध कोई कार्यवाही नहीं कर पा रहा है। इस जड़ता के विरुद्ध साहित्यकार सजगता से अपने स्वर को मुखरित कर रहा है-

यह जो सड़क पर खून बह रहा है।
इसे सूंघ कर देखो और पहचानने की कोशिश करो।
यह हिंदू का है या मुसलमान का।
इन रक्त सने कपड़ों, फटे जूतों, टूटी साइकिलों
किताबों और खिलौनों की कौम क्या है?[17]

समकालीन कविता में व्यवस्था के खिलाफ तीव्र विरोध के साथ-साथ सामाजिक विषमता पर भी तीखा प्रहार किया गया है।

सामाजिक विसंगति के अन्तर्गत यदि हम वर्तमान शासन व्यवस्था की बात करते हैं तो कदम-कदम पर अनेक अव्यवस्थाओं का सामना करना पड़ता है।

जीवन की अभावग्रस्तता तथा बेबबी और शोषण प्रक्रिया से कवि अच्छी तरह परिचित हैं। उनके दुख दर्द गरीबी विपन्नता को सीधे-सीधे स्वीकार करना, उनकी यातना और पीड़ा के द्वारा अपने अंतस को मांजना व संवारना अर्थात जो कुछ भी कवि के पास सुरक्षित और प्रेरणा प्रदत्त है वह सब कुछ इस वर्ग और तबके की दी हुई अनुभूत सामग्री है ।कवि मेहनतकश समाज को श्रेय देते हुए कहता है कि -

तुम्हीं ने तो रोपा हमें।
तुम्हारा ही रक्त तो अंकुर रहा
हमारी धमनियों में।
तुम्हीं तो झांक रहे हो हमारे इस चेहरे में।
अनेक अधूरी इच्छाओं ने तुम्हें
दिलाया है हममें विश्वास।[18]

प्रशासनिक स्तर पर तो अव्यवस्था फैशन का रूप धारण कर चुकी है। आज अधिकारी अपनी उदरपूर्ति में लगे हुए हैं तो देश का प्रतिनिधित्व करने वाले नेता भी स्वार्थ पूर्ति और भाई-भतीजावाद में लगे हुए हैं जिसके परिणाम स्वरूप लोकतंत्र का मखौल उड़ता नजर आता है।

जनता के प्रतिनिधि बनकर देश का शासन चलाते नेता स्वयं को शासन का उत्तराधिकारी मानने लगे हैं। जनता की परेशानियों या जरूरतों की तरफ ध्यान देना जरूरी नहीं मानते। उनका ध्यान किसी घटना पर तभी जाता है जब उनकी सत्ता पर संकट आता है। प्रशासन के पास भोली-भाली जनता को देने के लिए कोरे शब्दों और आश्वासन के सिवाय कुछ नहीं है।

समकालीन कवि इस व्यवस्था के प्रति विद्रोह और संघर्ष के भाव को अपने साहित्य में स्थान देता है। वह इस व्यवस्था पर व्यंग्य करता है। साथ ही यह भी स्पष्ट करता है कि आज के समय में व्यवस्था पर हँसना या इसका विरोध करना सबसे बड़ी हिम्मत का काम है। और जो यह साहस दिखाता है उसे ही इन विसंगतियों का सामना करना पड़ता है। आज कवि इस व्यवस्था के प्रति साधारण जन को जागृत करते हुए उसे हौसला भी देता है।

आज का मनुष्य महानगरीय जीवन जीता हुआ नितांत अकेला हो गया है। वह संवेदनहीन व्यक्तियों से घिरा हुआ है, जिन पर आस-पास घटित घटनाओं का कोई असर नहीं पड़ता है। यदि कोई किसी समस्या से परेशान है तो दूसरे उसे सहारा नहीं देते हैं उसे स्वयं ही उसका सामना करना पड़ता है। समकालीन कविता ने महानगरीय जीवन की विडंबनाओ को स्पष्ट कर वहां बढ़ते परायेपन ,अजनबीपन और अकेलेपन को अभिव्यक्ति दी है।नगरों में बढ़ते तनाव, भयग्रस्त स्थिति तथा व्यक्ति की बदलती मानसिकता को उजागर किया है। नगरीय परिवारों के विखंडन और टूटते रिश्तों का चित्रण करते हुए कवि कहता है कि-

शहर में इस तरह बसे
कि परिवार का टूटना ही बुनियाद हो जैसे।
न पुरखे साथ आए न गांव न जंगल न जानवर।
शहर में बसने का क्या मतलब है
शहर में ही खत्म हो जाना।[19]

शहरी जीवन तनावों से घिरा जीवन है। चारों ओर मौत का भय है। कहीं भी व्यक्ति सुरक्षित नहीं है। दिन भर की भाग दौड़ भरी जिंदगी में रिश्ते-नाते, प्यार-प्रीत, सहयोग-सद्भाव जैसे मूल्य बिखरते जा रहे हैं। आज के समय में शहर सभ्यता और संस्कृति के केंद्र नहीं बल्कि आदमी और जानवरों की भीड़ से भरे पड़े हैं।

इस तरह मत भागो
कहीं कोई नौकरी पकड़ो,
विनाश की बहुत बड़ी पहुंच है।
तुम इंतजार करोगे एक दिन
आदमी जैसी शक्ल के लिए तरसोगे।[20]

आज मनुष्य की संवेदना समाप्त होती जा रही है। महानगरीय समाज और उसकी संवेदना के ह्रास की बात करें तो हम पाते हैं कि इसके मूल में लोगों का, समाज का, सरकार के प्रति अविश्वास है क्योंकि स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद लोगों की अच्छे जीवन की आस्था डगमगा गई। उसे अपने घर को चलाने के लिए महानगरों में नौकरी या मजदूरी ही आखिरी रास्ता दिखा, इसके साथ ही उच्च शिक्षा आदि के लिए लोगों का महानगरों की तरफ पलायन बढ़ा। व्यक्ति के लिए अपना ही जीवन-यापन कठिन हो गया और वह अपने से बाहर सोच ही नहीं पाया। परन्तु आज का कवि इस संवेदनहीनता के प्रति जागरूक है। समाज की वर्तमान स्थिति को देखते हुए वह कहता है कि-

इस महानगर में जहां भी जाता हूं
कुर्सी पर एक सांप को कुंडली मारे
बैठा पाता हूं
पार्कों की घास पर इन्हें लहराते देखता हूं
दफ्तरों और रेस्तराओं में
इनकी फुफकारें उठती है।[21]

आज व्यक्ति स्वयं को व्यवस्था के शिकंजे में फंसा हुआ निरूसहाय महसूस करने लगा है। और जब वह व्यवस्था के शिकंजे से स्वयं को छुड़ाने में असमर्थ पाता है तो अपने आप को उसके हवाले कर देता है। उसके सपने तो पीछे छूटते जा रहे हैं लेकिन भविष्य की चिंता उसके आगे-आगे चल रही है-

सपने पीछे छूट रहे हैं
आगे-आगे चल रही हैं
चिंताएँ।
मेमने कसाइयों के हवाले करते जा रहे हैं गर्दन।
दुनिया उदास और उदास होती जा रही है।
सपने पीछे छूट रहे हैं।[22]

इस स्थिति में भी आज के कवि की आस्था और विश्वास बना हुआ है जिससे वह अपनी कविताओं में आडम्बर की जगह आन्दोलन को तरजीह देता है। बीज को प्रतीक मानते हुए वेणु गोपाल ने मनुष्य धर्मी दृष्टि की अनिवार्यता पर जोर देते हुए कहा है-

बे-हवा में लहलहाना है
अंधेरे से रोशनी खींचनी है
पत्थरों से पानी निचोड़ना है
हर हाल में उसे उगाना है
कि वह बीज है
और वह जानता है कि वह बीज है[23]

निष्कर्ष:

अत: स्पष्ट है कि साहित्यकार की सामाजिक संवेदना समाज के विविध पहलुओं से संचालित होती है जो हमारे सामने समाज के कुरूप यथार्थ को चित्रित करने के साथ ही सामाजिक स्थिति में सुधार के लिए प्रेरणा भी देती है। साहित्यकार की आस्था और विश्वास हमारे अन्दर मानवीयता को जगाए रखने में सहायक होती है। समकालीन हिंदी कविता केवल मनोरंजन का साधन नहीं है बल्कि वह समाज का एक ऐसा आईना है जिसमें हम अपनी विकृतियों और संभावनाओं को एक साथ देख सकते हैं। यह मनुष्य होने की जद्दोजहद की कविता है। इस कविता का सबसे बड़ा योगदान सत्ता और व्यवस्था की विसंगतियों के विरुद्ध निरंतर प्रतिरोध दर्ज कराना है। यह नागरिकों को उनकी लोकतांत्रिक जिम्मेदारियां के प्रति सचेत करती है।

संदर्भ-

1. डॉ बृजमोहन शर्मा, समकालीन कविता और लीलाधर जगूड़ी, पृष्ठ 46
2. डॉ. संपूर्णानंद, समाजवाद, पृ. 19

3. कैलाशनाथ जेटली, समाज दर्शन, पृ. 29
4. सं. द्वारका प्रसाद शर्मा, संस्कृत काव्यार्थ कौस्तुभ, पृ. 1146
5. नंदकिशोर आचार्य, अज्ञेय की काव्य तितीर्षा, पृ. 50
6. डॉ. देवी प्रसाद गुप्त, साहित्य सिद्धांत और समालोचन, पृ. 22
7. आचार्य रामचंद्र शुक्ल, हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ. 262-63
8. डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी, साहित्य सहचर, पृ. 3
9. मुंशी प्रेमचंद, साहित्य का उद्देश्य, पृ. 10
10. निर्मला पुतुल, अपने घर की तलाश, (संथाली से अनुवाद अशोक सिंह), रमाणिका फाउंडेशन, दिल्ली, पृ. 4-5
11. सं. सुरेश शर्मा, रघुवीर सहाय प्रतिनिधि कविताएं, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 33
12. सं. डॉ. एन. सिंह, दर्द के दस्तावेज, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 42
13. मंगलेश डबराल, आवाज भी एक जगह है, वाणी प्रकाशन नई दिल्ली, पृष्ठ 31
14. राजेश जोशी, प्रतिनिधि कविताएं, राजकमल प्रकाशन, पृ. 74-75
15. मंगलेश डबराल, हम जो देखते हैं, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 55
16. ए. अरविंदाक्षन, समकालीन हिंदी कविता, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 96
17. वही, पृ. 113
18. अरुण कमल, अपनी केवल धार, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, सं. 1996, पृ. 50
19. आलोक धन्वा, दुनिया रोज बनती है, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. सं. 92
20. लीलाधर जगूड़ी, नाटक जारी है, अक्षर प्रकाशन, दिल्ली, पृ.18
21. भारतभूषण अग्रवाल, एक उठा हुआ हाथ, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 21
22. ए. अरविंदाक्षन, समकालीन हिंदी कविता, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 73
23. वही, पृ. 109

विभाजन की त्रासदी और 'तमस': सांप्रदायिकता, मानवीय पीड़ा और सामाजिक यथार्थ का आलोचनात्मक अध्ययन

सोनाली कुमारी

शोधार्थी (हिंदी विभाग) ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय, दरभंगा

डॉ० अखिलेश कुमार

शोध निर्देशक, वरीय सहायक प्राध्यापक (डॉ. एल.के.भी.डी .कॉलेज ताजपुर समस्तीपुर)

शोध-सारांश :

हिंदी साहित्य में भीष्म साहनी का नाम उन साहित्यकारों में लिया जाता है जिन्होंने समाज, राजनीति और मानवीय संवेदनाओं को अत्यंत यथार्थवादी दृष्टि से अभिव्यक्त किया। उनका प्रसिद्ध उपन्यास 'तमस' भारत-पाक विभाजन की त्रासदी, सांप्रदायिकता और मानवीय विघटन का महत्त्वपूर्ण दस्तावेज है। यह केवल एक साहित्यिक कृति नहीं, बल्कि भारतीय समाज के उस भयावह दौर का जीवंत चित्रण है जब धर्म और राजनीति के नाम पर मनुष्यता का विनाश हुआ। प्रस्तुत शोधपत्र में 'तमस' के माध्यम से विभाजन की त्रासदी, सांप्रदायिक तनाव, अंग्रेजों की 'फूट डालों और राज करो' नीति, सामाजिक विघटन तथा मानवीय संवेदनाओं का विश्लेषण किया गया है।

भीष्म साहनी ने उपन्यास में यह स्पष्ट किया है कि सांप्रदायिकता केवल राजनीतिक समस्या नहीं, बल्कि मानवीय संवेदनाओं को नष्ट करने वाली सामाजिक बीमारी है। उपन्यास का प्रारंभ नथू चमार द्वारा सूअर मारने की घटना से होता है, जो आगे चलकर हिंदू-मुस्लिम दंगों का कारण बनती है। इस छोटी-सी घटना के माध्यम से लेखक यह दिखाते हैं कि किस प्रकार सत्ता और स्वार्थी शक्तियाँ आम जनता की भावनाओं का उपयोग कर समाज में हिंसा और विभाजन पैदा करती हैं।

'तमस' में हिंदू, मुस्लिम और सिख समुदायों के बीच उत्पन्न अविश्वास, भय, हिंसा, विस्थापन और स्त्री-पीड़ा का मार्मिक चित्रण हुआ है। हरनाम सिंह, बंतो, कश्मीरी लाल, मुराद अली और रिचर्ड जैसे पात्र समाज की विभिन्न मानसिकताओं और राजनीतिक शक्तियों का प्रतिनिधित्व करते हैं। उपन्यास में अंग्रेज अधिकारी रिचर्ड का चरित्र औपनिवेशिक सत्ता की विभाजनकारी नीति को उजागर करता है। वहीं दूसरी ओर सामान्य जनता शांति और भाईचारे की आकांक्षा रखती दिखाई देती है

'तमस' केवल विभाजन की कहानी नहीं, बल्कि मनुष्य की संवेदनहीनता, राजनीति के स्वार्थ और सांप्रदायिकता के अंधकार की कहानी है। साथ ही यह उपन्यास मानवता, शांति और सह-अस्तित्व की आवश्यकता का भी महत्वपूर्ण संदेश देता है। वर्तमान समय में जब सांप्रदायिक तनाव और सामाजिक विभाजन की घटनाएँ पुनः सामने आती हैं, तब 'तमस' की प्रासंगिकता और अधिक बढ़ जाती है।

प्रस्तावना :

हिंदी उपन्यास साहित्य में भीष्म साहनी का महत्वपूर्ण स्थान है। उन्होंने हिंदी कथा-साहित्य को यथार्थवादी दृष्टि, सामाजिक चेतना और मानवीय संवेदनाओं से समृद्ध किया। प्रेमचंद की परंपरा को आगे बढ़ाते हुए उन्होंने अपने साहित्य में समाज के संघर्षशील वर्ग, सांप्रदायिक तनाव, राजनीतिक स्वार्थ और मानवीय संबंधों की जटिलताओं को अभिव्यक्त किया। भीष्म साहनी केवल कथाकार ही नहीं, बल्कि चिंतक और संवेदनशील सामाजिक लेखक भी थे। उनका साहित्य जीवन की वास्तविकताओं से गहरे स्तर पर जुड़ा हुआ है।

भीष्म साहनी का उपन्यास 'तमस' हिंदी साहित्य की ऐसी कृति है जिसने विभाजन की त्रासदी को अत्यंत मार्मिक और यथार्थपूर्ण ढंग से प्रस्तुत किया। यह उपन्यास भारत-पाक विभाजन के दौरान उत्पन्न सांप्रदायिक हिंसा, भय, विस्थापन और सामाजिक विघटन का जीवंत दस्तावेज है। 'तमस' शब्द का अर्थ है – अंधकार। यहाँ अंधकार केवल बाहरी स्थिति का नहीं, बल्कि मनुष्य के भीतर फैलती संवेदनहीनता, घृणा और हिंसा का प्रतीक है।

भारत का विभाजन केवल राजनीतिक घटना नहीं था, बल्कि करोड़ों लोगों के जीवन को प्रभावित करने वाली मानवीय त्रासदी थी। लाखों लोग विस्थापित हुए, हजारों की हत्या हुई और स्त्रियों को अमानवीय यातनाओं का सामना करना पड़ा। विभाजन ने भारतीय समाज की सांस्कृतिक एकता और सामाजिक संरचना को गहरे स्तर पर प्रभावित किया। इसी त्रासदी को भीष्म साहनी ने 'तमस' में अत्यंत संवेदनशीलता और यथार्थवादी शैली में चित्रित किया है।

उपन्यास का कथानक पंजाब के एक नगर में घटित होता है, जहाँ सांप्रदायिक तनाव धीरे-धीरे हिंसा का रूप ले लेता है। लेखक ने यह दिखाया है कि किस प्रकार राजनीतिक स्वार्थ और औपनिवेशिक सत्ता की नीतियाँ समाज को बाँट देती हैं। अंग्रेज अधिकारी रिचर्ड का चरित्र 'फूट डालो और राज करो' की नीति का प्रतिनिधित्व करता है। दूसरी ओर सामान्य जनता शांति और भाईचारे की आकांक्षा रखती है, किंतु परिस्थितियाँ उन्हें हिंसा और भय के वातावरण में धकेल देती हैं।

'तमस' में केवल दंगों का चित्रण नहीं है, बल्कि मनुष्य के भीतर चल रहे भय, असुरक्षा और अस्मिता के संघर्ष को भी अभिव्यक्ति मिली है। हरनाम सिंह और उसकी पत्नी बंतो का घर छोड़कर भागना, सिख स्त्रियों का अपनी अस्मिता की रक्षा के लिए कुओं में कूद जाना, और राहत शिविरों में शरण लेने वाले लोगों की पीड़ा - ये सभी घटनाएँ विभाजन की भयावहता को गहराई से व्यक्त करती हैं।

यह उपन्यास आज भी इसलिए प्रासंगिक है क्योंकि सांप्रदायिकता की समस्या आज भी समाज के सामने चुनौती के रूप में मौजूद है। भीष्म साहनी ने अपने साहित्य के माध्यम से यह संदेश दिया कि धर्म और राजनीति के नाम पर फैलाया गया घृणा का वातावरण अंततः मानवता का विनाश करता है। 'तमस' हमें इतिहास की उस त्रासदी से सीख लेने और सामाजिक सद्भाव बनाए रखने की प्रेरणा देता है।

उपलब्ध साहित्य :

भीष्म साहनी और उनके उपन्यास 'तमस' पर अनेक आलोचकों और साहित्यकारों ने विचार व्यक्त किए हैं। हिंदी साहित्य में 'तमस' को विभाजन साहित्य की सबसे महत्वपूर्ण कृतियों में माना जाता है। विभाजन की त्रासदी पर हिंदी, उर्दू और पंजाबी साहित्य में अनेक रचनाएँ लिखी गई, किंतु 'तमस' अपनी संवेदनशीलता, यथार्थवाद और सामाजिक दृष्टि के कारण विशेष महत्व रखता है।

डॉ. गोपाल राय ने 'तमस' को सांप्रदायिकता के अंधकार का प्रतीक बताते हुए लिखा है कि यह उपन्यास उस मानसिकता को उजागर करता है जो मनुष्य को हैवान बना देती है। उनके अनुसार 'तमस' में विभाजन की राजनीति का वास्तविक चेहरा सामने आता है। उपन्यास यह दिखाता है कि सांप्रदायिक हिंसा केवल धार्मिक संघर्ष नहीं, बल्कि राजनीतिक स्वार्थ का परिणाम है।

नामवर सिंह ने भीष्म साहनी की रचनात्मकता की चर्चा करते हुए कहा है कि उनका साहित्य जनजीवन और सामाजिक यथार्थ से जुड़ा हुआ है। वे मानते हैं कि 'तमस' में लेखक ने इतिहास को केवल घटनाओं के रूप में प्रस्तुत नहीं किया, बल्कि उसमें मानवीय संवेदना और सामाजिक मनोविज्ञान को भी अभिव्यक्त किया है।

डॉ. रामविलास शर्मा ने भीष्म साहनी की यथार्थवादी दृष्टि की प्रशंसा करते हुए कहा कि उनका साहित्य भारतीय समाज की जटिलताओं को समझने में सहायक है। 'तमस' में सांप्रदायिकता के कारण उत्पन्न सामाजिक विघटन और वर्गीय संघर्ष का गहरा चित्रण मिलता है।

विभाजन साहित्य के संदर्भ में खुशवंत सिंह के उपन्यास 'ट्रेन टू पाकिस्तान' तथा यशपाल के 'झूठा सच' का भी उल्लेख महत्वपूर्ण है। इन रचनाओं में भी विभाजन की पीड़ा और हिंसा का चित्रण हुआ है। किंतु 'तमस' की विशेषता यह है कि इसमें आम जनता की मानसिक स्थिति, भय और असुरक्षा को अत्यंत मार्मिक रूप में प्रस्तुत किया गया है।

भीष्म साहनी ने स्वयं स्वीकार किया था कि भिवंडी दंगों की स्मृति और रावलपिंडी के अनुभवों ने उन्हें 'तमस' लिखने के लिए प्रेरित किया। इससे स्पष्ट होता है कि यह उपन्यास केवल कल्पना पर आधारित नहीं, बल्कि लेखक के व्यक्तिगत अनुभवों और सामाजिक यथार्थ का परिणाम है।

आलोचक विजय मोहन सिंह के अनुसार 'तमस' में सांप्रदायिकता का चित्रण किसी एक समुदाय के विरोध में नहीं है, बल्कि यह मनुष्य की संवेदनहीनता और सत्ता की राजनीति की आलोचना है। उपन्यास का उद्देश्य किसी धर्म या समुदाय को दोषी ठहराना नहीं, बल्कि उन परिस्थितियों को समझना है जिनके कारण समाज हिंसा की ओर बढ़ता है।

इस प्रकार उपलब्ध साहित्य से स्पष्ट होता है कि 'तमस' केवल साहित्यिक दृष्टि से ही महत्वपूर्ण नहीं, बल्कि सामाजिक, ऐतिहासिक और राजनीतिक दृष्टि से भी अत्यंत महत्त्वपूर्ण कृति है। यह उपन्यास विभाजन की त्रासदी को समझने का एक प्रभावशाली माध्यम है।

शोध-प्रविधि :

प्रस्तुत शोधपत्र में विश्लेषणात्मक एवं व्याख्यात्मक शोध-पद्धति का प्रयोग किया गया है। अध्ययन का मुख्य आधार भीष्म साहनी का उपन्यास 'तमस' है। इसके अतिरिक्त विभाजन साहित्य, सांप्रदायिकता, हिंदी उपन्यास और भीष्म साहनी के साहित्य पर उपलब्ध आलोचनात्मक पुस्तकों, शोध आलेखों तथा साहित्यिक समीक्षाओं का सहारा लिया गया है।

शोधकार्य में प्राथमिक तथा द्वितीयक दोनों प्रकार के स्रोतों का उपयोग किया गया है। प्राथमिक स्रोत के रूप में 'तमस' उपन्यास का अध्ययन किया गया, जबकि द्वितीयक स्रोतों में आलोचनात्मक ग्रंथ, साहित्यिक पत्रिकाएँ, शोध-पत्र और विद्वानों के विचार सम्मिलित किए गए हैं।

इस शोधपत्र में निम्नलिखित बिंदुओं को आधार बनाकर अध्ययन किया गया है-

1. विभाजन की त्रासदी और उसका सामाजिक प्रभाव।
2. सांप्रदायिकता और राजनीतिक स्वार्थ।
3. अंग्रेजों की 'फूट डालो और राज करो' नीति।
4. उपन्यास में मानवीय पीड़ा और विस्थापन।
5. स्त्री-जीवन और अस्मिता का प्रश्न।
6. सांप्रदायिक सद्भाव और मानवता का संदेश।

शोध की प्रक्रिया में उपन्यास के पात्रों, घटनाओं और संवादों का विश्लेषण करते हुए यह समझने का प्रयास किया गया है कि भीष्म साहनी ने विभाजन की समस्या को किस प्रकार प्रस्तुत किया है। साथ ही यह भी देखा गया है कि 'तमस' वर्तमान समय में किस प्रकार प्रासंगिक बना हुआ है।

परिणाम एवं विमर्श :

1. विभाजन की त्रासदी का यथार्थ चित्रण

'तमस' का सबसे महत्वपूर्ण पक्ष विभाजन की त्रासदी का यथार्थपूर्ण चित्रण है। भारत-पाक विभाजन केवल राजनीतिक निर्णय नहीं था, बल्कि करोड़ों लोगों के जीवन को प्रभावित करने वाली मानवीय दुर्घटना थी। भीष्म साहनी ने उपन्यास में यह दिखाया है कि किस प्रकार सांप्रदायिक तनाव धीरे-धीरे हिंसा और विनाश का रूप ले लेता है।

उपन्यास की शुरुआत नथू चमार द्वारा सूअर मारने की घटना से होती है। मुराद अली उसे पाँच रुपए का लालच देकर सूअर मरवाता है और बाद में वही सूअर मस्जिद के बाहर फेंक दिया जाता है। इस घटना से हिंदू-मुस्लिम तनाव भड़क उठता है। लेखक यह स्पष्ट करते हैं कि दंगे अचानक नहीं होते, बल्कि उन्हें योजनाबद्ध ढंग से उत्पन्न किया जाता है।

भीष्म साहनी ने दंगों के भयावह दृश्य अत्यंत मार्मिकता से प्रस्तुत किए हैं। जगह-जगह आगजनी, हत्या, लूटपाट और चीख-पुकार का वातावरण दिखाई देता है। लोग अपने घर छोड़कर भागने को मजबूर हो जाते हैं। यह चित्रण विभाजन की वास्तविकता को सामने लाता है।

2. सांप्रदायिकता और राजनीतिक स्वार्थ

उपन्यास में सांप्रदायिकता को केवल धार्मिक समस्या के रूप में नहीं, बल्कि राजनीतिक स्वार्थ के रूप में प्रस्तुत किया गया है। अंग्रेज अधिकारी रिचर्ड का चरित्र इस बात का प्रतीक है कि औपनिवेशिक सत्ता हिंदू-मुस्लिम एकता को समाप्त कर अपने शासन को बनाए रखना चाहती थी।

रिचर्ड और उसकी पत्नी लीजा के संवादों से यह स्पष्ट होता है कि अंग्रेज भारतीय समाज की कमजोरियों का लाभ उठाकर सत्ता बनाए रखना चाहते थे। वे जानते थे कि यदि हिंदू और मुस्लिम एकजुट हो गए, तो अंग्रेजी शासन टिक नहीं पाएगा। इसलिए सांप्रदायिक तनाव को बढ़ावा दिया गया।

यह स्थिति आज भी प्रासंगिक है। वर्तमान समय में भी राजनीति में धर्म और जाति का उपयोग वोट बैंक के रूप में किया जाता है। 'तमस' हमें चेतावनी देता है कि सांप्रदायिकता समाज को केवल विनाश की ओर ले जाती है।

3. मानवीय संवेदनाओं का विघटन

उपन्यास में दंगों के कारण मनुष्य की संवेदनाओं के विघटन का मार्मिक चित्रण हुआ है। सामान्य परिस्थितियों में जो लोग एक-दूसरे के साथ रहते थे, वही लोग सांप्रदायिक उन्माद में एक-दूसरे के शत्रु बन जाते हैं।

गोपाल राय ने ठीक ही कहा है कि 'तमस' उस अंधकार का प्रतीक है जो मनुष्य की संवेदनाओं को नष्ट कर देता है। दंगों के दौरान लोग धर्म के नाम पर हत्या और हिंसा करने लगते हैं। यह स्थिति मनुष्य की नैतिकता और मानवता पर प्रश्नचिह्न लगाती है।

नथू का चरित्र विशेष रूप से उल्लेखनीय है। वह एक गरीब व्यक्ति है जो पैसों के लिए सूअर मार देता है, लेकिन बाद में उसे एहसास होता है कि उसकी छोटी-सी कार्रवाई ने कितनी बड़ी त्रासदी को जन्म दे दिया। उसके भीतर अपराधबोध और भय उत्पन्न होता है। यह चरित्र उस आम आदमी का प्रतिनिधित्व करता है जो राजनीतिक षड्यंत्रों का शिकार बनता है।

4. विस्थापन और शरणार्थी जीवन

विभाजन के दौरान लाखों लोगों को अपना घर छोड़ना पड़ा। 'तमस' में विस्थापन की पीड़ा को अत्यंत मार्मिक ढंग से चित्रित किया गया है। हरनाम सिंह और उसकी पत्नी बंतो को अपना घर छोड़कर भागना पड़ता है। वे असुरक्षा और भय के वातावरण में जीवन बिताते हैं।

शरणार्थी शिविरों में रहने वाले लोगों की स्थिति अत्यंत दयनीय दिखाई गई है। लोग अपने परिवार, घर और संपत्ति से बिछड़ जाते हैं। उनके भीतर भविष्य को लेकर अनिश्चितता और भय है। भीष्म साहनी ने इस पीड़ा को अत्यंत संवेदनशीलता से प्रस्तुत किया है।

विस्थापन केवल भौतिक नहीं होता, बल्कि मानसिक और सांस्कृतिक स्तर पर भी मनुष्य को तोड़ देता है। अपने गाँव, घर और स्मृतियों से दूर होना किसी भी व्यक्ति के लिए अत्यंत पीड़ादायक अनुभव है। 'तमस' में यह पीड़ा गहराई से व्यक्त हुई है।

5. स्त्री-जीवन और अस्मिता का प्रश्न

विभाजन की त्रासदी का सबसे अधिक प्रभाव स्त्रियों पर पड़ा। 'तमस' में स्त्री-पीड़ा और अस्मिता के प्रश्न को अत्यंत मार्मिक रूप में प्रस्तुत किया गया है। दंगों के दौरान स्त्रियाँ हिंसा, अपमान और असुरक्षा का शिकार बनती हैं।

सिख स्त्रियों द्वारा अपनी अस्मिता की रक्षा के लिए कुओं में कूद जाना विभाजन की भयावहता को व्यक्त करता है। यह घटना केवल आत्महत्या नहीं, बल्कि उस सामाजिक परिस्थिति का प्रतीक है जहाँ स्त्रियों के सामने सम्मान बचाने के लिए मृत्यु को चुनने की मजबूरी थी।

बंतो का चरित्र भी महत्वपूर्ण है। वह भय और असुरक्षा के बीच अपने परिवार को बचाने का प्रयास करती है। स्त्रियाँ केवल पीड़ित नहीं हैं, बल्कि संघर्ष और साहस का भी प्रतीक हैं।

6. सामाजिक सद्भाव और मानवता का संदेश

यद्यपि 'तमस' में हिंसा और विभाजन का चित्रण है, फिर भी उपन्यास का मूल संदेश मानवता और शांति है। सामान्य जनता दंगों से परेशान होकर शांति चाहती है। लोग डिप्टी कमिश्नर से मिलकर दंगे रोकने की अपील करते हैं। राहत समितियाँ बनाई जाती हैं और दंगा-पीड़ितों की सहायता की जाती है।

उपन्यास के अंत में "अमन की बस" का प्रतीकात्मक उल्लेख यह दर्शाता है कि तमाम हिंसा और अंधकार के बाद भी शांति और भाईचारे की संभावना समाप्त नहीं होती। भीष्म साहनी का दृष्टिकोण निराशावादी नहीं, बल्कि मानवीय आशा से जुड़ा हुआ है।

'तमस' हमें यह संदेश देता है कि धर्म, जाति और राजनीति से ऊपर उठकर मानवता को प्राथमिकता देनी चाहिए। यदि समाज में पारस्परिक विश्वास और संवेदना बनी रहे, तो सांप्रदायिक शक्तियाँ सफल नहीं हो सकतीं।

7. 'तमस' की वर्तमान प्रासंगिकता

आज के समय में 'तमस' की प्रासंगिकता और अधिक बढ़ गई है। वर्तमान समाज में भी सांप्रदायिक तनाव, धार्मिक कट्टरता और राजनीतिक स्वार्थ के कारण सामाजिक विभाजन की घटनाएँ सामने आती रहती हैं। ऐसे समय में यह उपन्यास हमें इतिहास की गलतियों से सीख लेने की प्रेरणा देता है।

'तमस' केवल अतीत का दस्तावेज नहीं, बल्कि वर्तमान और भविष्य के लिए चेतावनी है। यह उपन्यास हमें बताता है कि यदि समाज में घृणा और अविश्वास का वातावरण फैलता है, तो उसका परिणाम विनाशकारी होता है। इसलिए सामाजिक सद्भाव, सहिष्णुता और मानवीय संवेदनाओं को बनाए रखना अत्यंत आवश्यक है।

निष्कर्ष :

उपरोक्त अध्ययन से स्पष्ट होता है कि भीष्म साहनी का 'तमस' हिंदी साहित्य की अत्यंत महत्वपूर्ण और प्रासंगिक कृति है। यह उपन्यास भारत-पाक विभाजन की त्रासदी, सांप्रदायिक हिंसा और मानवीय पीड़ा का सशक्त दस्तावेज है। लेखक ने अत्यंत यथार्थवादी शैली में यह दिखाया है कि राजनीतिक स्वार्थ और सांप्रदायिकता किस प्रकार समाज को विनाश की ओर ले जाते हैं।

उपन्यास में विभाजन की भयावहता केवल ऐतिहासिक घटना के रूप में नहीं, बल्कि मानवीय संवेदनाओं के विघटन के रूप में प्रस्तुत हुई है। नथू, हरनाम सिंह, बंतो, रिचर्ड और अन्य पात्रों के माध्यम से भीष्म साहनी ने समाज के विभिन्न वर्गों और मानसिकताओं को अभिव्यक्ति दी है।

'तमस' यह सिद्ध करता है कि दंगे और हिंसा किसी समस्या का समाधान नहीं हैं। उनका परिणाम केवल भय, अविश्वास, विस्थापन और विनाश होता है। उपन्यास का सबसे महत्वपूर्ण संदेश मानवता, शांति और सामाजिक सद्भाव की आवश्यकता है।

भीष्म साहनी ने यह स्पष्ट किया है कि धर्म और राजनीति के नाम पर फैलाया गया अंधकार अंततः पूरे समाज को प्रभावित करता है। इसलिए समाज को सांप्रदायिकता और घृणा से बचाने के लिए मानवीय मूल्यों, सहिष्णुता और भाईचारे को मजबूत करना आवश्यक है।

वर्तमान समय में जब सामाजिक और धार्मिक तनाव की घटनाएँ सामने आती हैं, तब 'तमस' की प्रासंगिकता और अधिक बढ़ जाती है। यह उपन्यास हमें इतिहास की त्रासदी से सीख लेकर एक बेहतर और मानवीय समाज के निर्माण की प्रेरणा देता है।

उपसंहार :

भीष्म साहनी का 'तमस' केवल विभाजन पर लिखा गया उपन्यास नहीं, बल्कि भारतीय समाज की सामूहिक स्मृति और मानवीय चेतना का दस्तावेज है। इसमें इतिहास, राजनीति, समाज और मनुष्य की संवेदनाओं का गहरा समन्वय दिखाई देता है। लेखक ने यह सिद्ध किया है कि साहित्य केवल मनोरंजन का माध्यम नहीं, बल्कि समाज को दिशा देने वाली शक्ति भी है।

'तमस' के माध्यम से भीष्म साहनी ने सांप्रदायिकता की भयावहता को उजागर करते हुए मानवता की रक्षा का संदेश दिया है। यह उपन्यास हमें यह सोचने पर विवश करता है कि धर्म और राजनीति के नाम पर फैलाया गया घृणा का वातावरण किस प्रकार मनुष्य की संवेदनाओं को नष्ट कर देता है।

विभाजन की त्रासदी ने भारतीय समाज को गहरे स्तर पर प्रभावित किया, किंतु इस अंधकार के बीच भी मानवता और शांति की संभावना समाप्त नहीं हुई। उपन्यास का "अमन की बस" वाला प्रतीक इसी आशा का प्रतिनिधित्व करता है।

इस प्रकार 'तमस' हिंदी साहित्य की ऐसी कालजयी कृति है जो न केवल विभाजन के इतिहास को समझने में सहायक है, बल्कि वर्तमान और भविष्य के लिए भी सामाजिक सद्भाव, सहिष्णुता और मानवता का महत्वपूर्ण संदेश देती है।

संदर्भ :

1. साहनी, भीष्म - तमस, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली।
2. राय, गोपाल - हिंदी उपन्यास का इतिहास, राजकमल प्रकाशन।
3. शर्मा, रामविलास - हिंदी साहित्य और समाज, राजकमल प्रकाशन।
4. सिंह, नामवर - कहानी नई कहानी, लोकभारती प्रकाशन।
5. सिंह, विजय मोहन - समकालीन हिंदी उपन्यास और समाज, वाणी प्रकाशन।
6. यशपाल - झूठा सच, लोकभारती प्रकाशन।
7. खुशवंत सिंह - ट्रेन टू पाकिस्तान, पेंगुइन प्रकाशन।
8. भीष्म साहनी - आज के अतीत, आत्मकथात्मक संस्मरण।
9. हिंदी साहित्य कोश, ज्ञानमंडल प्रकाशन।
10. विभिन्न शोध-पत्र एवं आलोचनात्मक लेख।

अनुराधा बेनीवाल की यात्रा-दृष्टि और समकालीन स्त्री विमर्श

नेहा कुमारी

शोधार्थी, हिंदी विभाग, पाटलिपुत्र विश्वविद्यालय, पटना, बिहार

शोध-सार

समकालीन हिंदी यात्रा-साहित्य में अनुराधा बेनीवाल का यात्रा-वृत्तांत 'आजादी मेरा ब्रांड' एक महत्त्वपूर्ण कृति के रूप में उभरता है, जिसमें यात्रा केवल भौगोलिक सीमाओं का अतिक्रमण नहीं रह जाती, बल्कि स्त्री-अस्तित्व, स्वतंत्रता और आत्म-पहचान की खोज का माध्यम बन जाती है। प्रस्तुत शोध-पत्र का उद्देश्य इस यात्रा-वृत्तांत में निहित यात्रा-दृष्टि तथा उभरते हुए नए स्त्री-विमर्श का विश्लेषण करना है। अनुराधा बेनीवाल की यात्राएँ पारंपरिक यात्रा-वृत्तांतों से भिन्न हैं, क्योंकि वे पर्यटन या दृश्य-वर्णन तक सीमित न रहकर स्त्री की सामाजिक स्थिति, पितृसत्तात्मक मानसिकता, सांस्कृतिक नियंत्रण तथा स्त्री-अस्मिता जैसे प्रश्नों को केंद्र में लाती हैं।

लेखिका अपने अनुभवों के माध्यम से यह स्पष्ट करती हैं कि भारतीय समाज में स्त्री की स्वतंत्र गतिशीलता आज भी संदेह और नियंत्रण की दृष्टि से देखी जाती है। 'अच्छी लड़की', 'संस्कारी स्त्री' और सामाजिक मर्यादा जैसी अवधारणाएँ स्त्री की स्वतंत्रता को सीमित करती हैं। ऐसे में यात्रा लेखिका के लिए प्रतिरोध, आत्मनिर्णय और स्वतंत्र अस्तित्व की अभिव्यक्ति बन जाती है। पुस्तक में बार-बार उभरने वाली 'बेफिक्र', 'बेकाम' और 'बेवजह' घूमने की इच्छा वस्तुतः स्त्री की स्वतंत्र एजेंसी की मांग है।

यह शोध-पत्र इस तथ्य को भी रेखांकित करता है कि अनुराधा बेनीवाल का स्त्री-विमर्श केवल देह-मुक्ति तक सीमित नहीं है, बल्कि मानसिक, भावनात्मक और वैचारिक स्वतंत्रता को भी समान रूप से महत्त्व देता है। लेखिका 'आजादी' की पारंपरिक अवधारणाओं को पुनर्परिभाषित करती हैं और स्त्री को अपनी इच्छा, निर्णय तथा जीवन-दृष्टि के अनुसार जीने की प्रेरणा देती हैं। उनकी यात्रा-दृष्टि में आत्मविश्वास, निर्भीकता और व्यक्तिगत स्वतंत्रता के साथ-साथ सामाजिक संरचनाओं पर तीखा प्रश्न भी उपस्थित होता है।

प्रस्तुत शोध-पत्र में पुस्तक की भूमिका, फ्लैप-टिप्पणियाँ, आलोचनात्मक आलेख तथा मूल पाठ के उद्धरणों के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयास किया गया है कि 'आजादी मेरा ब्रांड' हिंदी यात्रा-साहित्य में स्त्री-चेतना और नए स्त्री-विमर्श की एक सशक्त एवं विशिष्ट कृति है।

बीज शब्द : यात्रा-वृत्तांत, स्त्री-विमर्श, स्त्री-चेतना, स्वतंत्रता, अनुराधा बेनीवाल, यात्रा-दृष्टि, पितृसत्ता

मूल आलेखः

हिंदी साहित्य में यात्रा-वृत्तांत की परंपरा लंबे समय से रही है। प्रारंभिक दौर में यात्रा-साहित्य का उद्देश्य मुख्यतः नए स्थानों, संस्कृतियों, समाजों और जीवन-पद्धतियों का परिचय देना था। राहुल सांकृत्यायन, अज्ञेय और निर्मल वर्मा जैसे लेखकों ने हिंदी यात्रा-साहित्य को वैचारिक और साहित्यिक ऊँचाई प्रदान की। इन लेखकों के यहाँ यात्रा केवल स्थान परिवर्तन नहीं है, बल्कि अनुभव, चिंतन और आत्म-अन्वेषण का माध्यम भी है। समकालीन हिंदी साहित्य में यह परंपरा नए रूप में विकसित हुई है। विशेषतः महिला यात्रा-लेखन ने यात्रा-वृत्तांत को एक नई दृष्टि दी है। अब यात्रा केवल प्रकृति-वर्णन या सांस्कृतिक विवरण तक सीमित नहीं रह गई, बल्कि वह स्त्री की स्वतंत्रता, आत्मनिर्णय, अस्मिता और सामाजिक बंधनों के प्रश्नों से जुड़ गई है।

समकालीन महिला यात्रा-लेखन में अनुराधा बेनीवाल का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उनका यात्रा-वृत्तांत 'आजादी मेरा ब्रांड' हिंदी यात्रा-साहित्य में एक नई चेतना का प्रवेश कराता है। यह कृति केवल विदेश यात्राओं का विवरण प्रस्तुत नहीं करती, बल्कि भारतीय समाज में स्त्री की स्थिति, उसकी मानसिक घुटन, सामाजिक नियंत्रण और स्वतंत्रता की आकांक्षा को भी सामने लाती है। अनुराधा बेनीवाल की यात्रा-दृष्टि पारंपरिक यात्रा-वृत्तांतों से अलग है। वे स्थानों से अधिक मनुष्य, समाज और मानसिकताओं को पढ़ती हैं। उनके यहाँ यात्रा एक प्रकार का प्रतिरोध भी है और आत्म-अभिव्यक्ति का माध्यम भी।

हिंदी के प्रसिद्ध आलोचक नामवर सिंह ने अनुराधा बेनीवाल के यात्रा-वृत्तांत की साहित्यिक महत्ता को स्वीकार करते हुए उन्हें हिंदी यात्रा-साहित्य की महत्वपूर्ण परंपरा से जोड़ा है। यह टिप्पणी केवल प्रशंसा नहीं, बल्कि अनुराधा बेनीवाल के लेखन की गंभीर साहित्यिक उपस्थिति का संकेत भी है। नामवर सिंह लिखते हैंख्र

> *"हिन्दी साहित्य में अब तक तीन लेखकों के यात्रा-वृत्तांत मील के पत्थर साबित हुए हैं - राहुल सांकृत्यायन जिन्होंने 'घुमक्कड़शास्त्र' नाम की किताब ही लिख दी, अज्ञेय और फिर निर्मल वर्मा। इसी कड़ी में चौथा नाम अनुराधा का भी जुड़ रहा है।"*

यह कथन स्पष्ट करता है कि 'आजादी मेरा ब्रांड' को केवल एक लोकप्रिय यात्रा-वृत्तांत के रूप में नहीं देखा जा सकता। यह समकालीन हिंदी यात्रा-साहित्य की गंभीर और विचारोत्तेजक कृति है। अनुराधा बेनीवाल की विशेषता यह है कि वे यात्रा को स्त्री की स्वतंत्रता और आत्मविश्वास से जोड़ती हैं। उनके यहाँ घूमना केवल शौक नहीं, बल्कि सामाजिक बंधनों से बाहर निकलने की प्रक्रिया है।

स्वानंद किरकिरे ने इसी पुस्तक की भूमिका में अनुराधा बेनीवाल को "नए जमाने की भारतीय फकीरन" कहा है। यह संबोधन उनके व्यक्तित्व और यात्रा-दृष्टि दोनों को व्यक्त करता है। वे मानते हैं कि अनुराधा का लेखन प्रश्न पैदा करता है और समाज की असमानताओं को उजागर करता है। स्वानंद किरकिरे लिखते हैं-

"उसे सिर्फ इतना पता है कि यहाँ समानता नहीं है और वह होनी चाहिए।"[2]

यह कथन अनुराधा बेनीवाल के लेखन की मूल चेतना को स्पष्ट करता है। उनके यात्रा-वृत्तांत में स्त्री-पुरुष असमानता, स्त्री की सामाजिक स्थिति और स्वतंत्रता के प्रश्न लगातार उपस्थित होते हैं। वे किसी सिद्धांत को आरोपित नहीं करतीं, बल्कि अपने अनुभवों के माध्यम से समाज की वास्तविकताओं को सामने लाती हैं।

भारतीय समाज मूलत: पितृसत्तात्मक संरचना पर आधारित रहा है। यहाँ स्त्री की स्वतंत्रता को नियंत्रित करने के लिए परिवार, समाज, संस्कृति और नैतिकता जैसे अनेक तंत्र कार्य करते हैं। बचपन से ही स्त्री के व्यवहार, पहनावे, बोलचाल और गतिशीलता पर निगरानी रखी जाती है। स्त्री-विमर्श ने इन असमानताओं और सामाजिक संरचनाओं पर गंभीर प्रश्न उठाए हैं। रमणिका गुप्ता के अनुसार-

"स्त्री-विमर्श एक मानवीय दृष्टि है, जो प्रतिष्ठा के स्तर पर भी समानता की पक्षधर है।"[3]

स्त्री-विमर्श का उद्देश्य केवल पुरुष-विरोध नहीं है, बल्कि स्त्री को मनुष्य के रूप में समान अधिकार और सम्मान दिलाना है। अनुराधा बेनीवाल का यात्रा-वृत्तांत इसी दृष्टि को आगे बढ़ाता है। वे दिखाती हैं कि भारतीय समाज में स्त्री की स्वतंत्र गतिशीलता आज भी संदेह की दृष्टि से देखी जाती है। स्त्री के लिए 'अच्छी लड़की' बने रहने की शर्तें तय कर दी जाती हैं। यदि वह इन सीमाओं को तोड़ती है, तो समाज उसे स्वीकार नहीं करता।

इसी पुस्तक की भूमिका में अनुराधा बेनीवाल अपने अनुभवों के माध्यम से इस मानसिकता को उजागर करती हैं। वे लिखती हैं-

"मेरे समाज की लड़कियाँ यूँ ही बिना काम नहीं टहलती थीं। लड़की का बाहर जाना बिना किसी काम के अकल्पनीय था।"[4]

यह कथन भारतीय समाज में स्त्री की स्वतंत्र गतिशीलता पर लगे सामाजिक प्रतिबंधों को स्पष्ट करता है। पुरुषों की तुलना में स्त्रियों की स्वतंत्र आवाजाही को आज भी नैतिकता और चरित्र से जोड़कर देखा जाता है। यही कारण है कि अनुराधा बेनीवाल के यहाँ यात्रा केवल घूमना नहीं है, बल्कि सामाजिक नियंत्रण के विरुद्ध एक प्रतिरोध है।

अनुराधा बेनीवाल का स्त्री-विमर्श केवल देह-मुक्ति तक सीमित नहीं है। वे मानसिक और भावनात्मक स्वतंत्रता को भी उतना ही महत्त्व देती हैं। उनके अनुसार स्त्री तब तक पूरी तरह स्वतंत्र नहीं हो सकती, जब तक वह सामाजिक संस्कारों, भय और आरोपित धारणाओं से मुक्त नहीं होती। वे स्वतंत्रता को जीवन जीने की एक अवस्था मानती हैं। यही कारण है कि उनके लेखन में 'बेफिक्र', 'बेकाम', 'बेवजह' और 'बेखौफ' जैसे शब्द बार-बार आते हैं। ये शब्द केवल भाषा का हिस्सा नहीं, बल्कि स्त्री की स्वतंत्र चेतना के प्रतीक हैं।

प्रस्तुत शोध-पत्र में 'आजादी मेरा ब्रांड' के आधार पर अनुराधा बेनीवाल की यात्रा-दृष्टि तथा उसमें उभरते नए स्त्री-विमर्श का अध्ययन किया जाएगा। साथ ही यह समझने का प्रयास किया जाएगा कि यह यात्रा-वृत्तांत समकालीन हिंदी साहित्य में स्त्री-अस्मिता, स्वतंत्रता और प्रतिरोध की चेतना को किस प्रकार अभिव्यक्त करता है।

अनुराधा बेनीवाल की यात्रा-दृष्टि

समकालीन हिंदी यात्रा-साहित्य में अनुराधा बेनीवाल की यात्रा-दृष्टि एक नई चेतना के साथ सामने आती है। उनके यहाँ यात्रा केवल स्थानों को देखने या प्राकृतिक सौंदर्य का वर्णन करने तक सीमित नहीं है। यात्रा उनके लिए स्वतंत्रता, आत्म-अन्वेषण और सामाजिक बंधनों से मुक्ति का माध्यम है। वे यात्रा को स्त्री के आत्मविश्वास, साहस और आत्मनिर्णय से जोड़ती हैं। यही कारण है कि उनका यात्रा-वृत्तांत पारंपरिक यात्रा-साहित्य से अलग दिखाई देता है।

हिंदी यात्रा-साहित्य की पूर्ववर्ती परंपरा में यात्रा प्राय: ज्ञान-विस्तार, सांस्कृतिक अनुभव और जीवन-दर्शन से जुड़ी रही है। राहुल सांकृत्यायन ने घुमक्कड़ी को मनुष्य के विकास से जोड़ा था। किंतु अनुराधा बेनीवाल के यहाँ यात्रा का प्रश्न स्त्री की स्वतंत्रता से जुड़ जाता है। उनके यहाँ यात्रा केवल बाहरी दुनिया की खोज नहीं, बल्कि स्वयं की खोज भी है। वे बार-बार इस बात पर बल देती हैं कि स्त्री को अपनी सीमाओं से बाहर निकलना होगा। भय, संकोच और सामाजिक दबाव से मुक्त होकर ही वह अपने अस्तित्व को पहचान सकती है।

इसी पुस्तक की भूमिका में अनुराधा बेनीवाल लिखती हैं-

"मैं तुम्हारा हाथ पकड़ कर नहीं ले जाऊँगी। तुम खुद ही निकलोगी।"[5]

यह कथन उनकी यात्रा-दृष्टि की मूल चेतना को व्यक्त करता है। यहाँ लेखिका किसी आदर्शवादी उपदेश की बात नहीं करतीं, बल्कि स्त्री के आत्मनिर्णय और आत्मनिर्भरता पर बल देती हैं। उनके अनुसार स्वतंत्रता किसी के द्वारा दी जाने वाली वस्तु नहीं है। इसके लिए स्त्री को स्वयं आगे बढ़ना होगा।

अनुराधा बेनीवाल की यात्रा-दृष्टि में 'बेवजह घूमना' भी एक महत्त्वपूर्ण विचार है। भारतीय समाज में स्त्री के बाहर निकलने को हमेशा किसी उद्देश्य से जोड़ा गया है। बिना कारण घूमना पुरुषों के लिए सामान्य माना जाता है, किंतु स्त्री के लिए यह आज भी संदेह का विषय बन जाता है। लेखिका इसी मानसिकता का विरोध करती हैं। वे लिखती हैं-

"एक अकेली, बेकाम, बेफिक्र, बेखौफ फिरती लड़की में एक अलग-सी ताकत होती है।"[6]

यह कथन स्त्री की स्वतंत्र गतिशीलता को शक्ति के रूप में स्थापित करता है। यहाँ 'बेकाम' और 'बेफिक्र' जैसे शब्द विशेष अर्थ ग्रहण कर लेते हैं। वे उस मानसिक स्वतंत्रता की ओर संकेत करते हैं, जहाँ स्त्री केवल सामाजिक भूमिकाओं तक सीमित नहीं रहती, बल्कि अपने लिए भी जीना सीखती है।

अनुराधा बेनीवाल यात्रा को भय से मुक्ति की प्रक्रिया के रूप में भी देखती हैं। पितृसत्तात्मक समाज स्त्री के भीतर लगातार डर पैदा करता है। यह डर उसके अकेले बाहर निकलने, निर्णय लेने और अपनी इच्छा के अनुसार जीवन जीने से जुड़ा होता है। लेखिका इस भय को तोड़ने का प्रयास करती हैं। वे लिखती हैं-

"ये अनजानी गलियाँख़ जहाँ तुम फिरोगी टेम-बेटेम, बेकाम-बेवजह तुम्हारे अपने घर से ज्यादा सुरक्षित होंगी।"[7]

यह कथन अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। सामान्यत: भारतीय समाज घर को स्त्री के लिए सबसे सुरक्षित स्थान मानता है, किंतु अनुराधा बेनीवाल इस धारणा को उलट देती हैं। वे संकेत करती हैं कि कई बार घर और समाज ही स्त्री की स्वतंत्रता पर सबसे अधिक नियंत्रण रखते हैं। ऐसे में यात्रा उसके लिए एक खुले आकाश का अनुभव बन जाती है।

अनुराधा बेनीवाल की यात्रा-दृष्टि में आत्मविश्वास और आत्मनिर्भरता का विशेष महत्त्व है। वे स्त्री को दूसरों पर निर्भर रहने के बजाय स्वयं पर विश्वास करना सिखाती हैं। वे लिखती हैं-

"तुम्हें खुद पर यकीन रखते हुए, खुद का सहारा बनकर अपने आप के साथ घूमना है।"[8]

यहाँ यात्रा केवल बाहरी अनुभव नहीं, बल्कि आंतरिक विकास की प्रक्रिया बन जाती है। यात्रा स्त्री को आत्मविश्वासी और निर्भीक बनाती है। वह समाज द्वारा बनाए गए भय और सीमाओं से बाहर निकलने लगती है।

अनुराधा बेनीवाल की यात्रा-दृष्टि का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष यह भी है कि वे यात्रा को केवल व्यक्तिगत अनुभव नहीं रहने देतीं। वे यात्रा के माध्यम से समाज, संस्कृति और मानवीय संबंधों को समझने का प्रयास करती हैं। उनके यहाँ यात्रा सामाजिक आलोचना का माध्यम भी बनती है। वे भारतीय समाज की पितृसत्तात्मक मानसिकता पर तीखा प्रहार करते हुए लिखती हैं-

"जो समाज एक लड़की का अकेले सड़क पर चलना बर्दाश्त नहीं कर सकता, वह समाज सड़ चुका है।"[9]

यह कथन केवल आक्रोश नहीं है, बल्कि भारतीय समाज की मानसिकता पर गंभीर टिप्पणी है। यहाँ लेखिका स्त्री की स्वतंत्र गतिशीलता को मनुष्य की मूल स्वतंत्रता के रूप में देखती हैं। यदि समाज स्त्री को स्वतंत्र रूप से चलने का अधिकार नहीं दे सकता, तो वह समाज समानता और आधुनिकता के अपने दावों में खोखला है।

अनुराधा बेनीवाल के यहाँ यात्रा एक प्रकार की मुक्ति-यात्रा बन जाती है। यह मुक्ति केवल सामाजिक बंधनों से नहीं, बल्कि भीतर के भय, अपराधबोध और संकोच से भी जुड़ी है। वे स्त्री को निर्भीक होकर जीवन जीने की प्रेरणा देती हैं। पुस्तक के अंतिम हिस्से में स्त्रियों को संबोधित करते हुए वे जिस तरह "चलने" का आह्वान करती हैं, वह उनके पूरे यात्रा-दर्शन का सार प्रस्तुत करता है। वे लिखती हैं-

"तुम चलना। अपने गाँव में नहीं चल पा रही तो अपने शहर में चलना। अपने शहर में नहीं चल पा रही तो अपने देश में चलना। अपना देश भी मुश्किल करता है चलना तो यह दुनिया भी तेरी ही है, अपनी दुनिया में चलना।"[10]

यह कथन केवल यात्रा का संदेश नहीं देता, बल्कि स्त्री के स्वतंत्र अस्तित्व की घोषणा करता है। यहाँ 'चलना' सामाजिक बंधनों को तोड़कर अपने लिए रास्ता बनाने का प्रतीक बन जाता है। लेखिका स्त्री को सीमित दायरों से बाहर निकलने और अपनी दुनिया स्वयं निर्मित करने की प्रेरणा देती हैं।

अनुराधा बेनीवाल की दृष्टि में स्त्री की स्वतंत्रता केवल बाहर निकलने तक सीमित नहीं है। वे मानसिक निर्भीकता को भी उतना ही आवश्यक मानती हैं। इसी कारण वे आगे लिखती हैं-

"लेकिन तुम चलना। तुम आजाद, बेफिक्र, बेपरवाह, बेकाम, बेहया होकर चलना।"[11]

यहाँ 'बेहया' शब्द विशेष ध्यान आकर्षित करता है। भारतीय समाज स्त्री को नियंत्रित करने के लिए लज्जा, मर्यादा और संस्कार जैसे विचारों का उपयोग करता है। अनुराधा बेनीवाल इन सामाजिक संरचनाओं पर प्रश्न उठाती हैं। उनके अनुसार स्त्री को अपने जीवन का निर्णय स्वयं लेने का अधिकार होना चाहिए, चाहे समाज उसे किसी भी दृष्टि से देखे।

लेखिका स्त्री-स्वतंत्रता को सामूहिक चेतना से भी जोड़ती हैं। वे मानती हैं कि एक स्त्री का साहस आने वाली पीढ़ियों की लड़कियों को भी स्वतंत्र बनाएगा। वे लिखती हैं-

"तुम चलोगी तो तुम्हारी बेटी भी चलेगी, और मेरी बेटी भी। फिर हम सबकी बेटियाँ चलेंगी।"[12]

यह कथन स्त्री-मुक्ति के सामूहिक स्वर को सामने लाता है। यहाँ यात्रा व्यक्तिगत अनुभव नहीं रह जाती, बल्कि सामाजिक परिवर्तन का माध्यम बन जाती है। अनुराधा बेनीवाल समझती हैं कि जब स्त्रियाँ निर्भीक होकर सार्वजनिक जीवन में आएँगी, तभी समाज की मानसिकता बदलेगी।

उनकी यात्रा-दृष्टि का एक और महत्त्वपूर्ण पक्ष आत्मविश्वास है। वे स्त्री को किसी बाहरी सहारे पर निर्भर रहने के बजाय स्वयं पर भरोसा करना सिखाती हैं। वे लिखती हैं-

"तू खुद अपना सहारा है। तुझे किसी सहारे की जरूरत नहीं।"[13]

यह कथन स्त्री को आत्मनिर्भर बनने की प्रेरणा देता है। यात्रा यहाँ आत्मविश्वास अर्जित करने की प्रक्रिया बन जाती है। स्त्री जब अकेले यात्रा करती है, तब वह अपने निर्णय स्वयं लेना सीखती है और सामाजिक भय से धीरे-धीरे मुक्त होने लगती है।

अनुराधा बेनीवाल की यात्रा-दृष्टि केवल बाहरी दुनिया को देखने तक सीमित नहीं है। उनके यहाँ यात्रा आत्म-संवाद और आत्म-अनुभूति का माध्यम भी है। वे स्त्री को अपने दुख, अकेलेपन, सपनों और इच्छाओं के साथ जीवन को समझने की प्रेरणा देती हैं। वे लिखती हैं-

"तुम अपने-आप के साथ घूमना। अपने गम, अपनी खुशियाँ, अपनी तन्हाई- सब साथ लिए-लिए इस दुनिया के नायाब ख़जाने ढूँढ़ना।"[4]

यहाँ यात्रा आत्म-अन्वेषण की प्रक्रिया बन जाती है। स्त्री बाहरी दुनिया के साथ-साथ स्वयं को भी खोजती है। यही कारण है कि अनुराधा बेनीवाल का यात्रा-वृत्तांत केवल यात्रा-वर्णन नहीं रह जाता, बल्कि स्त्री-अस्मिता और स्वतंत्र चेतना का दस्तावेज बन जाता है।

इस प्रकार अनुराधा बेनीवाल की यात्रा-दृष्टि समकालीन हिंदी यात्रा-साहित्य में एक नई दिशा प्रस्तुत करती है। उनके यहाँ यात्रा प्रकृति-वर्णन या पर्यटन का माध्यम नहीं, बल्कि स्त्री-अस्मिता, आत्मविश्वास, स्वतंत्रता और प्रतिरोध की अभिव्यक्ति है। वे यात्रा को स्त्री के लिए सामाजिक और मानसिक मुक्ति का साधन बनाती हैं। यही कारण है कि 'आजादी मेरा ब्रांड' समकालीन हिंदी यात्रा-साहित्य में एक महत्त्वपूर्ण और वैचारिक कृति के रूप में स्थापित होती है।

अनुराधा बेनीवाल की यात्रा-

दृष्टि समकालीन हिंदी यात्रा-साहित्य में अनुराधा बेनीवाल की यात्रा-दृष्टि एक नई चेतना के साथ सामने आती है। उनके यहाँ यात्रा केवल स्थानों को देखने या प्राकृतिक सौंदर्य का वर्णन करने तक सीमित नहीं है। यात्रा उनके लिए स्वतंत्रता, आत्म-अन्वेषण और सामाजिक बंधनों से मुक्ति का माध्यम है। वे यात्रा को स्त्री के आत्मविश्वास, साहस और आत्मनिर्णय से जोड़ती हैं। यही कारण है कि उनका यात्रा-वृत्तांत पारंपरिक यात्रा-साहित्य से अलग दिखाई देता है।

हिंदी यात्रा-साहित्य की पूर्ववर्ती परंपरा में यात्रा प्रायः ज्ञान-विस्तार, सांस्कृतिक अनुभव और जीवन-दर्शन से जुड़ी रही है। राहुल सांकृत्यायन ने घुमक्कड़ी को मनुष्य के विकास से जोड़ा था। किंतु अनुराधा बेनीवाल के यहाँ यात्रा का प्रश्न स्त्री की स्वतंत्रता से जुड़ जाता है। उनके यहाँ यात्रा केवल बाहरी दुनिया की खोज नहीं, बल्कि स्वयं की खोज भी है। वे बार-बार इस बात पर बल देती हैं कि स्त्री को अपनी सीमाओं से बाहर निकलना होगा। भय, संकोच और सामाजिक दबाव से मुक्त होकर ही वह अपने अस्तित्व को पहचान सकती है।

इसी पुस्तक की भूमिका में अनुराधा बेनीवाल लिखती हैं-

"मैं तुम्हारा हाथ पकड़ कर नहीं ले जाऊँगी। तुम खुद ही निकलोगी।"[5]

यह कथन उनकी यात्रा-दृष्टि की मूल चेतना को व्यक्त करता है। यहाँ लेखिका किसी आदर्शवादी उपदेश की बात नहीं करतीं, बल्कि स्त्री के आत्मनिर्णय और आत्मनिर्भरता पर बल देती हैं। उनके अनुसार स्वतंत्रता किसी के द्वारा दी जाने वाली वस्तु नहीं है। इसके लिए स्त्री को स्वयं आगे बढ़ना होगा।

अनुराधा बेनीवाल की यात्रा-दृष्टि में 'बेवजह घूमना' भी एक महत्त्वपूर्ण विचार है। भारतीय समाज में स्त्री के बाहर निकलने को हमेशा किसी उद्देश्य से जोड़ा गया है। बिना कारण घूमना पुरुषों के लिए सामान्य माना जाता है, किंतु स्त्री के लिए यह आज भी संदेह का विषय बन जाता है। लेखिका इसी मानसिकता का विरोध करती हैं। वे लिखती हैं-

"एक अकेली, बेकाम, बेफिक्र, बेखौफ फिरती लड़की में एक अलग-सी ताकत होती है।"[6]

यह कथन स्त्री की स्वतंत्र गतिशीलता को शक्ति के रूप में स्थापित करता है। यहाँ 'बेकाम' और 'बेफिक्र' जैसे शब्द विशेष अर्थ ग्रहण कर लेते हैं। वे उस मानसिक स्वतंत्रता की ओर संकेत करते हैं, जहाँ स्त्री केवल सामाजिक भूमिकाओं तक सीमित नहीं रहती, बल्कि अपने लिए भी जीना सीखती है।

अनुराधा बेनीवाल यात्रा को भय से मुक्ति की प्रक्रिया के रूप में भी देखती हैं। पितृसत्तात्मक समाज स्त्री के भीतर लगातार डर पैदा करता है। यह डर उसके अकेले बाहर निकलने, निर्णय लेने और अपनी इच्छा के अनुसार जीवन जीने से जुड़ा होता है। लेखिका इस भय को तोड़ने का प्रयास करती हैं। वे लिखती हैं-

"ये अनजानी गलियाँ- जहाँ तुम फिरोगी टेम-बेटेम, बेकाम-बेवजह तुम्हारे अपने घर से ज्यादा सुरक्षित होंगी।"[7]

यह कथन अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। सामान्यतः भारतीय समाज घर को स्त्री के लिए सबसे सुरक्षित स्थान मानता है, किंतु अनुराधा बेनीवाल इस धारणा को उलट देती हैं। वे संकेत करती हैं कि कई बार घर और समाज ही स्त्री की स्वतंत्रता पर सबसे अधिक नियंत्रण रखते हैं। ऐसे में यात्रा उसके लिए एक खुले आकाश का अनुभव बन जाती है।

अनुराधा बेनीवाल की यात्रा-दृष्टि में आत्मविश्वास और आत्मनिर्भरता का विशेष महत्त्व है। वे स्त्री को दूसरों पर निर्भर रहने के बजाय स्वयं पर विश्वास करना सिखाती हैं। वे लिखती हैं-

*"तुम्हें खुद पर यकीन रखते हुए, खुद का सहारा बनकर अपने आप के साथ घूमना है।"*8

यहाँ यात्रा केवल बाहरी अनुभव नहीं, बल्कि आंतरिक विकास की प्रक्रिया बन जाती है। यात्रा स्त्री को आत्मविश्वासी और निर्भीक बनाती है। वह समाज द्वारा बनाए गए भय और सीमाओं से बाहर निकलने लगती है।

अनुराधा बेनीवाल की यात्रा-दृष्टि का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष यह भी है कि वे यात्रा को केवल व्यक्तिगत अनुभव नहीं रहने देतीं। वे यात्रा के माध्यम से समाज, संस्कृति और मानवीय संबंधों को समझने का प्रयास करती हैं। उनके यहाँ यात्रा सामाजिक आलोचना का माध्यम भी बनती है। वे भारतीय समाज की पितृसत्तात्मक मानसिकता पर तीखा प्रहार करते हुए लिखती हैं-

"जो समाज एक लड़की का अकेले सड़क पर चलना बर्दाश्त नहीं कर सकता, वह समाज सड़ चुका है।"[9]

यह कथन केवल आक्रोश नहीं है, बल्कि भारतीय समाज की मानसिकता पर गंभीर टिप्पणी है। यहाँ लेखिका स्त्री की स्वतंत्र गतिशीलता को मनुष्य की मूल स्वतंत्रता के रूप में देखती हैं। यदि समाज स्त्री को स्वतंत्र रूप से चलने का अधिकार नहीं दे सकता, तो वह समाज समानता और आधुनिकता के अपने दावों में खोखला है।

अनुराधा बेनीवाल के यहाँ यात्रा एक प्रकार की मुक्ति-यात्रा बन जाती है। यह मुक्ति केवल सामाजिक बंधनों से नहीं, बल्कि भीतर के भय, अपराधबोध और संकोच से भी जुड़ी है। वे स्त्री को निर्भीक होकर जीवन जीने की प्रेरणा देती हैं। पुस्तक के अंतिम हिस्से में स्त्रियों को संबोधित करते हुए वे जिस तरह "चलने" का आह्वान करती हैं, वह उनके पूरे यात्रा-दर्शन का सार प्रस्तुत करता है। वे लिखती हैं-

"तुम चलना। अपने गाँव में नहीं चल पा रही तो अपने शहर में चलना। अपने शहर में नहीं चल पा रही तो अपने देश में चलना। अपना देश भी मुश्किल करता है चलना तो यह दुनिया भी तेरी ही है, अपनी दुनिया में चलना।"[10]

यह कथन केवल यात्रा का संदेश नहीं देता, बल्कि स्त्री के स्वतंत्र अस्तित्व की घोषणा करता है। यहाँ 'चलना' सामाजिक बंधनों को तोड़कर अपने लिए रास्ता बनाने का प्रतीक बन जाता है। लेखिका स्त्री को सीमित दायरों से बाहर निकलने और अपनी दुनिया स्वयं निर्मित करने की प्रेरणा देती हैं।

अनुराधा बेनीवाल की दृष्टि में स्त्री की स्वतंत्रता केवल बाहर निकलने तक सीमित नहीं है। वे मानसिक निर्भीकता को भी उतना ही आवश्यक मानती हैं। इसी कारण वे आगे लिखती हैं-

"लेकिन तुम चलना। तुम आजाद, बेफिक्र, बेपरवाह, बेकाम, बेहया होकर चलना।"[11]

यहाँ 'बेहया' शब्द विशेष ध्यान आकर्षित करता है। भारतीय समाज स्त्री को नियंत्रित करने के लिए लज्जा, मर्यादा और संस्कार जैसे विचारों का उपयोग करता है। अनुराधा बेनीवाल इन सामाजिक संरचनाओं पर प्रश्न उठाती हैं। उनके अनुसार स्त्री को अपने जीवन का निर्णय स्वयं लेने का अधिकार होना चाहिए, चाहे समाज उसे किसी भी दृष्टि से देखे।

लेखिका स्त्री-स्वतंत्रता को सामूहिक चेतना से भी जोड़ती हैं। वे मानती हैं कि एक स्त्री का साहस आने वाली पीढ़ियों की लड़कियों को भी स्वतंत्र बनाएगा। वे लिखती हैंख्र

"तुम चलोगी तो तुम्हारी बेटी भी चलेगी, और मेरी बेटी भी। फिर हम सबकी बेटियाँ चलेंगी।"[12]

यह कथन स्त्री-मुक्ति के सामूहिक स्वर को सामने लाता है। यहाँ यात्रा व्यक्तिगत अनुभव नहीं रह जाती, बल्कि सामाजिक परिवर्तन का माध्यम बन जाती है। अनुराधा बेनीवाल समझती हैं कि जब स्त्रियाँ निर्भीक होकर सार्वजनिक जीवन में आएँगी, तभी समाज की मानसिकता बदलेगी।

उनकी यात्रा-दृष्टि का एक और महत्त्वपूर्ण पक्ष आत्मविश्वास है। वे स्त्री को किसी बाहरी सहारे पर निर्भर रहने के बजाय स्वयं पर भरोसा करना सिखाती हैं। वे लिखती हैंख्र

"तू खुद अपना सहारा है। तुझे किसी सहारे की जरूरत नहीं।"[13]

यह कथन स्त्री को आत्मनिर्भर बनने की प्रेरणा देता है। यात्रा यहाँ आत्मविश्वास अर्जित करने की प्रक्रिया बन जाती है। स्त्री जब अकेले यात्रा करती है, तब वह अपने निर्णय स्वयं लेना सीखती है और सामाजिक भय से धीरे-धीरे मुक्त होने लगती है।

अनुराधा बेनीवाल की यात्रा-दृष्टि केवल बाहरी दुनिया को देखने तक सीमित नहीं है। उनके यहाँ यात्रा आत्म-संवाद और आत्म-अनुभूति का माध्यम भी है। वे स्त्री को अपने दुख, अकेलेपन, सपनों और इच्छाओं के साथ जीवन को समझने की प्रेरणा देती हैं। वे लिखती हैं-

"तुम अपने-आप के साथ घूमना। अपने गम, अपनी खुशियाँ, अपनी तन्हाईख्र सब साथ लिए-लिए इस दुनिया के नायाब ख़जाने ढूँढ़ना।"[14]

यहाँ यात्रा आत्म-अन्वेषण की प्रक्रिया बन जाती है। स्त्री बाहरी दुनिया के साथ-साथ स्वयं को भी खोजती है। यही कारण है कि अनुराधा बेनीवाल का यात्रा-वृत्तांत केवल यात्रा-वर्णन नहीं रह जाता, बल्कि स्त्री-अस्मिता और स्वतंत्र चेतना का दस्तावेज बन जाता है।

इस प्रकार अनुराधा बेनीवाल की यात्रा-दृष्टि समकालीन हिंदी यात्रा-साहित्य में एक नई दिशा प्रस्तुत करती है। उनके यहाँ यात्रा प्रकृति-वर्णन या पर्यटन का माध्यम नहीं, बल्कि स्त्री-अस्मिता, आत्मविश्वास, स्वतंत्रता और प्रतिरोध की अभिव्यक्ति है। वे यात्रा को स्त्री के लिए सामाजिक और मानसिक मुक्ति का साधन बनाती हैं। यही कारण है कि 'आजादी मेरा ब्रांड' समकालीन हिंदी यात्रा-साहित्य में एक महत्त्वपूर्ण और वैचारिक कृति के रूप में स्थापित होती है।

अनुराधा बेनीवाल के यात्रा-वृत्तांत में उभरता स्त्री-विमर्श:

समकालीन हिंदी साहित्य में स्त्री-विमर्श ने स्त्री के अस्तित्व, स्वतंत्रता और अस्मिता से जुड़े प्रश्नों को केंद्र में स्थापित किया है। यह विमर्श केवल स्त्री की सामाजिक स्थिति का वर्णन नहीं करता, बल्कि उन सामाजिक संरचनाओं की भी आलोचना करता है जो स्त्री को नियंत्रित और सीमित करती हैं। हिंदी साहित्य में स्त्री-विमर्श का स्वर समय के साथ अधिक व्यापक हुआ है। प्रारंभिक स्त्री-विमर्श जहाँ शिक्षा, समान अधिकार और सामाजिक न्याय के प्रश्नों तक सीमित था, वहीं समकालीन स्त्री-विमर्श स्त्री की मानसिक, भावनात्मक और वैचारिक स्वतंत्रता पर भी बल देता है। अनुराधा बेनीवाल का यात्रा-वृत्तांत 'आजादी मेरा ब्रांड' इसी आधुनिक स्त्री-विमर्श की एक सशक्त अभिव्यक्ति है।

अनुराधा बेनीवाल का स्त्री-विमर्श किसी सैद्धांतिक आग्रह से निर्मित नहीं लगता। वह जीवनानुभवों, सामाजिक यथार्थ और व्यक्तिगत संघर्षों से विकसित होता है। यही कारण है कि उनका लेखन अधिक सहज और विश्वसनीय प्रतीत होता है। वे स्त्री के जीवन में मौजूद उन सूक्ष्म सामाजिक दबावों को सामने

लाती हैं, जो सामान्य दिखाई देते हुए भी स्त्री की स्वतंत्रता को सीमित करते हैं। भारतीय समाज में लड़कियों के पालन-पोषण से लेकर उनके व्यवहार तक सब कुछ नियंत्रित किया जाता है। बचपन से ही उन्हें मर्यादा, लज्जा और संस्कार के नाम पर सीमाओं में रहने की शिक्षा दी जाती है।

इसी मानसिकता की ओर संकेत करते हुए अनुराधा बेनीवाल लिखती हैं-

"मेरे तो घर का कॉन्ट्रैक्ट भी 'अच्छी लड़की' बने रहने से ही रिन्यू होता था।"[5]

यह कथन भारतीय समाज में 'अच्छी लड़की' की अवधारणा पर तीखा व्यंग्य करता है। यहाँ स्त्री की स्वीकृति उसके व्यक्तित्व या स्वतंत्र सोच से नहीं, बल्कि सामाजिक मानदंडों के पालन से तय होती है। यदि वह इन सीमाओं से बाहर जाती है, तो परिवार और समाज दोनों उसे अस्वीकार करने लगते हैं।

अनुराधा बेनीवाल यह भी दिखाती हैं कि स्त्री के भीतर अपराधबोध किस प्रकार पैदा किया जाता है। किशोरावस्था में होने वाले शारीरिक और मानसिक परिवर्तनों को भी समाज सहज रूप से स्वीकार नहीं करता। लड़कियों को अपनी इच्छाओं और भावनाओं को दबाने की शिक्षा दी जाती है। इसी संदर्भ में वे लिखती हैं-

"मेरे मन में यकीन जैसा एक विचार उभरने लगा कि मेरे साथ कुछ 'गलत' हुआ है।"[6]

यह कथन स्त्री के भीतर पैदा किए गए मानसिक भय और अपराधबोध को उजागर करता है। समाज स्त्री को इस प्रकार प्रशिक्षित करता है कि वह अपनी स्वाभाविक इच्छाओं को भी गलत मानने लगती है। अनुराधा बेनीवाल इस मानसिक संरचना को पहचानती हैं और उस पर प्रश्न उठाती हैं।

उनके स्त्री-विमर्श का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष यह है कि वे 'सही' और 'गलत' की सामाजिक अवधारणाओं को चुनौती देती हैं। वे मानती हैं कि समाज द्वारा निर्मित नैतिकताएँ हमेशा न्यायपूर्ण नहीं होतीं। इसी कारण वे लिखती हैंख्

"गलत क्या और सही क्या- यह भी हम अपने अनुभव से कहाँ समझ पाते हैं!"[7]

यह कथन स्त्री-विमर्श के वैचारिक पक्ष को सामने लाता है। यहाँ लेखिका स्त्री को अपने अनुभवों और विवेक के आधार पर जीवन को समझने की प्रेरणा देती हैं। वे अंधानुकरण के बजाय आत्मचिंतन और आत्मनिर्णय पर बल देती हैं।

अनुराधा बेनीवाल का स्त्री-विमर्श केवल सामाजिक बंधनों की आलोचना तक सीमित नहीं है। वे स्त्री की मानसिक स्वतंत्रता को भी अत्यंत आवश्यक मानती हैं। उनके अनुसार स्त्री तब तक पूर्ण रूप से स्वतंत्र नहीं हो सकती, जब तक वह समाज द्वारा आरोपित भय और धारणाओं से मुक्त नहीं होती। वे लिखती हैंख्

"देह की आजादी को पाना आसान है... लेकिन उसको पूरी आजादी अच्छे-बुरे की संस्कारगत सोच टूटने से मिली।"[8]

यहाँ लेखिका स्पष्ट करती हैं कि वास्तविक स्वतंत्रता केवल बाहरी नियंत्रणों से मुक्त होने में नहीं, बल्कि भीतर की जड़ मानसिकताओं से बाहर आने में है। स्त्री को सामाजिक निर्णयों और लांछनों के भय से मुक्त होना होगा।

अनुराधा बेनीवाल स्त्री की भावनात्मक स्वतंत्रता पर भी विशेष बल देती हैं। भारतीय समाज में स्त्री की पहचान प्रायः दूसरों से जुड़ी हुई मानी जाती है। उसकी खुशी, दुख और अस्तित्व भी संबंधों के माध्यम से परिभाषित किए जाते हैं। लेखिका इस निर्भरता को तोड़ने की बात करती हैं। वे लिखती हैं-

"मेरे दुख मेरे हों, मेरे आँसू मेरे। मेरा सुख मेरा हो, मेरी हँसी मेरी।"[9]

यह कथन स्त्री के आत्म-अस्तित्व और भावनात्मक स्वायत्तता की ओर संकेत करता है। यहाँ लेखिका स्त्री को अपनी भावनाओं और जीवन पर स्वयं अधिकार करने की प्रेरणा देती हैं।

अनुराधा बेनीवाल के स्त्री-विमर्श में सिनेमा, परिवार और समाज जैसी संस्थाओं की भी आलोचना मिलती है। वे दिखाती हैं कि किस प्रकार बचपन से लड़कियों के सामने आदर्श स्त्री की छवि निर्मित की जाती है। त्याग, समर्पण और चुप्पी को स्त्री का गुण माना जाता है। इसी कारण अनेक स्त्रियाँ अपनी इच्छाओं और सपनों को दबाकर जीवन जीने लगती हैं। अनुराधा बेनीवाल इस परंपरागत छवि को अस्वीकार करती हैं। वे स्त्री को स्वतंत्र व्यक्तित्व के रूप में स्थापित करना चाहती हैं।

उनके स्त्री-विमर्श का एक और महत्त्वपूर्ण पक्ष यह है कि वे स्त्री को दया की पात्र नहीं बनातीं। वे उसे संघर्षशील, निर्णयक्षम और साहसी रूप में प्रस्तुत करती हैं। उनके यहाँ स्त्री किसी उद्धार की प्रतीक्षा नहीं करती, बल्कि स्वयं अपने लिए रास्ता बनाती है। यही कारण है कि उनका स्त्री-विमर्श अधिक सक्रिय और जीवनधर्मी दिखाई देता है।

अनुराधा बेनीवाल की दृष्टि में स्वतंत्रता केवल सामाजिक अधिकार नहीं, बल्कि मानसिक स्थिति भी है। वे मानती हैं कि जब तक स्त्री स्वयं को भय, अपराधबोध और सामाजिक दबाव से मुक्त नहीं करेगी, तब तक वास्तविक स्वतंत्रता संभव नहीं है। इसलिए उनका स्त्री-विमर्श केवल विरोध का स्वर नहीं, बल्कि आत्मविश्वास और आत्मनिर्णय का स्वर भी है।

इस प्रकार 'आजादी मेरा ब्रांड' में उभरता स्त्री-विमर्श समकालीन हिंदी साहित्य में एक नई दिशा प्रस्तुत करता है। अनुराधा बेनीवाल स्त्री को पारंपरिक सीमाओं से बाहर निकालकर स्वतंत्र मनुष्य के रूप में स्थापित करती हैं। उनका लेखन स्त्री की वैचारिक, मानसिक और भावनात्मक मुक्ति का समर्थन करता है। यही कारण है कि उनका यात्रा-वृत्तांत समकालीन स्त्री-विमर्श की एक महत्त्वपूर्ण कृति के रूप में देखा जा सकता है।

निष्कर्ष

समकालीन हिंदी यात्रा-साहित्य में अनुराधा बेनीवाल का लेखन एक नई वैचारिक चेतना के साथ सामने आता है। उनके यात्रा-वृत्तांतों में यात्रा केवल भौगोलिक सीमाओं को पार करने की प्रक्रिया नहीं है, बल्कि आत्म-अन्वेषण, स्वतंत्रता और सामाजिक बंधनों से मुक्ति का माध्यम बन जाती है। वे यात्रा को स्त्री के आत्मविश्वास, साहस और आत्मनिर्णय से जोड़ती हैं। यही कारण है कि उनकी यात्रा-दृष्टि पारंपरिक यात्रा-वर्णनों से भिन्न दिखाई देती है।

अनुराधा बेनीवाल के यात्रा-वृत्तांतों में स्त्री केवल दर्शक या सहयात्री नहीं है, बल्कि सक्रिय अनुभवकर्ता के रूप में उपस्थित होती है। वह समाज द्वारा निर्मित सीमाओं, भय और नैतिक दबावों पर प्रश्न उठाती है। उनके लेखन में बार-बार यह बात उभरकर सामने आती है कि भारतीय समाज स्त्री की स्वतंत्र गतिशीलता को सहज रूप में स्वीकार नहीं करता। स्त्री के अकेले चलने, घूमने और निर्णय लेने को आज भी संदेह और नैतिकता से जोड़कर देखा जाता है। अनुराधा बेनीवाल इसी मानसिकता का प्रतिरोध करती हैं।

उनकी यात्रा-दृष्टि का सबसे महत्त्वपूर्ण पक्ष यह है कि वे यात्रा को स्त्री-मुक्ति से जोड़ती हैं। उनके यहाँ यात्रा केवल बाहरी दुनिया को देखने का माध्यम नहीं, बल्कि भीतर की जड़ मानसिकताओं और भय से बाहर निकलने की प्रक्रिया भी है। वे स्त्री को आत्मनिर्भर, निर्भीक और आत्मविश्वासी बनने की प्रेरणा देती हैं। उनके लेखन में 'चलना', 'घूमना', 'बेफिक्र होना' और 'अपने लिए जीना' जैसे विचार स्त्री-अस्मिता के प्रतीक बन जाते हैं।

अनुराधा बेनीवाल का स्त्री-विमर्श केवल देह-मुक्ति तक सीमित नहीं है। वे मानसिक, भावनात्मक और वैचारिक स्वतंत्रता को भी उतना ही आवश्यक मानती हैं। उनके अनुसार वास्तविक स्वतंत्रता तभी संभव है, जब स्त्री सामाजिक संस्कारों, अपराधबोध और भय से मुक्त होकर अपने अनुभवों और इच्छाओं के आधार पर जीवन को जी सके। इस दृष्टि से उनका लेखन समकालीन स्त्री-विमर्श को अधिक व्यापक और मानवीय स्वर प्रदान करता है।

उनके यात्रा-वृत्तांतों में स्त्री की स्वतंत्रता किसी सैद्धांतिक नारे के रूप में नहीं आती, बल्कि जीवनानुभवों से विकसित होती है। यही कारण है कि उनका लेखन अधिक विश्वसनीय और प्रभावशाली प्रतीत होता है। वे स्त्री को दया या सहानुभूति की वस्तु नहीं बनातीं, बल्कि संघर्षशील, निर्णयक्षम और स्वतंत्र व्यक्तित्व के रूप में प्रस्तुत करती हैं। उनके यहाँ स्त्री स्वयं अपने लिए रास्ता बनाती है और अपने जीवन का अर्थ खोजती है।

अनुराधा बेनीवाल की यात्रा-दृष्टि समकालीन हिंदी यात्रा-साहित्य को नई दिशा प्रदान करती है। उन्होंने यात्रा-वृत्तांत को केवल प्रकृति-वर्णन या पर्यटन तक सीमित नहीं रहने दिया, बल्कि उसे

स्त्री-अस्मिता, सामाजिक प्रतिरोध और स्वतंत्र चेतना से जोड़ दिया। यही कारण है कि उनके यात्रा-वृत्तांत समकालीन हिंदी साहित्य में स्त्री-स्वतंत्रता और नई स्त्री-चेतना के सशक्त दस्तावेज के रूप में स्थापित होते हैं।

संदर्भ

1. नामवर सिंह, अनुराधा बेनीवाल, आजादी मेरा ब्रांड, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2016, फ्लैप पृष्ठ
2. स्वानंद किरकिरे, "नए जमाने की भारतीय फकीरन", भूमिका, अनुराधा बेनीवाल, आजादी मेरा ब्रांड, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2016, पृ. प०ख०प
3. अनुराधा बेनीवाल, भूमिका, आजादी मेरा ब्रांड, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2016, पृ. ०पपपख०अप
4. रमणिका गुप्ता, स्त्री-मुक्ति : संघर्ष और इतिहास, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, 2014, पृ. 70
5. अनुराधा बेनीवाल, "बस, यों हीङ्ख", भूमिका, आजादी मेरा ब्रांड, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2016, पृ. ०पपप
6. अनुराधा बेनीवाल, आजादी मेरा ब्रांड, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2016, पृ. ०पअ
7. अनुराधा बेनीवाल, आजादी मेरा ब्रांड, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2016, पृ. ०पपप
8. अनुराधा बेनीवाल, आजादी मेरा ब्रांड, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2016, पृ. 27
9. अनुराधा बेनीवाल, आजादी मेरा ब्रांड, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2016, पृ. 186
10. अनुराधा बेनीवाल, आजादी मेरा ब्रांड, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2016, पृ. 188
11. अनुराधा बेनीवाल, आजादी मेरा ब्रांड, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2016, पृ. 188
12. अनुराधा बेनीवाल, आजादी मेरा ब्रांड, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2016, पृ. 189
13. अनुराधा बेनीवाल, आजादी मेरा ब्रांड, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2016, पृ. 189
14. अनुराधा बेनीवाल, आजादी मेरा ब्रांड, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2016, पृ. 189
15. अनुराधा बेनीवाल, आजादी मेरा ब्रांड, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2016, पृ. 1
16. अनुराधा बेनीवाल, आजादी मेरा ब्रांड, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2016, पृ. 11
17. अनुराधा बेनीवाल, आजादी मेरा ब्रांड, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2016, पृ. 14
18. अनुराधा बेनीवाल, आजादी मेरा ब्रांड, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2016, पृ. 10
19. अनुराधा बेनीवाल, आजादी मेरा ब्रांड, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2016, पृ. 12-13